# संस्कृत काव्यशास्त्र को मम्मट व उनके प्रमुख टीकाकारों का योगदान

# Contributions of Mammata and his prominent Commentators to Sanskrit Poetics

A THESIS SUBMITTED FOR THE DEGREE OF
DOCTOR OF LETTERS
OF
THE UNIVERSITY OF ALLAHABAD

By
**Dr. Onkar Nath Verma**
M, A., D. Phil., Sahityacharya,
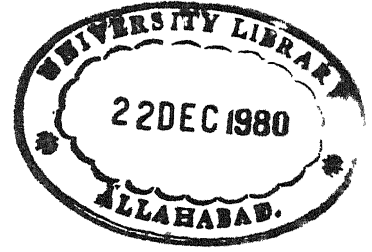
**Adviser :**
Dr Chandika Prasad Shukla
M.A., D.Phil, D.Litt, Sahityacharya.
**Reader Sanskrit Deptt.**
University of Allahabad.

1975-76

# निवेदन

काव्यप्रकाश वह अगाध सागर है, जिसमें परम्परागत नाविक मनीषी गोते लगाते आये हैं। कुछ मोती बटोर लाये तो कुछ सीपियाँ ही! किसको क्या मिला, यही यहाँ विवेच्य है। मम्मट सर्वतोमुखी प्रतिभा से विभूषित आचार्य थे, जिनकी गति साहित्यशास्त्र, दर्शन तथा व्याकरणादि में समान रूप से थी। इन सब का असर के अनुसार काव्यप्रकाश पर प्रभूत प्रभाव पड़ा है। फलस्वरूप ग्रन्थ यत्र-तत्र दुर्बोध कठिन भी हो गया है। यही कारण है कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं और प्राय: सभी टीकाकारों ने अपने ढंग से कुछ न कुछ नवीन योगदान काव्यशास्त्र को प्रदान किया। इन टीकाकारों के योगदान का अन्वेषण, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का प्रधान लक्ष्य है।

आचार्य मम्मट की शैली समन्वयात्मक है। स्वयं तो वे ध्वनिसम्प्रदाय की पंक्ति में अविचल खड़े हैं, किन्तु अलंकारशास्त्र के अन्य सम्प्रदायों का भी वे आदर करते हैं। जहाँ से भी उन्हें अमूल्य वस्तु प्राप्त होती है, उसे ग्रहण करने में उन्हें लेशमात्र भी संकोच नहीं। सभी सम्प्रदायों के सार को संगृहीत कर नवीन ढाँचे में वे उन्हें कैसे समन्वित करते हैं, इसकी गवेषणा शोध-प्रबन्ध का अनिवार्य अंग है। वस्तुत: यही ग्रन्थकार तथा उनके टीकाकारों का योगदान है। शोधकर्ता कहाँ तक मम्मट के योगदान को पकड़ने में सफल हो सका है, इसका मूल्यांकन काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ-मनीषियों पर है।

आशा है दस वर्षों का प्रयत्न काव्यशास्त्र में एकाध मोती और जोड़ सकेगा।

(ओंकारनाथ वर्मा)

विवेककार श्रीधर का मत ८६ । बोधव्य वैशिष्ट्य में वाच्यार्थ की व्यंग्यार्थ प्रत्यायकता ९० । आर्थी-व्यंजना में शब्द की सहकारिता ९२ । मम्मट का आधार ९३ ।

---

## द्वितीय - अध्याय:-

---

तृतीय-अध्याय-

चतुर्थ - अध्याय ::-



पंचम-अध्याय



-----
---
-

परिशिष्ट: :-



-----
---
-

**आचार्य मम्मट :-** पुरातनों के अमर उपासक आचार्य मम्मट का आविर्भाव एक ऐसे युग में हुआ, जब कि काव्यशास्त्र के प्रत्येक अवयव अपने विकास के चरम सोपान पर समारूढ़ हो चुके थे। एक ओर अलंकार, काव्य का शाश्वत-सर्वस्व स्वीकार किया जा चुका था तो दूसरी ओर रीति, वृत्ति तथा वक्रोक्ति इत्यादि सिद्धान्त भी काव्य में अपना सम्प्रभुता प्रतिष्ठापित कर चुके थे। रस एवं ध्वनि तत्त्व भी अपने भेदोपभेद के साथ प्रस्फुटित हो चुके थे। उल्लेखनीय है कि काव्यशास्त्र के उक्त सभी सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने सिद्धान्त को सर्वोपरि मानने में अहमहमिका का परिचय दे रहे थे। युग सर्वथा इन सिद्धान्तों में परस्पर तालमेल किंवा समन्वय की अपेक्षा कर रहा था। इसी समय काश्मीर के अंचल में वाग्देवतावतार का उदय हुआ जिसने आचार्य मम्मट के नाम से विख्यात होकर काव्यशास्त्र के बिखरे मोतियों को संजोकर एक चिरन्तन मौक्तिकहार का निर्माण किया जो काव्यप्रकाश के नाम से अक्षय सरस्वती के कण्ठ में विराजमान है। यह सत्य है कि आचार्य मम्मट ने प्राचीन भामह, वामन कुन्तक तथा आनन्दवर्धन इत्यादि के समान किसी नवीन वाद का आविष्करण नहीं किया और इसीलिये इन्हें उक्त सिद्धान्तप्रवर्तक आचार्यों की शृंखला में कदापि नहीं रखा जा सकता, तथापि मम्मट ने जो भी योगदान अलंकारशास्त्र को दिया है वह सर्वथा अभूतपूर्व है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि इस महामहिम आचार्य के जीवनवृत्त के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। आचार्य मम्मट ने अपने विषय में कुछ नहीं कहा है अतः एव प्रामाणिक सामग्री के अभाव में हम जनश्रुति का आश्रय लेकर मौन हो जाते हैं। काव्यप्रकाश के कतिपय टीकाकारों ने भी उनके विषय में जो लिखा है वह भी गतानुगतिक है। तद्विषयक कुछ टीकाकारों के मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

निदर्शी टीका के अनुसार आचार्य मम्मट का जन्म-स्थान काश्मीर प्रदेश था। यह शैवागमानुयायी ब्राह्मण थे। काश्मीरिक किंवदन्ती में मान्य छत्तीस तत्त्वों की दीक्षा इन्हें प्राप्त थी।[1] मम्मट का काश्मीर जनपद

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) "शैवः शिवागमप्रसिद्ध्या षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षापरिक्षालितकल्मषपटलः प्रकटितरसस्वरूप-चिदानन्दघनः राजानककुलजो मम्मटनामा देशिकवरः ॥

(बालबोधिनी - पृष्ठ- ६ से उद्धृत)

में होना अन्य तर्कों से भी पुष्ट होता है। काश्मीर में ही कैयट, कैयट, वज्रट, उव्वट, कल्लट इत्यादि प्रकार के नाम प्राप्त होते हैं। मम्मट नाम भी इन्हीं नामों के सदृश है। अतएव आचार्य मम्मट का काश्मीर जनपद में होना सिद्ध होता है। वामनाचार्य झलकीकर ने इस मत को प्रस्तुत किया है।[1] काव्यप्रकाश के हिन्दी व्याख्याकारों ने एक स्वर से इसका समर्थन भी किया है। किन्तु यदि इस तर्क को समाधान का आधार लें तो यह व्याप्ति हृदयस्पर्शी नहीं हो पाता। कारण यह कि नाम को हम किसी स्थान-विशेष अथवा देश-विशेष की सीमा में नहीं बांध सकते हैं। प्रसिद्ध स्थलों पर आकर नाम तो देश-काल के बन्धन को तोड़कर प्रचार व प्रसार प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं। 'छ्रा' किसी नायिका का नाम प्राय: बंगदेश में प्रचलित है। किन्तु वर्तमान युग में यह नाम उत्तर प्रदेश, राजस्थान इत्यादि में भी सुनने को मिलता है। पुनश्च, कैयट, कैयट इत्यादि नाम तो सम्पूर्ण देश में अपने यश के माध्यम से व्याप्त हो गये हैं। फिर कहीं का कोई विद्वान् अपने नाम को यशस्वी नामों की शृंखला में रख ले तो आश्चर्य किस बात का। अत: नाम सादृश्य के आधार पर मम्मट को काश्मीरी मानना समीचीन नहीं है।

अनेक टीकाकारों ने मम्मट के "किं च कुरु इत्यादि इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्गतिर्भिन्ना अस्य दुष्टत्वम्" इत्यादि कथन के आधार पर तथा -

"वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टित:।

अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु।(काव्यप्रकाश उदाहरण संख्या २१३),

इत्यादि के आधार पर उन्हें काश्मीरी सिद्ध किया है। इन उदाहरणों में चिंकु शब्द का अर्थ है भगनासा (योन्यन्तर्गत अंकुर)। मम्मट का अभिप्राय यहाँ पर केवल इतना है कि काव्य में 'चिंकु' इत्यादि पदों का प्रयोग उचित नहीं है। काव्यप्रकाश के टीकाकार सरस्वतीतीर्थ के अनुसार चिंकु पद लाटभाषा में योन्यन्तर्वर्ती

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) मम्मट: कं जनपदं जन्मनालंकृतवानिति निर्णेतुमशक्यं[illegible] 'काश्मीरान् जनपदान्' इति निश्चिनुम: यतस्य मम्मटेति नाम देशान्तराश्रुतनाम्नाम् कैयट कैयटवज्रटोव्वट कल्लट उद्भटरुद्रटमम्मटकल्लटभल्लट उदोल्लट अल्लट इत्यादि नाम्ना साद्रश्यमनुभवति"।
"बालबोधिनीटीका- पृ० ६।

आरम्भ में मम्मट विघ्नों के विनाश के लिए अलौकिक इष्टदेवता का स्मरण करते हुए लिखते हैं —

"नियतिकृत-नियम-रहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥"

इसमें "नियति" पद के प्रयोग से मम्मट को काश्मीरी तथा शैवमतानुयायी अनेक व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है । शशिकला नामक काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या की कुछ पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं - "किन्तु आचार्य मम्मट के काश्मीरिक होने और काश्मीरिक शैव दार्शनिकों की विचारधारा से पूर्णतया परिचित रहने के कारण, ऐसा स्वभावतः प्रतीत होता है कि यहाँ "नियति" शब्द काश्मीर के शैव दर्शन के पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । "नियति" काश्मीर शैव दर्शन के 36 तत्त्वों में से एक तत्त्व है । "शिव" तत्त्व से लेकर "धरातत्त्व" तक जो छत्तीस तत्त्व हैं उनमें "नियति" तत्त्व की भी गणना है । - - - - - - - ।

"नियति" पद के प्रयोग से मम्मट को काश्मीरी तथा शैव मानने वालों में काव्यप्रकाश के प्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र हैं । उन्होंने भी काश्मीरी शैव दर्शन काश्मीरी शैव दर्शन के 36 तत्त्वों के अन्तर्गत निरूपित "नियति" की ओर संकेत किया है ।[1]

आश्चर्य है कि अनेक व्याख्याकारों ने "नियति" पद का अर्थ "दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः" इत्यादि अमरकोश के आधार पर विधि (विधाता) कर लिया है । इसे मानने पर "नियति" पद का फिर शैवदर्शन से कोई विशेष तालमेल नहीं बैठता ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) नियतिः शैवदर्शनोक्ता निजनिजकर्मफलभोगादिव्यवस्था नियामिका, शैवदर्शनप्रसिद्धम् । पंचभूत पंचकर्मेन्द्रिय पंचज्ञानेन्द्रिय पंचविषयतन्मात्रादि शिवतत्त्वपर्यन्तं शैवशास्त्रोक्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वमध्यगतम् तत्त्वान्तरम् ।
— काव्यप्रकाश संकेत पृष्ठ २ (आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली)

उक्त विवेचन के आधार पर हमें जो निष्कर्ष प्राप्त होता है उसके अनुसार मम्मट (१) काश्मीर-निवासी जैयट के पुत्र थे। (२) शैवमतानुयायी थे। (३) इन्होंने काशी में जाकर शास्त्रों का अध्ययन किया। (४) ये व्याकरण, साहित्य, न्यायमीमांसादि शास्त्रों के निष्णात पंडित थे। (५) और विभिन्न शास्त्रों को समन्वय की दृष्टि से देखना इनकी अपनी शैली थी। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि उक्त तथ्यों की सिद्धि के लिए प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। अतएव हमें चाहे जितने भी विकल्प क्यों न हों हमें इन्हीं का आधार करना पड़ता है।

आचार्य मम्मट का समय अधिक विवाद का विषय नहीं है। यद्यपि मम्मट ने स्वयं अपने समय के विषय में कहीं कोई संकेत नहीं किया है, फिर भी उनके ग्रन्थ के आधार पर समालोचक स्थूल रूप से प्रामाणिक समय प्राप्त करने में सफल हो चुके हैं। काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त तथा नवसाहसांकचरित का उल्लेख है। अभिनव गुप्त का समय १०१५ तथा नवसाहसांकचरित का समय १००५ प्रायः निश्चित किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त मम्मट ने उदात्त अलंकार के उदाहरण में "यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्" उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट के समय में भोज की कीर्ति भलीभाँति फैल चुकी थी। भोज का शासनकाल १०५४ के पूर्व रहा है। यदि किसी प्रकार मम्मट को भोज का समकालीन भी मान लिया जाय तो भी भोज के उपरान्त शासनकाल में ही मम्मट हो सकते हैं। अतएव १०५० ई० के पूर्व मम्मट को किसी मान्यता में नहीं माना जा सकता।

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन लगभग ११४३ ई० सन् में लिखा गया था। उसमें काव्यप्रकाश का उल्लेख है। ११५९-६० ई० सन् में माणिक्यचन्द्र ने काव्य-प्रकाश पर संकेत नाम की टीका लिखी। स्पष्ट है कि संकेतकार के समय तक काव्यप्रकाश इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था कि विद्वानों ने उस पर टीका लिखने की आवश्यकता का अनुभव किया। यदि इस ख्याति के लिए कम से

तो यहाँ पर 'अनेनैव' अथवा कारिकोक्त्या इत्यादि रूप में प्रयोग करते के स्थान पर होता। इससे सिद्ध होता है कि कारिका तथा वृत्ति दोनों के रचयिता मम्मट ही हैं। साथ ही एक यह भी तर्क दिया जाता है कि मम्मट ने कहीं भी अपने को किसी अन्य की कारिका का वृत्तिकार नहीं बताया है। वृत्तिकारमात्र यदि मम्मट होते तो जैसे कारिका के प्रारम्भ में मंगलाचरणविषयक पद्य है उसी प्रकार वृत्ति के आरम्भ में भी होता। इन तर्कों से अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों आचार्य मम्मट हैं।[1] काव्य-शास्त्र का इतिहास लिखने वाले अनेकों विद्वानों ने उक्त तथ्य पर भलीभाँति विचार किया है।

कारिका और वृत्ति के अतिरिक्त काव्य प्रकाश का तृतीय अंश उसमें प्रयुक्त उदाहरण हैं। इन उदाहरणों में अधिकांश पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किये गये हैं। उपमादि के कहीं-कहीं कुछ साधारण से उदाहरण हैं जिन्हें मम्मट ने प्रस्तुत किया है। अन्यथा पूर्ववर्ती प्राय: सभी अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ से उदाहरण मम्मट ने लिया है। उनमें भी रुद्रटादि कुछ आचार्यों के ये अधिक ऋणी हैं।

मम्मट और काव्यप्रयोजन :-

मानवजीवन के प्रत्येक कार्य-कलाप के मूल में फल की भावना निहित रहती है। इस सिद्धान्त के आधार पर काव्य-निर्माण के अवसर पर कवि में तथा काव्य के पठन-पाठन के समय सहृदय में भी किन्हीं प्रयोजन किंवा फल की भावना अपरिहार्य है। यदि काव्य सृष्टि सर्वथा निष्प्रयोजन होती तो भगवती सरस्वती का उपलब्ध वाङ्मय भण्डार निस्सन्देह बहुत न्यून होता। यही कारण है कि परम्परा से काव्य निर्माण के साथ ही साथ उसके प्रयोजन के प्रकाशन में भी मनीषियों की दृष्टि रही और काव्यशास्त्र के अभ्युदय के साथ

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है काव्यशास्त्र का इतिहास पी०वी० काणे- पृष्ठ- ३३६।

साहित्यशास्त्रियों ने काव्यप्रयोजन के व्याख्यान को सदा अभिन्न अंग माना। प्रारम्भ में भरतमुनि ने नाट्यकला का प्रयोजन बताते हुए अपना विचार व्यक्त किया कि इससे समाज का मनोरंजन होगा, और कष्टापन्न एवं परिश्रान्त लोक इससे विश्राम का अनुभव करेगा।[1] स्पष्ट है कि भरतमुनि काव्य के दो प्रयोजन मनोरंजन तथा कष्टनिवारण मानते हैं। आचार्य भामह ने इस दिशा में और भी सूक्ष्म विचार किया तथा काव्य के चार प्रयोजन - (१) पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), (२) कलाओं में निपुणता (३) यश-प्राप्ति तथा (४) प्रीतिव्यापार किया।[2] आचार्य वामन दृष्ट और अदृष्ट रूप दो प्रयोजन मानते हैं। दृष्ट से उनका आशय है प्रीति अथवा आनन्दानुभूति और अदृष्ट से कीर्ति।[3] आचार्य रुद्रट ने काव्यप्रयोजन पर विस्तृत विचार किया है। तीन कारिकाओं में उन्होंने यशप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, अनर्थविघात, पुरुषार्थचतुष्टय, सकलज्ञानप्राप्ति इत्यादि को काव्य के प्रयोजन के रूप में ग्रहण किया है।[4] आचार्य मम्मट का षड्प्रकारक काव्यप्रयोजन उनके विवेचन से विशेष अनुप्राणित है।

अलंकारवादी आचार्यों ने उपर्युक्त जिन काव्य-प्रयोजनों को उद्घाटित किया है उनमें से प्रायः समान रूप दिये हैं। तात्पर्य यह है कि जितना महत्वपूर्ण यश प्राप्ति रूप काव्य प्रयोजन है उतना ही आनन्दानुभूति। किसी भी प्रयोजन को वे कम या अधिक मानने के पक्ष में नहीं प्रतीत होते।

---

(१) वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्। विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। -- (नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय ११४, ११५)।

(२) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्। -- काव्यालंकार १-२।

(३) काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्॥

(४) द्रष्टव्य है - काव्यालंकार १।४,८,१२।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनमें तारतम्य होना स्वाभाविक है। इस ओर ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि गई और उन्होंने प्रीति किंवा आनन्दानुभूति को प्रथम स्थान दिया। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने "तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्" कहकर स्पष्टतः 'प्रीति' को ही काव्यप्रयोजन बताया। वक्रोक्तिवादी कुन्तक की दृष्टि से भी काव्य सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला होता है।[१] ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण को अभिनवगुप्त ने भली भाँति स्पष्ट कर दिया है -

"तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह - 'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, ---------- तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोः जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।" ( ध्वन्यालोक-लोचन पृष्ठ ६६ प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास )

ध्वनिवाद के प्रबल पोषक अभिनवगुप्त की इन पंक्तियों से ध्वनिकार की भावना स्पष्ट हो जाती है। कीर्ति, चतुर्वर्गफल-प्राप्ति इत्यादि का पार्यन्तिक फल प्रीति है। अतः एव काव्य के सभी प्रयोजनों में 'प्रीति' की ही प्रधानता होती है।

आचार्य मम्मट के समक्ष एक ओर भामह, रुद्रट इत्यादि अलंकारवादियों का काव्य प्रयोजन विषयक विचार विद्यमान था तो दूसरी ओर ध्वनिवादियों का। उन्होंने दोनों परम्पराओं का आदर करते हुये काव्य के ६ प्रयोजन स्वीकार किया -

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥ वक्रोक्तिजीवित १.४

पद का अर्थ है समनन्तर अर्थात् काव्य श्रवणानन्तर ही उस ब्रह्मानन्द सहोदर परम आनन्द की अनुभूति हो जाना । यागादि का फल देशान्तर में तथा वृक्षारोपण का फल सुदीर्घ काल व्यवधान के पश्चात् प्राप्त होता है । किन्तु काव्य से श्रवणानन्तर ही आनन्दानुभूति होती है ।[1] इस आनन्द का हेतु है रसास्वादन।रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस का आशय है स्थायिभाव । आस्वादन से यहाँ अभिप्राय है विभावानुभावादि संयोजन । इस संयोजना के साथ ही आनन्द अनुभूत होता है ।[2] नागेश भट्ट ने भी अपनी उद्योत नामक काव्यप्रकाश की टीका में प्रायः इसी आशय को व्यक्त किया है ।[3] सारबोधिनीकार श्रीवत्सलाञ्छन के अनुसार आस्वादन का अर्थ है प्रकाशन जो विभावादि के संयोजन से होता है ।[4] नैयायिक नरसिंह ठक्कुर के अनुसार आस्वादन का अर्थ है सुखस्वरूप और अद्भुत का अर्थ है ज्ञानरूप । विगलित वेद्यान्तर का आशय स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि आनन्दानुभूति के समय अपने से अतिरिक्त अन्यदीय विषय अस्तमित रहता है । यथा घटादि विषय है और ज्ञान विषयी । वेद्यान्तर में विषय और विषयी का स्वरूप विद्यमान रहता है । किन्तु काव्य रसानन्द के समय ज्ञानात्मक आनन्द ही विषय और विषयी रहता है ।[5]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- सद्य इत्यस्य विवरणम् समनन्तरमेवेति ।काव्यश्रवणानन्तरमेव न तु यागादिवद्देशान्तरोत्पादेन न वा वृक्षारोपणादिवत् कालविलम्बेनेत्यर्थः। सुधासागर,पृष्ठ-२२

२-रस्यते इति व्युत्पत्त्या रसः स्थायिभावः स आस्वाद्यते अनेन इति रसास्वादनम् विभावादिसंयोजनम्,व्यंजनम् वा तेन समुद्भूतम् प्रादुर्भूतम् ।सुधासागर,पृष्ठ २२

३-आस्वादनम् च विभावादिभिस्तस्य संयोजनमित्यर्थः । तावन्मात्रापेक्षित्वादेव अविलम्ब इति भावः । उद्योत पृष्ठ ६

४-रसः आस्वाद्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति रसास्वादनम् विभावादिसंयोजनम् तेन समुद्भूतम् प्रादुर्भूतम् । सारबोधिनी(बालबोधिनी पृष्ठ ६ से उद्धृत) ।

५-द्रष्टव्य है बालबोधिनी टीका पृष्ठ ६

संक्षेप में आचार्य मम्मट ने परम्परा से स्वीकृत प्रीति रूप प्रयोजन को विस्तार प्रदान किया है । उसको सीमा को तोड़ कर परमानन्द से समकक्ष प्रतिष्ठित किया है । प्रीति पद से एक सामान्य सुख ध्वनित होता है । किन्तु मम्मट ने वृत्ति में उसे आनन्द पद के द्वारा प्रस्तुत किया है । 'अनन्त सुखानन्दम्' से आनन्द के अन्तराल में अनन्त सुखों का भण्डार है ।। साथ ही -

'आनन्दम् ब्रह्म इति व्यजानात्' इत्यादि श्रुति वाक्य को प्रमाण मानकर यह कहा जा सकता है कि काव्य से प्राप्त होने वाला आनन्द ब्रह्मानंद सहोदर है । 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा तत्तिबायक वृत्ति भाग के व्याख्यान से इसी अर्थ में मम्मट का अभिप्राय प्रतीत होता है ।

कान्तासम्मित उपदेश के लिए काव्य :-

काव्य का छठां प्रयोजन कान्तासम्मित उपदेश है । इसके व्याख्यान में मम्मट पूर्ण रूप से आचार्य अभिनव गुप्त से अनुप्राणित हैं । ऊपर उद्धृत आचार्य अभिनव गुप्त की पंक्तियों से मम्मट की तत्तिबायक पंक्तियां पर्याप्त मिलती हैं । अन्तर यह है कि अभिनव गुप्त 'प्रीति' रूप प्रयोजन की सम्पुष्टि में जायासम्मितत्व की चर्चा करके उसे काव्य का स्वभाव मात्र बताकर छोड़ देते हैं जब कि मम्मट इसी को आधार बनाकर स्वतंत्र रूप से उपदेशक रूप काव्य प्रयोजन को सदा स्वीकार करते हैं और उसका समुचित स्वरूप भी प्रकट करते हैं । निस्सन्देह इसके विवेचन में मम्मट तथा उनके टीकाकारों का प्रभूत योगदान कहा जा सकता है । तदनुसार काव्य कान्ता के उपदेश के तुल्य उपदेशक होता है और काव्य का उपदेश वेदादि के उपदेश तथा पुराणादि के उपदेश से विलक्षण होता है । इस कथन के स्पष्टीकरण में मम्मट के टीकाकारों का स्तुत्य योगदान है जिसका विवेचन इस प्रकार है: -

१-वेदादि शब्दप्रधान अर्थात शासन प्रधान होते हैं । उनका उपदेश स्वामी(राजा) के सदृश होता है । आशय यह है कि राजा के समान वेदशास्त्र ज्योतिष्टोमादि अनुष्ठान में,,तथा विशेषफल शून्य सन्ध्यावन्दनादि में प्रवृ..

करते हैं।[१] वेदादि के उपदेश को राजाज्ञा के समान इसलिए माना जाता है कि राजा अपने भृत्य को जिस रूप में आज्ञा देता है- भृत्य को ठीक उसी रूप में पालन करना पड़ता है। वेदादि में भी शब्द की प्रधानता होती है। वेदादि की शब्द प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि उसमें शब्द परिवृत्त्यसहत्व रहता है। भाव यह है कि वेदादि के किसी भी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द नहीं रक्खा जासकता। यदि 'चैत्र को स्मरहिंस कहो' ऐसी स्वामी की आज्ञा हो तो 'स्मरहिंस' के स्थान पर 'संग्रामसिंह' ऐसा प्रयोग नहीं किया जासकता।[२] इसी प्रकार वेद में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' के स्थान पर 'अग्निमीडे इहिहुग्निम्' रूप प्रयोग फलसाधक नहीं हो सकता जब कि अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[३] अतएव शब्द प्रधान वेदादि का उपदेश राजाज्ञा के सदृश अनिवार्य की भावना से बोझिल होता है। वेदादि में 'आदि' पद का यहाँ पर अभिप्राय टीकाकार माणिक्यचंद्र के अनुसार मानव धर्मेतिहासादि, (आदि शब्दान्मानव धर्मेतिहासादिपरिग्रहः) काव्यप्रकाशादर्श के अनुसार वैदिकमन्त्र (आदिपदात् वैदिक मन्त्रश्च) तथा उद्योतकार के अनुसार 'स्मृति' (आदिना स्मृतिश्च) है।

(२) द्वितीय उपदेश पुराण इतिहासादिका है जिसमें अर्थ की प्रधानता होती है और जो मित्र के तुल्य होता है। जिस प्रकार एक मित्र प्रयोजनादि को भलीभांति समझा कर किसी कार्य में प्रेरित करता है, उसी प्रकार पुराणादि भी विषय को सुलझा कर प्रेरणा देता है। अमुक कार्य करने से इष्ट प्राप्ति तथा उसे न करने से अनिष्ट की प्राप्ति होती है इस प्रकार केवल बोध कराता है न कि वेदादि के समान आज्ञा देता है।[४]

---

१- 'शब्दप्रधानवेदादि: शासनप्रधानेन विधिलक्षण: स हि प्रभुत्वि रूपेव दूत इति समाज्ञापयति। ततश्च नियुक्त: सन्ध्यावन्दनादौ निष्फले अपि प्रवर्तते।

प्रदीप पृष्ठ ६

२- चैत्र: स्मरहिंसया व्यवहृतव्यम् इति प्रभोरादेशे यथा संग्रामसिंह इति न शब्द परावृत्त्या व्यवहार: किन्तु स्मरहिंसयैवेति शब्द प्रधानता।

काव्यप्रकाशादर्श पृष्ठ १०

३- नहि 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्यादौ 'अग्निमीडे ईडे ग्निम्' इतिवोक्तफल साधकम् भवति।

४- द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ ६.

उक्त दोनों उपदेशों से विलक्षण काव्य का उपदेश है। काव्य में न तो शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। यह तो रस प्रधान होता है। अतएव इसे कान्तासम्मित कहा गया है। जिस प्रकार से कि कान्ता सरस शैली में अपने प्रिय को आकृष्ट कर किसी कार्य के करने की प्रेरणा देती है उसी प्रकार अलौकिक वर्णना में निपुण कवि का कार्य(काव्य) कवि या सहृदय को यथायोग प्रेरित करता है।

इस स्थल पर मम्मट ने "अलौकिक वर्णना निपुण कविकर्म" तथा "यथायोग" इन दो महत्त्वपूर्ण पदों का प्रयोग किया है। दोनों के स्पष्टीकरण में काव्यप्रकाश के टीकाकारों का उल्लेखनीय योगदान है। अतएव इन पर विचार यहाँ अपेक्ष्य है। "कविवर्णनानिपुणादि" की व्याख्या में संकेतकार माणिक्यचन्द्र तथा श्रीधर ने काव्यकौतुक को उद्धृत करते हुए बताया है कि नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा से सम्पन्न कवि वर्णनानिपुणकवि कहा जाता है। ऐसे कवि का जो लोकविलक्षण कर्म है वही काव्य की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।[1] "यथायोगम्" के व्याख्यान में मम्मट ने काव्य के षट्प्रयोजनों में कुछ को कवि के लिए तथा कुछ को सहृदय के लिए माना है। कौन सा प्रयोजन किसके लिए है इसे स्पष्ट नहीं किया। फलस्वरूप यथायोग के विवेचन में टीकाकारों में पर्याप्त विवाद चला आ रहा है। संकेतकार के अनुसार यशरूप काव्यप्रयोजन केवल कविगत है और प्रीति अथवा रसास्वाद रूप प्रयोजन केवल सहृदयगत है। कवि को रसास्वाद केवल उन्हीं क्षणों में प्राप्त हो सकता है जब कि वह कवि से हट कर सहृदय की कोटि में आ जाता है। यहाँ पर संकेतकार एक पूर्व पक्ष की उद्भावना करते हैं कि कवि को रसास्वाद कैसे सम्भव है। क्योंकि काव्यार्थ के चिन्तनादि में निमग्न रहने के कारण तज्जन्य कष्ट से उसे दुःख ही प्राप्त होता है। कहा भी गया है कि कवि ही कवि के परिश्रम को जान सकता है। अतः कवि को रसास्वाद नहीं हो सकता है। इसके उत्तरपक्ष में टीकाकार ने प्रशंसनीय मौलिक विचार प्रस्तुत करके कवि को भी रसास्वाद का भागी बताया है। इन्होंने कवि की दो अवस्थाओं की कल्पना की है -

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- तथा चोक्तं काव्य कौतुके - "प्रज्ञानवनवोल्लेखशालिनीप्रतिभामता, तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः; तस्यकर्म स्मृतम् काव्यम्" - श्रीधरकाव्यप्रकाश विवेक पृ०६

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में टीकाकारों में एक मत नहीं है। यहाँ पर एक निवेदन है और उसे ही मेरा विनम्र योगदान समझना चाहिए। वह यह कि प्रथम दो प्रयोजन अर्थात् यश तथा अर्थप्राप्ति कवि को ही होते हैं। क्योंकि सहृदय के लिए यहाँ पर किसी प्रकार का स्थान नहीं है। व्यवहार ज्ञान तथा उपदेश रूप दो प्रयोजन सहृदयगत ही माना जा सकता है। क्योंकि कवि के लिए ये दोनों प्रयोजन स्वयं सिद्ध हैं। शेष दो अर्थात् परनिर्वृत्ति और अनिष्ट निवारण उभयगत कहा जा सकता है। क्योंकि मंगलश्लोकादि के सृजन से कवि का और उसके अनवरत पाठ से सहृदय का अनिष्ट निवारण होता है। यह एक सामाजिक आस्था किंवा संविदा है। रसास्वाद सहृदय को ही होता है किन्तु ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध है कि भावकत्व की अवस्था में कवि भी सहृदय है। अतः एव परनिर्वृत्ति अथवा रसास्वाद को उभयगत मान लेना चाहिए। इस प्रकार से षट्प्रयोजनों का कवि और सहृदय में विभाजन करने से सन्देह का स्थान नहीं रह जाता।

उदार समीक्षक शब्दों का प्रयोग यदि क्षमा करें तो यह कह सकता हूँ कि मम्मट जैसे गम्भीर विचारक ने काव्य के ६ प्रयोजन मानकर कुछ दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया, उनकी मान्यता एकमात्र प्राचीनों के आग्रह तथा अपने युग के विश्वास पर निर्भर है। शाश्वत सत्य की कसौटी पर वह खरी नहीं उतर सकती। अच्छा होता यदि मम्मट यश प्राप्ति तथा रसास्वादन, ये दो ही प्रयोजन मानते। क्योंकि शेष चार प्रयोजनों में न तो कुछ बल ही है और न वे देश-काल की कसौटी पर कसे ही जा सकते हैं। चारों अन्य काव्यप्रयोजन अर्थ प्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अनर्थनिवारण तथा कान्तासम्मित उपदेश उक्त दोनों काव्य-प्रयोजनों में अन्तर्भूत हो सकते हैं। क्योंकि कवि की यशः पताका के प्रसार के साथ अर्थ का आकर्षण स्वतः होता है। कवि कभी भी इस भावना से काव्य नहीं लिखता कि इससे वह धनार्जन करेगा। काव्य को व्यापार का साधन बनाना उसके अलौकिकत्व का उपहासमात्र करना है। यह एक अन्य बात है कि यशस्वी कवि पुरस्कारादि रूप में अर्थ की प्राप्ति करता है। अर्थ स्वयम् यश के पीछे दौड़ता है।

काव्य से व्यवहारज्ञान होता है यह कथन भी हृदयग्राही नहीं है। कितने प्रतिष्ठित ऐसे लोग होते हैं जिनके व्यवहारज्ञान का आधार काव्य है ? क्या जिस व्यक्ति ने दृश्य अथवा श्रव्यकाव्य का निरीक्षण नहीं किया है वह व्यवहारज्ञान शून्य होता है ? वस्तुतः व्यवहारज्ञान का आधार है लोक अथवा समाज। काव्य तो अलौकिक है जिसका मूल दृष्टिकोण रसास्वादन है। व्यवहारज्ञान से उसे क्या लेना देना। हाँ आनुषंगिक रूप में यदि व्यवहारज्ञान हो जाता है तो वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसे काव्य का एक स्वतंत्र प्रयोजन माना जा सके। फिर रसास्वादन के साथ ही सहृदय व्यवहारज्ञान भी करता है। अतः इस प्रयोजन को अलग से मानना तर्क संगत नहीं प्रतीत होता।

अनिष्ट निवारण में मम्मट का अभिप्राय सम्भवतः केवल दैविक अनिष्ट से है, क्योंकि उसी का उन्होंने उदाहरण भी दिया है। यह एक संकीर्ण दृष्टिकोण है। तात्कालिक सामाजिक मान्यता के आधार पर ही मम्मट ने काव्य का एक प्रयोजन अनिष्ट निवारण माना है। किन्तु वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में काव्य कितना अनिष्ट निवारण कर सकता है ? अर्थ की प्राप्ति से ही अनिष्ट अथवा अनर्थ का संहार हो सकता है और अर्थप्राप्ति यश में ही अंतर्भुक्त है। अतः शिवेतर-विनाश रूप काव्यप्रयोजन न भी माना जाय तो कोई हानि नहीं है। क्योंकि काव्य का प्रमुख उद्देश्य अनिष्ट निवारण कभी नहीं हो सकता। ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यरसास्वादन के अंग रूप में इसे स्वीकार किया जा सकता है। रही बात कान्तासम्मित उपदेश की। कान्ता के सदृश काव्य सरस होता है यह तथ्य तो समझ में आता है किन्तु कान्ता के तुल्य काव्य उपदेशक है यह कथन कुछ कठिनाई से हृदय को स्पर्श कर पाता है। क्योंकि न तो कान्ता ही उपदेश देती है और न काव्य ही। जिस क्षण कान्ता के उपदेशक रूप का बोध हो जायेगा उसी क्षण कान्तात्व की परिभाषा ही समाप्त हो जायेगी। ठीक इसी प्रकार काव्य के उपदेशकत्व का बोध होने पर रसानुभूति हो ही नहीं सकती जो कि काव्य का वास्तविक प्रयोजन है। वस्तुतः यश प्राप्ति और रसास्वादन रूप दो ही प्रयोजन मम्मट मानते तो किसी भी युग की कसौटी पर वे खरे उतर सकते हैं।

मम्मट और काव्य हेतु ::-

कवि की विलक्षण रचना काव्य है। प्रश्न है कि वह कौन सा विलक्षण धर्म होता है जिससे कवि काव्य-सर्जना करता है। परम्परा से इस प्रश्न पर विचार होता चला आया है। आचार्य मम्मट ने भी इस विषय पर सर्वांगीण विचार प्रस्तुत किया है तदनुसार (१) शक्ति, (२) लोकशास्त्र, तथा काव्यादि के अवलोकन से उत्पन्न निपुणता एवं (३) काव्यज्ञ की शिक्षा के द्वारा किया गया अभ्यास, ये तीनों सम्मिलित होकर समष्टि रूप से काव्योद्भव के कारण हैं। स्पष्ट है कि मम्मट शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास ये तीनों गुण अनिवार्य रूप से कवि में स्वीकार करते हैं।[१]

मम्मट का उक्त विवेचन दण्डी तथा रुद्रट के तद्विषयक विवेचन से प्रभावित है। आचार्य दण्डी भी इन्हीं तीनों के सम्मिलित रूप को काव्योद्भव का कारण मानते हैं। यद्यपि उनकी शब्दावली मम्मट से कुछ भिन्न है।[२] किन्तु रुद्रट की काव्य-हेतु विषयक कारिका का पूरा-पूरा प्रभाव मम्मट की कारिका पर परिलक्षित होता है --

"तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुण: करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास: ।। - काव्यालंकार १।१४

स्पष्ट है कि मम्मट ने केवल व्युत्पत्ति के स्थान पर अपनी कारिका में निपुणता पद का प्रयोग किया है। किन्तु इसकी व्याख्या करते हुए वृत्ति भाग में व्युत्पत्ति पद का भी प्रयोग किया है। प्रतीत ऐसा होता है कि मम्मट ने रुद्रट के शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को तथा दण्डी के इन तीनों के सम्मेलन को समन्वित कर अपनी कारिका में ग्रहण किया है। और वृत्तिभाग में उन्हें

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास: इति हेतुस्तदुद्भवे ।। काव्यप्रकाश

(२) नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या: कारणं काव्यसम्पद: ।। काव्यादर्श

स्पष्ट कर दिया है। इनका क्रमशः व्याख्यान इस प्रकार है --

**शक्ति :-**

यह एक विशेष प्रकार का संस्कार है और यही कवित्व का मूलकारण है। मम्मट की आस्था है कि इसके अभाव में काव्य का प्रादुर्भाव हो नहीं हो सकता और यदि किसी प्रकार से हो भी जाय तो वह उपहास का ही कारण होगा।[1] विभिन्न टीकाकारों ने "शक्तिः संस्कारविशेषः" को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है। यथा - अश्लिष्ट अनेक पदार्थ का ज्ञान ही शक्ति है।[2] शक्ति का पर्याय प्रतिभा है जिसका स्वरूप काव्यकौतुक के अनुसार ऊपर बताया जा चुका है।[3] यही प्रतिभा संस्कार विशेष है।[4] संस्कार जन्मान्तर में देवताराधनादि से बनता है। इसी संस्कार को मम्मट शक्ति कहते हैं और अन्य आलंकारिक प्रतिभा।[5] संक्षेप में जन्मान्तरीय देवताराधनादिजन्य पुण्य के फलस्वरूप नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा होती है और वह काव्योद्भव का कारण है। इस कारण से इसके अभाव में मम्मट "काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयम् स्यात्" कहते हैं। "न प्रसरेत्" का अर्थ मम्मट के टीकाकारों में कुछ ने हासहीन लिये हैं और कुछ ने प्रसाराभाव वस्तुतः हासहीन अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि अभ्यासादि के कारण भले ही कोई कुछ छन्द आदि कर ले किन्तु वह सहृदयों के लिए हास्यास्पद ही होगा। अतएव काव्यरचना के लिए कवि में शक्ति या प्रतिभा का होना आवश्यक है।

भीमसेन दीक्षित केवल शक्ति को ही प्रतिभा नहीं मानते। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रदीपकार का खण्डन भी किया है। उनके मत से रसोद्बोध में समर्थ काव्य केवल संस्कारमात्र की अपेक्षा नहीं करता बल्कि [illegible] दोनों कारण

---

(१) शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयम् स्यात्। काव्यप्रकाश - पृष्ठ- ११।

(२) अश्लिष्टानेक पदार्थज्ञानं शक्तिः। विवेक - पृष्ठ- ७।

(३) प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता। -- काव्यकौतुक।

(४) वर्णनीयपदार्थ नवनवोल्लेख शालिनी प्रतिभा संस्कारः। संकेत - पृष्ठ-५।

की अपेक्षा करता है। अतएव इन तीनों कारणों से विशिष्ट बुद्धि को प्रतिभा की संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि व्यवहार में अमुक प्रतिभावान है इस प्रकार का प्रयोग मिलता है। किन्तु वह केवल स्तुतिपरक ही है।[1] वस्तुतः यह विवेचन भीमसेन दीक्षित की अपनी संकल्पना है। मम्मट का अभिप्राय शक्ति को प्रतिभा के पर्याय के रूप में ही मानने का है। उनकी वृत्ति की व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। साथ ही प्राचीनों ने भी इन आदि तीनों के सम्मिलित रूप को प्रतिभा नहीं माना है। आचार्य अभिनवगुप्त भी शक्ति और प्रतिभा में भेद नहीं मानते।[2] जहाँ मम्मट प्रतिभा को केवल काव्यनिर्माण का बीजभूत कारण मानते हैं अभिनवगुप्त उसे अपूर्ववस्तु को निष्पन्न करने वाली एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा मानते हैं।[3] ध्वनिवादी आचार्यों से ही मम्मट निःसन्देह अनुप्राणित हुए हैं किन्तु शक्ति के व्याख्यान में वे रीतिवादी आचार्य वामन से कम प्रभावित नहीं हैं। यद्यपि वामन काव्य का हेतु (१) लोक (२) विद्या तथा (३) प्रकीर्ण मानते हैं। इनमें प्रकीर्ण का स्वरूप प्रतिभानम् तथा अवधानम् इन दो पदों से स्पष्ट करते हैं।[4] आचार्य मम्मट की "शक्ति" की व्याख्या आचार्य वामन की अधोलिखित पंक्तियों की छायामात्र ही प्रतीत होती है --

"कवित्वबीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं जन्मान्तरागत संस्कारविशेषः कश्चित् यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते निष्पन्नं वा उपहास्यायतनम् स्यात्" काव्यालंकार सूत्र वृत्ति- १-३-१६ ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) यत्तु काव्यप्रदीपकारैः- प्रतिभाव्यपदेश इति । तदुक्तम् । अनन्यपरतन्त्राम् इत्यत्र कवेस्तत्प्रतिभायाश्च अन्योन्य आत्मनः पर इति व्याख्यानविरोधात् न हि लोकोद्बोध समर्था कवि निर्मितिः संस्कारमात्रापेक्षिणी किन्तु शक्त्याद्यपेक्षम् । एवं कारणत्रय विशिष्टा धीः प्रतिभा, क्वचित् प्रतिभावत्व व्यवहारस्तु स्तुतिपर इति सहृदयैर्ध्येयम् । सुधासागर पृष्ठ- १४ ।

(२) शक्तिः प्रतिभानम् वर्णनीयवस्तु विषयनूतनोल्लेखशालित्वम् । लोचन ।

(३) प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा । लोचन ।

(४) प्रतिभानम् अवधानम् च प्रकीर्णम्। काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १।३।११

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि शक्ति और प्रतिभा में एक रूपता मम्मट ने ध्वनिवादियों के प्रभाव से किया और शक्ति की व्याख्या वामन के प्रभाव से काव्यप्रकाश में दोनों का समन्वित रूप ही प्रकट होता है न कि कोई नवीनता ।

निपुणता :-

काव्योद्भव का दूसरा हेतु है निपुणता जिसे व्युत्पत्ति भी कहा जाता है । चराचर जगत् के निरीक्षण, निघण्टादि, छन्द, व्याकरण, अश्व, गज तथा खड्ग इत्यादि के प्रतिपादक ग्रन्थों के अध्ययन से और महाकवियों के द्वारा प्रणीत काव्य ग्रन्थों के अनुशीलन से व्युत्पत्ति आती है । व्युत्पन्न कवि ही उत्कृष्ट काव्य का सृजन कर सकता है ।[1] निपुणता के प्रतिपादन में मम्मट वामन रुद्रट तथा अभिनवगुप्त के विवेचन से प्रभावित हैं । विद्या को काव्य का अंग स्वीकार करते हुए वामन लोक वृत्त-ज्ञान तथा शास्त्रविषयक ज्ञान को काव्य निर्माण का प्रमुख अंग मानते हैं । इस प्रसंग में वे छन्दादि का भी उल्लेख करते हैं ।[2] व्युत्पत्ति के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए रुद्रट का कथन इस प्रकार है--

"छन्दो व्याकरण कलालोक स्थिति पद पदार्थ विज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियम् समासेन ।। काव्यालंकार १।१८

स्पष्ट है कि रुद्रट ने वामन प्रतिपादित लोकवृत्तज्ञान तथा विद्या आदि को व्युत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया है । अभिनवगुप्त ने इस व्युत्पत्ति को प्रतिभा को स्फुटित व प्रेरित करने का साधन बताया है ।[3] इन तीनों आचार्यों का सुस्पष्ट प्रभाव आचार्य मम्मट पर पड़ा है, क्योंकि लोक-शास्त्र तथा काव्यादि का निरीक्षण व अनुशीलन को ही वे व्युत्पत्ति कहते हैं । यह व्युत्पत्ति प्रतिभा के साथ मिलकर ही काव्योद्भव का कारण है ।

---

(१) काव्यप्रकाश - पृष्ठ- १२ ।

(२) काव्यालंकार सूत्र वृत्ति - १।३।३

(३) व्युत्पत्तिस्तदुपयोगि समस्त वस्तु पौर्वापर्यपरामर्श कौशलम् । ध्वन्यालोक लोचन-३

अभ्यास ::-

काव्यज्ञमर्मज्ञों की शिक्षा के आधार पर किया गया अभ्यास भी काव्योद्भव का हेतु है। काव्यज्ञ से मम्मट का अभिप्राय उनसे है जो काव्य की रचना व उसकी समालोचना में पटु हैं। उन्हीं के उपदेश से बारम्बार काव्य की रचना व विवेचन करना अभ्यास कहा जाता है। अभ्यास से कवि की काव्योत्कृष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।[1]

प्रस्तुत सन्दर्भ में मम्मट ने अभ्यास का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए 'करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिः' लिखा है। यहाँ पर 'करणे' तथा 'योजने' पदों को लेकर टीकाकारों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किया। संकेतकार के अनुसार करण का अभिप्राय है खण्ड-खण्ड (स्फुट) और योजन का प्रबन्ध रूप से गुम्फन।[2] जयन्तभट्ट 'करणे' तथा 'योजने' से निष्पादन तथा प्रबन्ध में उसकी संघटना रूप अर्थ ग्रहण करते हैं। झलकीकर भी प्रायः इसी अर्थ का समर्थन करते हैं।[3] आश्चर्य है कि अभ्यास विषयक मम्मट का विवेचन आचार्य रुद्रट की इन पंक्तियों के अधिक निकट है--

'अधिगत सकल ज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम्
नक्तं दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम् ।।' काव्यालंकार १।२०

हेतुसमुदाय का समाधान ::-

कारिकागत इस अंश का समाधान करते हुए मम्मट स्वतः स्पष्ट कर देते हैं कि शक्ति, निपुणता और अभ्यास ये तीनों मिलकर (समुदिताः) काव्य निर्माण के हेतु हैं न कि इनमें से प्रत्येक पृथक्-पृथक् (व्यस्ताः)। यद्यपि तीनों हेतुओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है तथापि तीनों सम्मिलित रूप से काव्य की रचना करते हैं। इसी आशय से मम्मट इस वचन में हेतु पद का प्रयोग करते हैं

---

(१) काव्यप्रकाश - पृष्ठ-१२-१३ ।

(२) विशकलितरूपे प्रबन्धायानाम् गुम्फरूपे च। संकेत-पृष्ठ-६ ।

(३) बालबोधिनी - पृष्ठ-१३ ।

और नृत्तनाम्नः हेतवः का निषेध भी कर देते हैं । उद्योतकार का इस अंश के व्याख्यान में महत्त्वपूर्ण योगदान है । तदनुसार जैसे घट के निर्माण में दण्डचक्रादि सभी वस्तुओं की अपेक्षा रहती है वैसे ही काव्योद्भव में शक्तिनिपुणता तथा अभ्यास का सम्मिलित योगदान रहता है । समुदित: से मम्मट का यही अभिप्राय है । साथ ही जिस प्रकार तृण, अरणि (काष्ठविशेष) और मणि इन तीनों में प्रत्येक पृथक् रूप से अग्नि को उत्पन्न कर सकते हैं वैसी निरपेक्ष कार्य-क्षमता काव्योद्भव में शक्ति निपुणता और अभ्यास की नहीं है । व्यस्तत: से मम्मट का यही आशय है ।१

-- काव्यलक्षण ::-

काव्य का लक्षणनिर्धारण काव्यशास्त्र की परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण विषय है । प्राय: सभी आलंकारिकों ने किसी न किसी रूप में काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है । काव्यशास्त्र के विकास के साथ ही काव्य-स्वरूप में विकास स्वाभाविक है । इस विकास-परम्परा में नि:सन्देह आचार्य मम्मट का प्रमुख योगदान है । यह भी कहा जा सकता है कि काव्य-लक्षण को प्रस्तुत करने में काव्यप्रकाश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है । कारण यह है कि मम्मट के समय तक काव्य के प्रत्येक अवयव प्रकाश में आ चुके थे । अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य इत्यादि सभी सम्प्रदायों का [illegible] सदा सामने थी । सभी सम्प्रदायों में काव्यलक्षण उस सम्प्रदाय-विशेष की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया था । अत: उन सब के अन्तराल में प्रवेश कर तत्त्व के अन्वेषण की अपेक्षा थी । इतना ही नहीं मम्मट के पूर्ववर्ती किन्हीं आचार्यों ने काव्य के शरीर को प्रकाशित किया, कुछ ने उसके आभूषण का तो किन्हीं ने उसकी आत्मा का । वस्तुत: यही काव्यस्वरूप का विकास क्रम है । इनमें भी परस्पर तालमेल की आवश्यकता थी । ऐसे युग में आचार्य मम्मट ने एक ऐसा काव्यलक्षण प्रस्तुत किया जिसमें सभी वाद तथा विवाद की

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) मिलितैवेति । पूर्वोक्तसमुदायपरामर्शकं त्वेवेति भाव: । --- मिलितस्य दण्डचक्रादीनामिव कारणत्वं न तु तृणारणिमणीनामिवेति ध्वनयितुमेव हेतुरित्येकवचनम् । उद्योत पृष्ठ-६ ।

विश्रान्ति होता है । अतः मम्मट के काव्यस्वरूप की व्याख्या के पूर्व उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जानना नितान्त आवश्यक है । तभी हम मम्मट के समुचित योगदान का पता लगा सकते हैं ।

आचार्य ~~मम्मट~~ भामह ने सर्व प्रथम शब्द और अर्थ के एक विशेष सहभाव को काव्य माना और गद्य तथा पद्य रूप उसके दो भेद बताया ।[१] दण्डी अलंकृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं । तदनुसार "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" रूप काव्य लक्षण है । भामह और दण्डी अलंकार वाद के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं । दोनों वस्तुतः शब्दार्थ के सहभाव को काव्य मानते हैं । यह सहभाव तो नैसर्गिक हुई है किन्तु उसको चमत्कृत करते हैं अलंकार । अलंकार शब्दार्थ युगल में विशेष का आधान करता है । उसमें विच्छित्ति की गरिमा भर देता है। अस्तु अलंकारवादी आचार्य अलंकार को काव्य का अभिन्न अंग मानते हैं । अलंकारवादी आचार्यों ने निःसन्देह काव्य स्वरूप का ढांचा प्रस्तुत किया । भले ही ढांचा अलंकारों से अलंकृत है किन्तु उसमें आत्मा का आधान वे नहीं कर सके । आचार्य वामन की दृष्टि इस ओर गई और उन्होंने काव्यस्वरूप को अपेक्षाकृत व्यापकता प्रदान किया । काव्य की आत्मा तथा उसकी साज-सज्जा दोनों की ओर ध्यान दिया । तदनुसार काव्य की आत्मा रीति है । (रीतिरात्मा काव्यस्य) । गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ काव्य का रूप है । और अलंकार उसका सौन्दर्य ।[२] ध्यान देने योग्य बात है कि वामन काव्य में अलंकार का महत्त्व सौन्दर्य की दृष्टि से ग्रहण करते हैं । यह सौन्दर्य शब्द और अर्थ के एक धर्म के रूप में माना गया है । किन्तु इससे भी आवश्यक धर्म है गुण। सौन्दर्य रहते हुए भी गुण के अभाव में सौन्दर्य की उपयोगिता नहीं के बराबर होती है । किसी रमणी के कुण्डलादि का सौन्दर्य उसके यौवन के अभाव में विच्छित्तिशून्य ही कहा जायेगा । अतः अलंकार (सौन्दर्य) और दोनों से

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । काव्यालंकार १।१६ ।

(२) काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात् । काव्यशब्दो ऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थ मात्र वचनो ऽत्र गृह्यते । सौन्दर्यमलंकारः । काव्यालंकार सूत्र वृत्ति - १।१।१,२ ।

समृद्ध शब्द और अर्थ का सम्भाग काव्य है यही, वामन का दृष्टिकोण है। वामन के विवेचन का प्रभाव भोज पर पड़ा जिन्होंने काव्य का स्वरूप इन शब्दों में निर्धारित किया --

'अदोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।१ सरस्वतीकण्ठाभरण

भामह के अलंकारवाद में तथा वामन के रीतिवाद में काव्य का जो स्वरूप निर्धारित हुआ उन दोनों का समन्वय कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में किया। यहाँ पर वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व माना गया। कुन्तक की दृष्टि कवि के कलापक्ष पर पड़ी। कवि एक उत्कृष्ट कलाकार होता है और उसका व्यापार है वैदग्ध्य भंगीभणिति। विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य कवि की कुशलता है और उससे उत्पन्न काव्य में कवि का स्वभाव किंवा व्यक्तित्व झलकता है। आश्चर्य है कि कुन्तक उक्ति वैचित्र्य में जहाँ काव्य का दर्शन करते हैं वहाँ उन्हें सहृदय-हृदय अनुभूत रसास्वाद की चिन्ता नहीं है। इतना ही नहीं वे इस सन्दर्भ में ध्वनिवाद की मान्यता से लेशमात्र प्रभावित भी नहीं होते। यदि वे सहृदय की अनुभूति को प्रश्रय देते तो सम्भव है उनकी दृष्टि में कवि कौशल किंवा कवि व्यक्तित्व गौण हो जाता, जिसे वे प्रधान मानने के पक्ष में हैं।

उपर्युक्त अलंकारवाद रीतिवाद तथा वक्रोक्ति वाद में काव्य का जो स्वरूप निर्धारित किया गया वह एकांगी है। क्योंकि काव्य का प्रमुख प्रयोजन जो सहृदय-हृदय-आह्लाद है वह इन स्वरूपों में पूर्णरूप से अनुभूत नहीं हो पाता। ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि इसी ओर रही अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ प्राचीनों ने काव्य के शरीर का अन्वेषण किया वहाँ ध्वनिवादी आचार्यों ने उसकी आत्मा का। ध्वनिकार ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' तथा 'सहृदय-हृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वम् एव काव्यलक्षणम्' इस कथन के

---

(१) भीमसेन दीक्षित का मत है कि यह कारिका सरस्वती कण्ठाभरण की नहीं है अपितु अग्निपुराण की है। -- सुधासागर - पृष्ठ- १२ ।

पश्चात् ध्वनि या रस की ओर आलोचकों की दृष्टि गई। अब ऐसे काव्य-स्वरूप निर्धारण की आवश्यकता थी जो कि अलंकार, रीति तथा वक्रोक्तिवादियों की भावना को भी ग्रहण कर सके और ध्वनि सम्प्रदाय को मान्यता की भी अवहेलना न करे। क्योंकि दोनों स्थलों पर अदार्शनिक तत्व विद्यमान हैं। आचार्य मम्मट ने इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह किया और अपना काव्यलक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया --

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

भाव यह है कि शब्दार्थ काव्य है जो कि वह दोष रहित हो और माधुर्यादि गुणों से युक्त हो। साथ ही सालंकार भी हो किन्तु यदि कहीं स्फुट अलंकार की प्रतीति न भी हो तो भी काव्य की सत्ता अक्षुण्ण रहेगी। स्पष्ट है कि मम्मट के उक्त काव्यलक्षण में चार तत्व हैं। (१) शब्दार्थौ तत्, (२) अदोषौ (३) सगुणौ (४) अनलंकृती पुनः क्वापि। इनमें से प्रथम विशेष्यांश है तथा अन्य तीन विशेषण मम्मट तथा उनके टीकाकारों की दृष्टि से व्याख्यान इस प्रकार है --

शब्दार्थौ तत् ::- "तत्" यह सर्वनाम यहाँ काव्य के लिए प्रयुक्त है। संकेतकार के अनुसार मम्मट शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् काव्य न मानकर दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं।१ उद्योतकार के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही रसव्यंजक होते हैं। व्यवहार में भी "काव्यं श्रुतं, काव्यं पठितं, काव्यं बुद्धम्" इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं। अतः उक्त लोकव्यवहार से भी शब्दार्थयुगल में काव्य माना जा सकता है।२ भामहेन दायित्व के मत से शब्दार्थौ में द्वन्द्व समास होने से यद्यपि

---

(१) शब्दार्थौ मिलितौ काव्यमिति व्यक्तिवदव्यभिचारित्वेन- संकेत पृष्ठ- ६

(२) आस्वाद व्यंजकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात्। प्रागुक्त लक्षणावच्छेदकत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वाच्च। काव्यं पठितं श्रुतं काव्यं बुद्धमिति उभयविधि व्यवहार दर्शनाच्चेति भावः। उद्योत पृष्ठ- ६।

शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता है, यद्यपि दोनों को पृथक् काव्यत्व न समझ लेना चाहिए। क्योंकि व्यङ्ग्य के परामर्श से ही काव्य चमत्कृत होता है। व्यंग्य सर्वथा व्यंजना के अधीन होता है और व्यंजना का आश्रय है शब्दार्थ; इसी दृष्टि से यहाँ द्वन्द्व समास है।[1]

अदोषौ:-

शब्दार्थ साहित्य दोष रहित होना चाहिए। काव्य में दोष सहृदयों को खटकता है। वह निर्बाध रसानुभूति नहीं होने देता। इसीलिए मम्मट ने शब्दार्थों का एक विशेषण अदोषौ दिया है। इस विशेषण के साथ लक्षण का स्वरूप - दोषरहित शब्दार्थ काव्य हैं इत्यादि प्रकार से बनता है, किन्तु अदोषौ से मम्मट का क्या अभिप्राय है, क्या वे इससे सर्वथा दोषाभाव अर्थ चाहते हैं अथवा यथासम्भव दोषपरिहार, इत्यादि का कोई भी स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं दिया। टीकाकारों ने इसके आशय को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है, जो कि उनका योगदान कहा जा सकता है। जैसे श्रुतिकटु इत्यादि कुछ नित्य दोष तथा माधुर्यादि नित्यगुण रस के अपकर्ष तथा उत्कर्ष के हेतु हैं। इन्हीं नित्य दोषों के अभाव में मम्मट का अभिप्राय है।[2]

सुधासागरकार ने इस सन्दर्भ में तीन विचारों का संक्षेप प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है --- कुछ आलोचक "अदोष" पद से यथाशक्ति दोष की समाप्ति का अर्थ ग्रहण करते हैं। अदोष को विशेषण न कहकर यथासम्भव दोष को कम करने का प्रयास करना चाहिए।[3] दूसरे वे समालोचक हैं जो सर्वथा दोषाभाव अर्थ स्वीकार करते हैं। इससे यद्यपि काव्य का क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है तो कोई

---

(१) न चैवं शब्दार्थाविति द्वन्द्वादुभयप्राधान्यावगतिर्विरोधः। काव्यं हि व्यङ्ग्यपरामर्शं विना न चमत्करोति। चमत्कृतं च नोपदेशपर्यवसायीति व्यङ्ग्यपरामर्शमावश्यकः। स च व्यंजनाधीनः तस्याश्च शब्दार्थावाश्रयाविति तात्पर्येण शब्दार्थयोः प्राधान्यस्य विवक्षितत्वाद् द्वन्द्वकरणमिति। सुधासागर - पृष्ठ-२१।

(२) श्रुतिकटुप्रभृतयो नित्यदोषा माधुर्यादयो नित्यगुणा रसस्यापकर्षोत्कर्षहेतवः संकेत - पृष्ठ-६।

(३) अत्रकेचिदुः-- अदोषत्वं नैव विशेषणम् किन्तु यथाशक्ति दोषहानायकमुक्तम्। -- सुधासागर - पृष्ठ-२२।

आपत्ति नहीं। क्योंकि ध्वनिकार का भी मत है कि कवि भी दो चार ही तथा काव्य भी दो चार ही प्राप्त होते हैं। सुबुद्धिमिश्र स्फुटदोषराहित्य अर्थ लेते हैं और स्फुट का अर्थ प्रतिभातिरोधानाभाव। कवि अपनी प्रतिभा से सहृदयों के समक्ष दोष पकड़ में नहीं आने देता। प्रतिभाशाली कवि सामाजिकों को चित्रार्पित के समान करके दोषों को देखने का अवसर ही नहीं देता।2

भीमसेन दीक्षित स्वयं अदोष का अर्थ स्फुटदोषराहित्य ही मानते हैं किन्तु स्फुट का कुछ भिन्न व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार स्फुट से अभिप्राय रसास्वाद में विरोध होना तथा अस्फुट से रसास्वाद में विलम्ब होना। अतएव अस्फुट दोष के होने पर भी रसोद्बोध में अविरोधी होने से व्यंजनायोग काव्य अक्षुण्ण रहता है। अदोष से मम्मट का अभिप्राय रसविघातक दोषों के अभाव से है। यथा च्युतसंस्कृति क्लिष्टादि रस विघातक होते हैं। सम्भवतः ऐसे ही दोषों के अभाव में मम्मट का अभिप्राय रहा होगा।3

परवर्ती आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डित राजजगन्नाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण में 'अदोष' रूप शब्दार्थ के विशेषण की आलोचना की है। बहुचर्चित विषय होने के कारण उनकी आलोचना यहाँ प्रस्तुत करना अनपेक्ष्य सा प्रतीत होता है। यद्यपि उनकी आलोचना को मम्मट के टीकाकारों ने पूर्वपक्ष मानकर उसका समुचित उत्तर दिया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) परे तु - निःशेषदोषराहित्यमाद्यं काव्यलक्षणस्य विरलविषयत्वं स्पष्टमेव, तदुक्तम् ध्वनिकृता द्वित्राण्येव काव्यानि द्वित्रा एव कवयः इति। सुधासागर-पृ022

(2) सुबुद्धिमिश्रास्तु स्फुटदोषराहित्यं वाच्यम्। स्फुटत्वं कविप्रतिभातिरोधानाभाव अस्ति हि प्रतिभावतां काव्ये कश्चन विशेषो यः सामाजिकांश्चित्रार्पितानिव कृत्वा दोषानग्राहकान् करोतीत्याहुः। सुधासागर - पृष्ठ-22।

(3) अत्रेदं तत्त्वम् - स्फुटत्वं रसोद्बोध विरोधित्वम्, अस्फुटत्वं रसोद्बोध विलम्बकत्वम्, रसप्रकर्ष विघातकत्वम्, तथा च अस्फुटत्वां रसोद्बोधाविरोधित्वात् तद्व्यंजनायोगानां काव्यत्वमव्याहृतम्। तद् विघातकत्वं च च्युतसंस्कृति क्लिष्ट---शब्दबुद्धिविघटकतया श्रुतिकटुत्वादेः साक्षाद् रसप्रतिबन्धकतया।
--- सुधासागर - पृष्ठ-23।

<u>सगुणौ::-</u> यह शब्दार्थों का द्वितीय विशेषण है। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों से युक्त निर्दोष शब्दार्थयुगल काव्य है। प्रश्न है कि मम्मट ने स्वत: "ये रसस्यांगिनो धर्मा:" इत्यादि में माधुर्यादि गुणों को रस का धर्म बताया है फिर ये शब्दार्थ के धर्म कैसे हो सकते हैं? मम्मट का खण्डन करते हुए विश्वनाथ ने इस प्रश्न की उद्भावना की है। इसका उत्तर मम्मट के टीकाकारों ने इस प्रकार दिया है कि यद्यपि गुण रस के धर्म हैं तथापि परम्परा से वे शब्दार्थ के भी धर्म हैं। स्वयं मम्मट ने भी 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति: शब्दार्थयोर्मता' कहकर गौणीवृत्ति से गुणों को शब्दार्थनिष्ठ भी माना है। साथ ही गौणीवृत्ति से इन्हें शब्दार्थ का धर्म इसलिए माना गया है कि रस की अभिव्यंजना भी शब्द और अर्थ के द्वारा ही होती है।[१]

आचार्य मम्मट के ऊपर सामान्यत: विद्वान् यह आक्षेप लगाते हैं कि मम्मट स्वयं ध्वनिवादी परम्परा की पंक्ति में ही खड़े हैं और उसमें रस को काव्य का सर्वस्व भी माना गया है किन्तु मम्मट कहीं भी अपने काव्य लक्षण में रस की चर्चा नहीं करते। मम्मट के समर्थकों का दावा है कि सगुणौ विशेषण से ही यह आवश्यकता पूर्ण हो जाती है। क्योंकि गुण रस के धर्म हैं। धर्म और धर्मी में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है, फिर धर्म का नाम लेने से धर्मी रस की प्रतीति स्वत: हो जाती है। यदि मम्मट गुण के स्थान पर रस का नाम लेते तो चित्रकाव्य जो कि नीरस होते हैं उनमें लक्षण अव्याप्त हो जाता है। 'गुण' पद का प्रयोग करने से बड़ी सफलता के साथ सरस काव्य किंवा ध्वनिकाव्य को भी ग्रहण कर लिया। साथ ही गुण परम्परा से शब्द और अर्थ के भी धर्म हैं, अत: चित्रकाव्यों का भी समावेश हो जाता है। बात एक सीमा तक सही भी है, किन्तु शोधकर्ता का मत है कि काव्यलक्षण के निर्धारण में

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरम् गुणपदम्। - प्रदीप -- पृष्ठ- १०।

मम्मट को सुस्पष्ट होना चाहिए था। भट्टनयन्तर से जो उन्होंने रस को अंतर्भूत किया है वह एक क्लिष्ट कल्पना है। साथ ही रस का सीधे नामोल्लेख न होकर उसके गुणरूप धर्म के माध्यम से ग्रहण करना कुछ हृदयग्राही प्रतीत नहीं होता। उन्हें लक्षण में रस का उल्लेख करना ही चाहिए था। भले ही चित्र काव्यों को ग्रहण करने के लिए उन्हें कुछ और भी विशेषण देना पड़ता। किन्तु इस स्थल पर उन्हें अपने काव्यलक्षण को घुमा फिरा कर कहने की अपेक्षा सीधे कहना चाहिए था।

अनलंकृती पुन: क्वापि::-

उसे स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है कि "सर्वत्र सालंकारौ क्वचित् स्फुटालंकारविरहे पि न काव्यत्व हानि:" अर्थात् शब्दार्थ रूप काव्य अलंकार सहित होना चाहिए, किन्तु यदि कहीं पर अलंकारों की स्पष्ट प्रतीति न भी हो तो भी काव्यत्व में हानि नहीं हो सकती। मम्मट के इस कथन से सुव्यक्त है कि वे भी भामह और दण्डी की अलंकारवादिता का आदर करते हैं। काव्य में जितना अदोष तथा गुण का महत्व है, क्या उतना ही अलंकार का है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वृत्ति में सर्वत्र "सालंकारौ" कहकर मम्मट अलंकारों का महत्व कम नहीं करते। किन्तु वे ध्वनिवादी आचार्य हैं। ध्वनि सिद्धान्त में रस की तुलना में अलंकार कहीं गौण हैं। अपनी परम्परा का भी आदर करते हुए मम्मट ने लक्षण में "अनलंकृती पुन: क्वापि कहकर" काव्य में अलंकार को गुण के समकक्ष नहीं माना है। और यह ध्वनिवादी परम्परा के सर्वथा अनुकूल ही है।

यहाँ पर आलोचकों का अपना विचार है कि जब मम्मट काव्य में अलंकार मानते ही हैं, चाहे उनकी स्फुट प्रतीति हो अथवा अस्फुट, तो फिर उन्हें सालंकारौ ही कहना चाहिए था। क्योंकि किसी भी दशा में वे निरलंकार काव्य मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसी प्रकार स्फुट प्रतीति अथवा अस्फुट प्रतीति को। उसे वे वृत्तिभाग में यथावत् कह सकते थे।

उक्त सुझाव का यह आशय ग्रहण नहीं करना चाहिये कि मम्मट का काव्य लक्षण अपूर्ण है। कोई भी निष्पक्ष समीक्षक इसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। इसका कारण यह है कि मम्मट के काव्य लक्षण में प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रचलित काव्य-लक्षण के तत्व को ग्रहण कर सम्यक् समन्वित किया गया है। इसमें सभी अपनी अमूल्य निधि खोज लेते हैं। इसके अत्यन्त प्रचलित होने का यही रहस्य है। निःसन्देह परवर्ती आचार्य विश्वनाथ एवं पंडित जगन्नाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण को ध्वस्त करने की असफल चेष्टा की है और उसी तोड़फोड़ के निष्कर्ष के रूप में उन्होंने क्रमशः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तथा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इत्यादि प्रकार से काव्य का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया है, किन्तु ये काव्य-लक्षण एकांगी हैं। इनसे समस्त काव्य का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं हो पाता। अस्तु। मम्मट का काव्य-लक्षण प्रशस्त, पूर्ण एवं समन्वय की भावना से भरा होने के कारण स्तुत्य है।

## -: काव्य का विभाजन :-

काव्य के विभाजन में मम्मट का दृष्टिकोण समन्वयात्मक नहीं है अपितु पूर्ण रूप से वे ध्वनि सम्प्रदाय का ही अनुसरण करते हैं। गद्यकाव्य, पद्य काव्य तथा मिश्र काव्य इत्यादि अथवा भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य इत्यादि प्रभेदों के काव्यविभाजन का वे कोई संकेत भी नहीं करते। व्यङ्ग्य के तारतम्य के आधार पर ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा चित्र काव्य रूप तीन भेद प्रस्तुत किया था। इस विभाजन का मुख्य आधार एक मात्र यही है कि व्यङ्ग्य की सत्ता काव्य में है या नहीं। और यदि है तो उसके अस्तित्व की प्रकृति क्या है। आशय यह है कि व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव वाच्यार्थ से प्रधान है या अप्रधान अथवा काव्य निर्व्यङ्ग्य केवल वाच्यार्थमात्र है। ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने अपने सम्प्रदाय में मान्य उक्त तीनों काव्य भेदों का क्रमशः उत्तमकाव्य,

मध्यम काव्य तथा अवर काव्य कहा है। यह नामकरण मम्मट की अपनी देन है। तीनों का क्रमश: विवेचन मम्मट तथा उनके टीकाकारों की दृष्टि से यहां द्रष्टव्य है।

उत्तमकाव्य :- मम्मट इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधै:कथित:।

अर्थात् वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य के उत्कृष्ट होने पर विद्वानों ने ध्वनि कहा है। इसे ही उत्तमकाव्य कहते हैं। स्पष्ट है कि ध्वनिकाव्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान रूप से होती है। उक्त लक्षण ध्वनिकार की इस कारिका के अनुसार है -

"यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि:कथित:"।।

भाव यह है कि जहां पर अर्थ अपने को और शब्द अपने अंश के अप्रधान करके उस विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

ध्वनिवादी आचार्य इस बात से यह मानते हैं कि काव्य में ध्वनि की कल्पना उन्होंने वैयाकरणों के यहां से लिया है। आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को 'सूरिभि' तथा मम्मट ने 'बुधै:' पद से अभिव्यक्त किया है। वृत्तिभाग में मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है कि वैयाकरण प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्ग्य के व्यंजक शब्द को ध्वनि कहते हैं। उन्हीं के अनुसरण पर काव्य में भी वाच्य के गौण होने पर व्यंग्य के व्यंजक शब्दार्थ युगल को ध्वनि कहा जाता है।

---

१- काव्य प्रकाश पृष्ठ १००

**ध्वनिकाव्य का उदाहरण और उसकी समीक्षा: -**

ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में मम्मट ने निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है -

> निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
> नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

इसमें कोई विदग्धा नायिका अपनी दूती के कुकृत्य पर उसकी भर्त्सना करती हुई कहती है कि तू वापी में स्नान करने गई थी उस अधम के पास नहीं । वस्तुतः शब्दों के द्वारा स्नान का ही वर्णन किया गया है । अतः यही इसका वाच्यार्थ है जो निषेध रूप है, किन्तु वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य से इसका ऐसा अर्थ प्रतीत होता है- वापी में स्नान करने का केवल बहाना है, तू तो उस अधम के पास रमण करने गई थी । यही इसका व्यंग्यार्थ है जो विधि रूप है । यहाँ पर विधिरूप व्यंग्यार्थ, निषेध रूप वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी है, अतः यह ध्वनिकाव्य का उदाहरण है । उक्त व्यंग्यार्थ का व्यंजक प्रधान रूप से अधम पद है । अधम पद का वाच्यार्थ है- दुःखद कर्म करने वाला (दुःखप्रयोजक कर्मशील) किन्तु वक्त्रादि वैशिष्ट्य से इसका व्यंग्यार्थ है-अन्य नायिका सम्भोग द्वारा वेदना उत्पन्न करने वाला । उद्योतकार ने इसे स्पष्ट कर दिया है ।[1]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- विदग्धवाक्तात्पर्यपर्यालोचनया वापीयुक्त्या स्नानसाधारण्येनैव पर्यवसाने तु वक्तृ बोद्धव्यादि वैशिष्ट्यवशात् दुःखप्रयोजक कर्मशीलत्वरूपाधम पदार्थघटक कर्मपदार्थे-वाच्यत्वादशायां कर्मान्तर साधारण्ये नावस्थितेऽपि व्यंजनया दूतीसंभोगरूपतादृशकर्मविशेषेण पर्यवस्यतीति । अत एवाधमपदस्य अधमपदेनैव युक्तिध्वनितं प्राधान्यम् ।

उद्योत पृष्ठ १७

इस स्थल पर प्रदीपकार का एक उल्लेखनीय योगदान है। उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में यह उद्भावना की है कि स्नान के वास्तविक न होने से, इसमें मुख्यार्थ बाधित हो रहा है। अतः विपरीत लक्षणा है, यहाँ लक्ष्यार्थ की ही प्रतीति होती है व्यंग्यार्थ की नहीं। अन्यथा वक्ष्यमाण लक्षणामूला-व्यंजना के उदाहरण 'साहेन्सो दधि सुमहे' इत्यादि में लक्षणा न होकर व्यंजना ही माननी पड़ेगी।१

इस पूर्वपक्ष के समर्थकों के मत को भी प्रदीपकार 'अत्र केचिद्' इत्यादि कहकर बताते हैं। उनके समर्थन का स्वरूप इस प्रकार है- यहाँ पर विपरीत लक्षणा ही है। वृत्ति में जो मम्मट ने 'अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्रधान्येनाभिधेयेन व्यज्यते' लिखा है उसका अन्वय इस प्रकार है -- 'तदन्तिकमेव गतासीति' इसके साथ 'इति लक्ष्यते' और जोड़ देना चाहिए तथा 'रन्तुं' को 'व्यज्यते' के साथ अन्वित करने पर विरोध नहीं रह जाता। तब 'उसके पास ही गई थी' यह लक्ष्य होगा और रमण करने गई थी यह व्यंग्य, इस प्रकार से इसमें विपरीत लक्षणा स्वीकार की जा सकती है।२

प्रदीपकार उक्तमत से सहमत नहीं हैं। इनका कथन है कि वस्तुतः मुख्यार्थ के अन्वय की अयोग्यता लक्षणा का कारण नहीं होती और व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाने पर बाधज्ञान का भी कोई महत्त्व नहीं होता। जैसे जहाँ पर स्तनादि के किए गए कामुकादि सम्भोग किसी अन्य प्रमाण से श्रोता को उसका बोध करावें, तो वहाँ पर निस्सन्देह मुख्यार्थ बाधादि के कारण विपरीत लक्षणा होगी। इसी अभिप्राय से 'साहेन्सो' इत्यादि पद्यों में विपरीत लक्षणा मानी गई है। किन्तु जहाँ सम्भोगादि के ज्ञापक प्रमाणान्तर विद्यमान हों वहाँ वाक्यजन्य प्रत्यय के महत्त्व से ही उसका बोध हो जाता है। अतएव लक्षणा इस

---

(१) नन्वत्र मुख्यार्थबाधाद्विपरीतलक्षणया तदन्तिकमेव गतासीति लक्ष्यमेव युक्तं, न तु व्यंग्यम् अन्यथा 'साहेन्सो' इत्यादिवक्ष्यमाण लक्षणामूलव्यंजनोदाहरणेऽपि विपरीत लक्षणया न स्यात्। प्रदीप पृष्ठ- १७।

(२) द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ- १७ ।

स्थल पर नहीं हो सकता । क्योंकि मुख्यार्थबाध निबन्ध ही नहीं हो रहा है और वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर यदि बोधज्ञान होता है तो उसका कोई महत्त्व ही नहीं ।१

अस्तु । मम्मट का ध्वनिकाव्य का उदाहरण सर्वथा समीचीन है । इससे व्यङ्ग्यप्रधानरूप उनका दृष्टिकोण सुस्पष्ट हो जाता है । टीकाकारों ने भी इसी दिशा में उनके अभिप्राय को ग्रहण किया है ।

मध्यमकाव्य::-

उत्तमकाव्य में जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ध्वनिकाव्य स्वीकार किया गया था वहाँ मध्यम काव्य में व्यङ्ग्य के प्रधान न होने पर गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है । मम्मट के अनुसार -'अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्' - अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य या मध्यमकाव्य होता है । इस स्थल पर मम्मट ने ध्वनिकार की जिस मान्यता का पोषण किया है वह इस प्रकार है ---

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ।' ध्वन्यालोक ३।२५

ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूत व्यंग्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -- 'व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यंग्यता' । स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन व्यंग्य की प्रधानता व अप्रधानता की दृष्टि से यह विभाजन करते हैं । जहाँ तक काव्य के इस द्वितीय

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) परमार्थतस्तु न खलु मुख्यार्थान्वयायोग्यत्वं लक्षणायां बीजं किन्तु ज्ञातम् तथा च यत्र सत्यपि प्रत्यक्षानुमानविसम्भोगः, प्रमाणान्तरेण बोधः प्रतीतिमुपगतस्तत्र मुख्यार्थबाधादस्तु लक्षणा । तदभिप्रायेणैव 'सर्वेन्तो सति मुख्ये' 'उपकृतं बहु तत्र' इत्युदाहृतम् । यत्र तु प्रमाणान्तरस्तु न तज्ज्ञापकमन्तरति [illegible] लक्षणा, बाधाभावात् उत्पन्ने च वाक्यार्थबोधे अनन्तरमपि बाधो अकिंचित्करः एव ।

-- प्रदीप पृष्ठ-१७ ।

भेद की रमणीयता का प्रश्न है, ध्वनिकार उसकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं -- 'इदं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकवि विषयो अति रमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः ।' और 'प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः यत्र तेषु प्रकारोऽयमेवं योज्यः सुमेधसा' । इन उक्तियों से स्पष्ट है कि किसी प्रकार के गुणीभूतव्यंग्य काव्य को ध्वनिकार, ध्वनिकाव्य से निम्नकोटि का स्वीकार करना नहीं चाहते । क्योंकि यह भी महाकवियों की वाणी है ।

प्रश्न एक यह भी है कि जब ध्वनिवादी आचार्यों ने इस काव्य की रमणीयता की मुक्तकंठ से सराहना की है, तो फिर मम्मट इसे मध्यमकाव्य क्यों कहते हैं ? मध्यम शब्द से तो यही ध्वनित होता है कि इस प्रकार का काव्य न तो उत्कृष्ट होता है और न अनुत्कृष्ट अपितु बीच का साधारण कोटि का काव्य होता है । वस्तुतः यह कथन मम्मट की परम्परा के विरुद्ध है । मम्मट का अभिप्राय ध्वनिवादी आचार्यों से भिन्न नहीं कहा जा सकता । प्रतीत ऐसा होता है कि इन्होंने भी उत्तम, मध्यम इत्यादि नाम काव्य की रमणीयता की दृष्टि से नहीं रखा, अपितु व्यंग्य के तारतम्य की दृष्टि से रखा है । व्यंग्य के स्फुट रूप से काव्य में विद्यमान रहने पर काव्य चमत्कारी होगा । चाहे यह व्यंग्य प्रधान रूप से रहता है या वाच्य की अपेक्षा गौणरूप से रहता है, इससे काव्य की चारुताकारिता में अन्तर नहीं पड़ता । मम्मट का आशय इस उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जाता है ---

'ग्रामतरुणं तरुण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

इसमें किसी तरुणी (नायिका) ने वंजुल के लतागृह में ग्राम तरुण (नायक) से मिलने का वचन दिया था । नायक उचित समय पर संकेत स्थान पर पहुंच जाता है । नायिका गृहकार्यों से तथा अन्य गुरुजनों की उपस्थिति के कारण वहां नहीं पहुंच पाती । तदनु नायक वंजुललता की नवीन कली को हाथ में लेकर नायिका के सामने से जाता है । उसे देखकर नायिका का मुख दुःख से मलिन हो जाता है ।

यहाँ व्यंग्यार्थ है - कुंजलता में तुमने मिलने का संकेत स्वयं दिया था, किन्तु नहीं आया। वाच्यार्थ है - उसका मुख कान्तिहीन हो जाता है। यहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य ही चमत्कारी है। इसे स्पष्ट करते हुए संकेतकार माणिक्यचन्द्र का कथन है कि यहाँ व्यंग्य स्वतः गौण रहकर वाच्यार्थ के उत्कर्ष को बढ़ा रहा है। कामिनी का मुख मालिन्य (वाच्यार्थ) जितना कामुक के प्रति स्नेहातिरेक बता रहा है उतना व्यंग्यार्थ नहीं।[1]

इस पद के व्याख्यान में टीकाकारों का विशेष योगदान है। किस पद से क्या व्यंजित होता है इस पक्ष पर कुछ विचार द्रष्टव्य है। सर्वप्रथम 'ग्रामतरुण्या' को लेकर टीकाकारों में मतभेद उत्पन्न हुआ। कहना है कि 'ग्राम' विशेषण से सदैव निकट रहने के कारण संकेत दानयोग्यता अथवा स्नेहातिशय व्यंजित हो रहा है। सुधासागरकार ने इस मत को उद्धृत कर खण्डन किया है कि वैसी दशा में तो दूसरे दिन भी सम्भोग के प्रति आशा होने से विप्रलम्भ शृंगार कहाँ से प्राप्त हो जायेगा।[2] एक दूसरा अर्थ यह भी है माना जाता है कि इससे ग्रामस्थ सम्पूर्ण युवतियों के द्वारा प्रार्थ्यमान होने के कारण दुर्लभत्व व्यंजित हो रहा है।[3] भीमसेन दीक्षित इस सन्दर्भ में चार मतों को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार हैं -- ग्राम का स्त्रीसमूह से सम्बन्धित तरुण और इससे अनेकनारी प्रार्थ्यमानत्व सूचित होता है। कुछ का कहना है कि बारम्बार देखे जाने के कारण किसी शंका का उदय किसी को न हो अतः ग्राम विशेषण रखा गया। कुछ यहाँ तक कहते हैं कि ग्रामीणता के कारण दुबारा अनुकूल करने की असमर्थता व्यंजित हो रही है[4] सुधासागरकार की मान्यता

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) यथा मुखमालिन्यच्छायया कामिन्याः कामुकं प्रति रागोत्कर्षः प्रतिपाद्यते न तथा व्यंग्येन। प्रेम्णा हि खलु संकेतच्युतायाः मुखमालिन्यभावात्। संकेत पृष्ठ- ६।

(२) सुधासागर टीका - पृष्ठ- ३८।

(३) तेन ग्रामस्य सकलयुवतिजन प्रार्थ्यमानतया दुर्लभत्वं व्यज्यते। उद्योत पृष्ठ- १८।

(४) ग्रामस्य स्त्रीसमूहस्य तरुण श्रेष्ठः तेनानेकनारी प्रार्थ्यमानत्वं सूच्यते। मुहुर्दर्शनेऽपि शंकानुदयाय ग्रामेति विशेषणम् इत्यन्ये। ग्राम तरुण इति ग्रामीणतया पुनरनुकूलयितुमशक्य इति व्यज्यते। सुधासागर पृष्ठ- ३८।

है कि ग्रामीण बलवान होते हैं। उक्त व्यक्ति भी सम्भोग के लिए उद्यत होते हैं। अत: ग्राम्य पद से बलवत्व होने के कारण सर्वोत्कृष्ट कामुकत्व व्यंजित हो रहा है।१ पद्य के अन्य पदों का व्यंजकत्व उद्योतकार के अनुसार इस प्रकार है --- नायक और नायिका दोनों के तरुणत्व से परस्परानुराग 'नव' पद से- नूतन वस्तु के करग्रहण का औचित्य व्यंजित होता है। 'सनाथ' पद से नायिका के द्वारा देखे जाने पर भी सौभाग्यातिशय के कारण अतिकमनीयता व्यंजित हो रही है। इत्यादि।२

अवरकाव्य::-

मम्मट के अनुसार यह काव्य का तृतीय प्रकार है। व्यंग्य को ही मानदण्ड मानकर इसका भी स्वरूप निर्धारित किया गया है, जो इस प्रकार है -- 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रम् अव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्'। चित्रादि पदों को स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन भी द्रष्टव्य है-- 'चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्, अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम् अधमम्। स्पष्ट है कि चित्र से मम्मट का अभिप्राय गुणाभिव्यंजक शब्द और अर्थ तथा अलंकारयुक्त शब्द और अर्थ है। अव्यंग्य पद से सर्वथा व्यंग्य राहित्य अर्थ न लेकर वे स्फुट रूप से व्यंग्य प्रतीति का अभाव अर्थ लेते हैं। अव्यंग्य में नञ् ईषदर्थ में है जिसे टीकाकार ने तय कर दिया है। क्योंकि ऐसा कोई भी काव्यविषय नहीं है जिसका अन्ततः पर्यवसान विभावादि रूप से रस में न होता हो।३ इतना ही नहीं

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अयं तु ग्राम्य तरुणः ग्राम्यत्वेन बलवत्वेन सर्वोत्कृष्टकामुकत्वं व्यंग्यम् इति प्रदीपः

-- सुधासागर पृष्ठ- ३८।

(२) द्वयोस्तरुणत्वेन परस्परानुरागोत्कर्षो व्यज्यते, नवेत्यनेन नूतनवस्तुनः करग्रहणस्यौचित्येनातिकमनीयता। सनाथो युवा नायकसहितः। तेनाति- सौभाग्यातिशयवत्या नायिकया दर्शने पि अतिकमनीयता। उद्योत पृष्ठ- १८।

(३) अव्यंग्यमित्यत्र न शब्दस्येषदर्थे तेनेषदस्फुटतरं व्यंग्यं यत्र तथा। न तु सर्वथा निर्व्यंग्यम्। अत: स नास्ति कश्चिद्विषयो यत्रान्ततो विभावादि- रूपतया रसपर्यवसायिता नास्तीति [illegible]। [illegible] पृष्ठ- ६।

संकेतकार यहाँ तक कहते हैं कि जो काव्य केवल वाच्यवाचक की विच्छित्ति से युक्त होता है वही चित्रकाव्य है। यह विच्छित्ति उसमें चाहे रसादि व्यंग्ययुक्त काव्य के अनुकरण से हो अथवा आडम्बरपूर्ण शब्दों की संयोजना से हो यहाँ वैचित्र्यमात्र है या कलामात्र के प्रदर्शन से हो।१ सुधासागर टीका में इस दृष्टि पर विचार किया गया है कि इस प्रकार के काव्य को चित्रकाव्य क्यों कहा जाता है। तदनुसार समाज में लोग देवादि अथवा राजादि का चित्र बनाते हैं। उसे सर्वप्रथम रेखांकित कर अनेक रंगों से रंग कर भलीभाँति चित्ताकर्षक बना देते हैं। यह निर्मिति यद्यपि देवादि या राजादि का वास्तविक रूप नहीं है, उसे उनका चित्र कहा जाता है तथापि वही कालान्तर में जनसमुदाय के स्मरण और पूजन का विषय बनता है। ठीक इसी प्रकार चित्रकाव्य में कवि गुण और अलंकारों की संयोजना कर उसमें विचित्रता भरकर आकर्षक बनाता है। उसी आकर्षण में सहृदय कुछ क्षण विश्राम करता हुआ समयान्तर में आस्वाद पा लेता है। तत्क्षण उद्देश्य का निर्वाह न कर पाने के कारण उसे अधम कहा जाता है।२

चित्रकाव्य के निर्णय में मम्मट यद्यपि ध्वनिकार की परम्परा में ही हैं, तथापि ध्वनिकार चित्रकाव्य को जिस सीमा तक अस्वीकरणीय मानते हैं उतना मम्मट मानने के पक्ष में नहीं हैं। ध्वनिकार ने व्यंग्य की प्रधानता व गौणभाव में काव्य के दो भेद मानने के पश्चात् चित्रकाव्य नामक तीसरा भेद भी माना और उसके शब्दचित्र तथा अर्थचित्र रूप दो भेद किया।३ इसकी चित्रता के

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है - संकेत पृष्ठ- ६।

(२) यथा चित्रे देवादेर्नृपादेर्वा आकृतिमभिनीय लिखित्वा प्रकृत्या लिखितचित्रवर्णक रेखाघटना वैचित्र्येण स्वरूपं विस्मापयत् यावत्कालं प्रकृत्यास्माकं, तथा अत्रापि कतिपयास्वादोद्बोधाय निबद्धेनालंकारे स्फुटं वैचित्र्येणा- स्मानि सहृदयं विश्राम्य पश्चात् स्वं कथंचिदंशतया स्वाद्यत इति चित्रता। अतएव कतिपयोद्देश्यानिर्वाहक स्वादधमत्वेति बोध्यम्। सुधासागर पृष्ठ-३६।

(३) प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते। काव्ये उभे ततो अन्यद् यच्चित्रमभि- धीयते। चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रम तः परम्।। ध्व० ३।४२।४३।

विषय में उनका मत है कि इस काव्य में कवि की न तो रसादिविषयक विवक्षा रहती है और न किसी प्रकार व्यंग्य के प्रकाशन की क्षमता। इसकी रचना चित्रवत् होती है जो कि केवल शब्द वैचित्र्य तथा अर्थवैचित्र्य के आधार पर रची जाती है।[1] आनन्दवर्धन चित्रकाव्य को वस्तुतः मुख्य काव्य ही नहीं मानना चाहते अपितु उनकी दृष्टि में वह काव्य का अनुकरण मात्र है।[2] इतना ही नहीं वह सम्पूर्ण अलंकार योजना जिसकी विश्रान्ति रसभावादि रूप काव्य में नहीं हो पाती वह सब कुछ चित्रकाव्य के क्षेत्र में समेटी जा सकती है। ध्वनिकार स्वयम् कहते हैं --

"रसभावादि विषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकार निबन्धो यः स चित्र विषयो मतः ।

स्पष्ट है कि यद्यपि मम्मट के चित्रकाव्य का स्वरूप ध्वनिकार के चित्रकाव्य के अनुसार ही है, तथापि जिस सीमा तक ध्वनिकार इसे काव्य के क्षेत्र से पृथक् करना चाहते हैं उतना मम्मट को अभीष्ट नहीं है। यह तथ्य वृत्तिभाग के विवेचन के स्वारस्य से प्रतीत होता है। क्योंकि व्यंग्य का सर्वथा अभाव न मानकर केवल उसकी स्फुट प्रतीति का अभाव मानना तथा इसमें गुण की सत्ता स्वीकार करना इस बात का द्योतक है कि मम्मट चित्रकाव्य को काव्य की छाया मात्र न मानकर उसका स्वतंत्र सद्भाव मानते हैं और काव्यसरणि में उसका यथोचित स्थान देते हैं। यही वास्तविकता भी है। इस वास्तविकता को न भूलना ही मम्मट का यहाँ पर प्रशंसनीय योगदान है। उन्होंने शब्दचित्र तथा अर्थचित्र दोनों का सोदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। शब्दचित्र के उदाहरण में केवल अनुप्रास अलंकार की छटा दिखायी गई है किन्तु अर्थचित्र के उदाहरण में

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितम् व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् ।
-- ध्व० ३.४२ ।

(२) न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । ध्वन्यालोक पृष्ठ-२२०
-- निर्णयसागर से प्रकाशित ।

टीकाकारों का कुछ मौलिक योगदान है, अतएव वह यहाँ पर विवेच्य है। उदाहरण इस प्रकार है --

"विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥

इस पद्य में कवि का उद्देश्य "भियामरावती निमीलिताक्षीव" इस उत्प्रेक्षा की संयोजना में है। अतः प्रधानरूप से उत्प्रेक्षालंकार के निरूपण के कारण यह पद्य अर्थचित्र काव्य का उदाहरण है। प्रदीपकार का मत है कि उक्त पद्य अर्थ चित्र काव्य का उदाहरण नहीं हो सकता। क्योंकि हयग्रीव यहाँ वर्णनीय विषय है। उसके प्रभाव की स्फुट प्रतीति होने से वीर रसादि की चर्वणा होती है। अतः प्राचीनों का चित्रकाव्य का यह उदाहरण समीचीन नहीं है। प्रदीपकार अपना एक उदाहरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार है ---

"मध्ये व्योम स्फुरति सुमनोधन्वनः स्यन्दनाङ्कं
मन्दाकिन्या विपुलपुलिनाभोगगो राजहंसः।
अङ्कच्छेदे रजत वरणान्यासमकोश लक्ष्म्याः
संस्पर्शन्याः स्वर्णपत्रितं पुण्डरीकं मृगाङ्कः ॥

यहाँ पर रूपक अलंकार है और केवल उसी में कवि का तात्पर्य है, न कि रसादि में। प्रदीपकार का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मम्मट द्वारा उदाहृत पद्य में हयग्रीव का वीर रस व्यंग्य है।१

उद्योतकार तथा सुधासागरकार ने प्रदीपकार के मत का विरोध

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) विनिर्गतमित्यत्रोत्प्रेक्षालंकार इति प्राञ्च उदाहरन्ति। परं तु रसादौ कवेः तात्पर्यविरहो स्फुटरसं वा तत्र जायते। हयग्रीवस्य वर्णनीयतया तत्प्रभावस्य स्फुटं प्रतीतेः। मदीयं तु पद्यम् उदाहरणीयम्। यथा मध्येव्योम----। अत्र रूपकमर्थालंकारः तन्मात्रे तात्पर्यं न तु रसादौ।

-- प्रदीप - पृष्ठ-२२।

किया है और मम्मट के उदाहरण के प्रति अपना पूर्ण समर्थन भी व्यक्त किया है। तदनुसार कवि का तात्पर्य वीर रस की ओर न होकर केवल उत्प्रेक्षा रूप अर्थ चित्र में ही है। साथ ही हयग्रीव, नाटक का प्रतिनायक है। अत एव उसका वीररस यहाँ व्यंग्य ही नहीं हो सकता। यदि स्फुट रूप से कुछ प्रतीत होता है तो वह है वीररसाभास और वह भी कवि को मुख्य रूप से विवक्षित नहीं है। अतः मम्मट का उदाहरण उपयुक्त है।१

औधर्ववर्त के मत से प्रदीपकार के विचार का नितान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः 'विनिर्गतम्' इत्यादि पद्य में वीररस की स्फुट प्रतीति होती है। सुधासागर-कार का यह कथन कि हयग्रीव प्रतिनायक है अतएव उसके प्रभाव की प्रतीति होने पर वीररस व्यंग्य न होकर यदि कुछ व्यंग्य है। तो वह वीररसाभास है, तर्कसंगत नहीं है। यदि इनकी बात मानी जाय तो मम्मट ने चतुर्थ उल्लास में स्वतंत्र रूप से वीर रस का जो उदाहरण दिया है वह भी रसाभास के क्षेत्र में आ जायेगा। वहाँ पर हनुमन्नाटक से गृहीत उदाहरण इस प्रकार है —

> 'क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
> युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
> सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
> किंचिद्भ्रूभंगलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ।।

इसमें भी वक्ता मेघनाद है जो प्रतिनायक है। उसके उत्साह वर्णन से रस न मानकर यहाँ रसाभास हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। सहृदयों को वीररस की सुस्पष्ट प्रतीति यहाँ होती है। इसी प्रकार हयग्रीववध नाटक के उदाहरण में भी रसाभास नहीं मान सकते, अपितु स्फुटरूप से वीररस व्यंग्य है। अतएव यह उदाहरण अर्थ चित्र काव्य का नहीं हो सकता और प्रदीपकार का मत सर्वथा समर्थन के योग्य है।

---

(१) किं बहुना इत्यादि हयग्रीवस्य युद्धविषयकोत्साह रसत्वे न कथंचिद् वीरः सम्भाव्यते किन्तु स्थायिनः तदेकाश्रयत्वेन वीराभास एव स्यात्। तस्माद् वाग्देवताकर्तृतोक्तिरनवद्यैवेति मन्तव्यम्। सुधासागर पृष्ठ ४२ - (चौखम्भा प्रकाशन)

-- शब्दार्थ-स्वरूप::-

"तददोषौ शब्दार्थौ" इत्यादि काव्य की परिभाषा निर्धारित करते समय मम्मट ने "शब्दार्थयुगल" को विशेष्य मानकर उसे प्रयुक्त किया है। अतएव उनके लिए यह आवश्यक है कि वे शब्द और अर्थ का समुचित स्वरूप प्रस्तुत करें। काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में उन्होंने शब्दार्थ का सर्वांगीण विवेचन किया है। ज्ञातव्य है कि मम्मट ने यहां पर शब्द का लक्षण न देकर केवल उसके प्रकार पर विचार किया है। ऐसा इसलिए कि काव्य में वस्तुतः उसके प्रकार की ही जानकारी महत्व रखती है। तदनुसार काव्य में शब्द वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकार के होते हैं। इन त्रिविध शब्दों से क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ की प्राप्ति होती है। उल्लेखनीय है कि एक शब्द केवल एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। बल्कि एक ही शब्द वाचक लक्षक तथा व्यंजक तीनों प्रकारों में अपने को रख सकता है। अतिसंक्षेप में इनकी एक रूपरेखा जान लेना आवश्यक है, जिससे आगे विषय का स्पष्टीकरण सरल हो सके।

किसी भी शब्द का एक मुख्य अर्थ होता है। यथा "गौ" शब्द का अर्थ है एक सास्नादिमान् पशु विशेष। गौ शब्द के उच्चारण से इसी अर्थ या वस्तु की प्रतीति होती है। यही वाच्यार्थ है। इस मुख्य अर्थ या वाच्यार्थ को व्यक्त करने वाला "गौ" आदि शब्द उसका वाचक कहा जाता है। वाचक शब्द से, वाच्यार्थ की प्रतीति जिस व्यापार के द्वारा होती है उसे अभिधा व्यापार कहते हैं। ठीक यही प्रक्रिया लक्षक शब्द, लक्ष्यार्थ तथा लक्षणा व्यापार और व्यंजक शब्द, व्यंग्यार्थ और व्यंजना व्यापार में होती है। हम यहां पर अभिधादि शीर्षक के अन्तर्गत मम्मट के योगदान को संगृहीत करेंगे। यद्यपि इसी प्रसंग में मम्मट ने तात्पर्यार्थ की भी चर्चा की है, किन्तु उसका स्वरूप आगे व्यंजना प्रतिष्ठापना के अवसर पर प्रस्तुत किया जायेगा। यहां अभिधादि की मीमांसा द्रष्टव्य है।

अभिधा-प्रकरण::- ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि वाचक शब्द से वाच्यार्थ का बोध जिस व्यापार से होता है उसे अभिधा व्यापार कहते हैं। इसका समुचित

व्याख्यान आगे अवसर प्राप्त कर हम इसी प्रसंग में करेंगे। इसकी स्पष्ट जानकारी के लिए वाचक शब्द तथा वाच्यार्थ का स्वरूप इससे पहले जानना आवश्यक है। मम्मट ने भी इन दोनों तत्त्वों की समीक्षा अभिधा व्यापार को परिभाषित करने के पूर्व किया है। अतएव उसी रूप में विवेचन यहां द्रष्टव्य है।

वाचक शब्द और वाच्यार्थ ::-

वाचक शब्द का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए मम्मट की कारिका इस प्रकार है--"साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" अर्थात् जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध करावे उसे वाचक शब्द कहा जाता है। लोक व्यवहार में जिस शब्द का संकेतग्रह नहीं हुआ है उसके अर्थ का बोध नहीं हो सकता। संकेतग्रह की सहायता से ही शब्द अपने अर्थ की प्रतीति कराता है। अतएव जिस अर्थ में साक्षात् (बिना व्यवधान के) संकेत ग्रहण किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है और अर्थ को वाच्यार्थ की संज्ञा दी जाती है। यहां पर संकेत और साक्षात् ये दो पद स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः वाच्य-वाचक भाव की नियामक एक व्यावहारिक स्वीकृति या मान्यता ही संकेत है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है या अमुक अर्थ का प्रतिपादक अमुक शब्द है इस प्रकार की एक व्यावहारिक संविदा होती है जिसे मनीषियों ने संकेत संज्ञा दी है।

शब्द से अर्थ का बोध किस प्रकार होता है, इस विषय पर व्याकरण, न्याय तथा वैशेषिक इत्यादि में विवेचन प्राप्त होता है। संकेत के पर्याय के रूप में 'समय' पद का भी प्रयोग प्राप्त होता है। न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट के अनुसार वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का नियामकता का नाम समय है।[1] वैशेषिक के अनुसार भी शब्द से अर्थ का सम्प्रत्यय समय या संकेत के अधीन होता है।[2] न्याय दर्शन का तो यहां तक कहना है कि समय के अभाव में शब्द से अर्थ की प्रतीति हो नहीं हो सकती।[3]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अभिधानाभिधेयनियमनियोगः समयः उच्यते। न्यायमंजरी पृष्ठ-२२१।

(२) सामयिकः शब्दादर्थः सम्प्रत्ययः।

(३) न सामयिकत्वाच्छब्दार्थः सम्प्रत्ययस्य। न्यायदर्शन २-२-५५ ।

संकेत या समय का स्वरूप द्विविध माना गया है । प्राचीन नैयायिकों के मत से यह ईश्वरेच्छारूप है । अर्थात् इस शब्द का यह अर्थ हो ऐसी ईश्वर की ही इच्छा थी । नवीनों के अनुसार किसी के भी द्वारा संकेत किया जा सकता है ।

साक्षात् पद का समाधान::-

वामनाचार्य झलकीकर ने 'साक्षात्' पद का स्पष्टीकरण किया है । तदनुसार संकेत दो प्रकार का होता है । एक साक्षात् संकेत और दूसरा है व्यवहित (परम्परया) संकेत । यथा वट एक वृक्षविशेष का नाम है । इसी वृक्ष रूप अर्थ में वट शब्द का साक्षात् रूप में संकेत है। किन्तु कभी-कभी उस ग्राम को भी वट ग्राम (बड़गांव) कहा जाने लगता है, जिसमें कि वह वटवृक्ष विद्यमान है । ऐसी दशा में उस शब्द का साक्षात् संकेत ग्रहण नहीं है । अपितु उसमें परम्परया सम्बन्ध है ।[१] अतएव 'साक्षात्' पद उक्त वाचक शब्द के लक्षण में 'संकेतित' पद के विशेषण के रूप में रखा गया है । प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि जब किसी शब्द का (बिना व्यवधान के) साक्षात् रूप से किसी अर्थ में संकेत ग्रहण होता है तब वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है ।[२]

प्रश्न होता है कि संकेत ग्रहण व्यक्ति में होता है या उस व्यक्ति की उपाधि जाति, गुणादि में । प्रायः सभी सम्प्रदायों ने व्यक्ति में संकेत ग्रहण स्वीकार नहीं किया है । उनके मतों का सार प्रस्तुत करते हुए मम्मट का कथन है कि व्यवहार में प्रयोजन की निष्पत्ति के लिए व्यक्ति में ही प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है । 'गामानय' कहने पर 'गो' व्यक्ति ही लाया जाता है । 'अग्निं मा स्पृश' कहने पर अग्नि व्यक्ति से ही निवृत्ति होती है, तथापि यदि व्यक्ति में संकेत ग्रहण मान लिया जाय तो उसमें तीन प्रकार के दोष होंगे।[३]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) बालबोधिनी - पृष्ठ- ३९ ।

(२) यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहित संकेतग्रहो यदर्थग्रह उपयुज्यते तत्र स तदर्थवाचकः ।

-- प्रदीप पृष्ठ-२६ ।

(३) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश - पृष्ठ- ३३ ।

वे दोष हैं-- (१) आनन्त्य (२) व्यभिचार तथा (३) परस्पर विषयों के विभाग का अभाव । तीनों का स्वरूप मम्मट के टीकाकारों की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत किया जाता है ।

आनन्त्यदोष::-

यदि व्यक्ति में संकेत ग्रहण किया जाय तो व्यक्ति अनन्त हैं । 'गौ' कहने पर संसार के समस्त गौ व्यक्ति में संकेत होगा । यदि 'गाम् आनय' कहा जाय तो संसार के समस्त गौ व्यक्ति किं बहुना वे सब गौ व्यक्ति जो वर्तमान में हैं, जो भूत में थे और जो भविष्य में होंगे उन सब को एक स्थल पर लाना होगा जो कि एक असंभव कार्य है । अतः व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से अनन्त गौ व्यक्ति की उपस्थिति माननी पड़ेगी और इस प्रकार आनन्त्य दोष आ पड़ेगा ।[1]

व्यभिचार दोष::-

यदि यह कहा जाय कि गोत्व जिस व्यक्ति विशेष से प्रयोजन हो उसी में संकेत ग्रह माना जाय तो उसमें व्यभिचार दोष होगा । आशय यह है कि इससे केवल एक ही गौ व्यक्ति की प्राप्ति हो सकेगी शेष अन्य गौ व्यक्तियाँ छूट जायेंगी । विवरणकार ने इसे स्पष्ट किया है ।[2]

विषय विभाग का अभाव::-

यदि किसी प्रकार से व्यक्ति में संकेतग्रह उक्त आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के होते हुए भी स्वीकार कर लिया जाय तो एक तीसरा दोष ऐसा है जिससे विभिन्न अर्थों का भेद प्रकट हो न हो सकेगा । 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' (डित्थ नामक श्वेत बैल जा रहा है) इस वाक्य में गौ पद का अर्थ गोत्वरूप जातिमान्, शुक्ल का अर्थ शुक्लत्वरूप गुणवान्, चल का अर्थ चलन रूपक्रियावान् तथा

---

(१) अनन्तानाम् गौ व्यक्तीनाम् एको पदिक असंभवेन तत्र संकेतो गृहीतुं न शक्यत इत्यर्थः । बालबोधिनी पृष्ठ- ३३ ।

(२) यस्यां गोव्यक्तौ संकेतग्रहो स्वीकृतस्तद् तिरिक्तायाम् गोव्यक्तौ गोशब्दावगमनं न स्यादिति व्यभिचारः -- विवरण - पृष्ठ- १० ।

डित्थ का अर्थ डित्थ संज्ञावान् । व्यक्तिवादी के मत में व्यक्ति में ही इन चारों की प्रवृत्ति है । तब तो इन चारों पदों का अर्थ एक गौ रूप व्यक्ति ही होगा । आशय यह है कि गौ का अर्थ गौ व्यक्ति, शुक्ल का अर्थ गौ व्यक्ति, चल का अर्थ गौ व्यक्ति तथा डित्थ का अर्थ भी गौ व्यक्ति ही होगा । अतः व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर उपर्युक्त विषय-विभाग ही न हो सकेगा । और घटः कलशः के सदृश ये चारों शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे । अस्तु । व्यक्ति में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है ।१

## व्यक्ति की उपाधि में संकेत ग्रह::-

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर व्यक्ति में संकेत ग्रह न हो सकने के कारण उस व्यक्ति की उपाधि में संकेत ग्रहण स्वीकार किया जाता है । वस्तुओं के ऐसे असाधारण धर्म को उपाधि कहते हैं, जो उन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् करता हो। अन्य वस्तुओं से भेद उत्पन्न करने के कारण इसे व्यावर्त्तक धर्म भी कहा जा सकता है । इसके प्रतिपादन में मम्मट का उल्लेखनीय योगदान है, अतः उनके अनुसार पूरा विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है । वे उपाधि के दो भेद करते हैं-(१) वस्तु का धर्म, वक्ता की अपनी इच्छा (संज्ञाशब्द) । पुनश्च वस्तुधर्म भी दो रूपों में विभक्त हो जाता है ।(१) सिद्ध (२) साध्य ( सिद्ध के दो रूप (१) प्राणप्रद (जाति), (२) विशेषाधान हेतु (गुण) हो जाते हैं । इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया (साध्य) तथा यदृच्छा शब्द (संज्ञा) ये चार प्रकार की व्यक्ति की उपाधियाँ हैं, जिनमें संकेत ग्रहण होता है ।१ उनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है--

## जाति::-

यह व्यक्ति का सहज धर्म है, जिसे सामान्य भी कहा जाता है। भाव यह है कि शब्द के प्रयोग होने के पूर्व भी उसमें विद्यमान रहता है । मम्मट इसे प्राणप्रद कहते हैं । प्रदीपकार के अनुसार वस्तु के व्यवहार का निर्वाहक होने के कारण इसे प्राणप्रद कहा जाता है ।२ "गौ" में गोत्व जाति ही उसका प्राण है । इसी गोत्व जाति के कारण ही गौ पद का व्यवहार होता है न कि उसके

---

(१) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश - पृष्ठ- ३३ ।

(२) प्राणप्रदत्वं यावद्वस्तुस्थितिसम्पादकत्वमिति । प्रदीप - पृष्ठ- ३७ ।

स्वरूप (जाति रहित व्यक्तिमात्र) के कारण। यह गोत्व जाति गो व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। मम्मट ने वाक्यपदीय की पंक्ति — "नहि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः" माना जाय तो इत्यादि भी "गौः" होने लगेंगे। इसी प्रकार स्वरूप से "अगौः" भी नहीं माना जा सकता। केवल गोत्व जाति के कारण ही यह "गौः" है, ऐसा व्यवहार होता है।

गुण::-
व्यक्ति की दूसरा उपाधि गुण है, जिसे मम्मट विशेषाधान हेतु कहते हैं। भाव यह है कि गोत्व जाति वाला अनेक गो व्यक्तियों में "कृष्णा गौः" "शुक्ला गौः" इत्यादि प्रकार से कृष्ण और श्वेत गुणों के माध्यम से ही उनमें भेद की प्रतीति होती है। अतः सजातीय वस्तुओं में परस्पर भेद प्रकट करने के कारण गुण हैं। इन्हें सजातीय-व्यावर्तक भी कहा जा सकता है। जाति, व्यक्ति के स्वरूप का आधायक है, जब कि गुण उसमें विशेषता लाता है।१ कुछ टीकाकारों के अनुसार कदाचित् गुणों का ह्रास या परिवर्तन भी हो सकता है, किन्तु जाति स्थायी तथा अविकल है।२

क्रिया::-
व्यक्ति की उपाधि का तीसरा भेद क्रिया है। मम्मट इसे पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः कहते हैं। यह वस्तु का साध्यावस्था में विद्यमान धर्म है। टीकाकारों ने इसके तीन भाग प्रदर्शित किया है। एक भाग पहले होता है, दूसरा बाद में हो रहा है, और तीसरा होने वाला है। यथा चावल पकाने के लिए प्रथमतः पात्रादि का अधिश्रयण चूल्हे में ईंधन इत्यादि लगाना तथा चावल पक जाने पर पात्र उतारना आदि अनेक क्रियाएं करना पड़ता है। इन क्रियाओं की बुद्धिकृत समुदाय (अधिश्रयण से लेकर अवतारणा पर्यन्त) ही पाचन क्रिया कहलाती है।३

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) सिद्धो यो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। काव्यप्रकाश पृ०३४

(२) यद्यपि शुक्लादिगुणस्य नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम् तथापि शुक्लादिगुणस्य सम्बन्धः कदाचित् अपैत्यपि न तु गोत्वादेरिति जाति गुणयोर्भेदः। प्रदीप-पृष्ठ-३१।

(३) द्रष्टव्य है बालबोधिनी - पृष्ठ- ३५।

मानकर केवल जाति में ही मानते हैं। दुग्ध, शंख इत्यादि में प्रतीत शुक्लादि
गुण को वे एक ही मानने के पक्ष में नहीं हैं। क्योंकि वे अनेक हैं एवं न तो उन्हें अखण्ड
सामान्य उपाधि ही कहा जा सकता है और न उनमें संकेत ग्रहण ही सम्भव है। अतः
मीमांसक शुक्लत्व जाति में ही संकेत ग्रह मानते हैं। इसी प्रकार गुड़ तथा चावल
इत्यादि की पाक-क्रिया भिन्न-भिन्न है। तथापि उसमें पाचकत्व जाति है।
संज्ञा शब्दों में भी जाति ही रहती है। यथा बालक, वृद्ध तथा शुकादि के द्वारा
उच्चारित डित्थादि भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उनमें डित्थत्व जाति सामान्य है।
अथवा बाल्यकाल, यौवन इत्यादि में प्रतिक्षण बदलते हुए डित्थ इत्यादि व्यक्तियों
में डित्थत्व सामान्य है। अतः समस्त शब्दों का संकेतग्रह जाति में ही
मानना चाहिए।१

<u>नैयायिकों का मत::-</u>

नैयायिकों `तद्वान्` में संकेत ग्रह मानते हैं। इनके अभिप्राय
को प्रदीपकार ने सुस्पष्ट किया है। तदनुसार न तो जाति में ही संकेत ग्रह होता
है और न व्यक्ति में ही। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर वही आनन्त्य और
व्यभिचार दोष आ पड़ते हैं और जाति में मानने पर व्यक्ति का ग्रहण ही
नहीं हो पाता। अतएव नैयायिक जाति विशिष्ट व्यक्ति (तद्वान्) में संकेत ग्रह
स्वीकार करते हैं।२

<u>बौद्धों का मत::-</u> बौद्ध दार्शनिक व्यक्ति अथवा जाति में संकेतग्रह का विरोध
करते हैं। व्यक्ति में संकेत मानने से उक्त आनन्त्यादि दोष आ जाते हैं। जाति
में भी संकेत ग्रह सम्भव नहीं है। क्योंकि जब समस्त वस्तु ही क्षणिक है तो जाति

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश - पृष्ठ- ३७।

(२) न व्यक्तिमात्रं च अर्थंनवा जातिमात्रम्। आद्ये आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च।
अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसंगात्। न चाक्षेपाद् व्यक्ति प्रतीतिरिति वाच्यम्।
तथा सति गुणप्रधानभावत्वेन शाब्दबोध विषयत्वानुपपत्तिः। तस्माज्जाति-
विशिष्टे एव संकेतः। -- प्रदीप पृष्ठ- ३६।

भी निश्चय नहीं हो सकता। साथ ही व्यक्ति से भिन्न जाति (गोत्व) नामक कोई भी भाव पदार्थ बाह्य जगत् में प्रतीत ही नहीं होता, जो समस्त व्यक्तियों में सामान्य रूप से विद्यमान हो। अतएव जब सामान्य या जाति का ही अभाव है तब वह संकेत का विषय कैसे बन सकता है। बौद्धों की मान्यता है कि "अपोह" या अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ ही संकेत ग्रह का विषय होता है।[1] भाव यह है कि "गौ" शब्द के उच्चारण करने के साथ ही गौ भिन्न (अश्वादि) वस्तुओं की व्यावृत्ति हो जाती है। अत: गौ भिन्न अर्थ ही अतद् (अगौ) है। संक्षेप में "गौ" शब्द से गौ भिन्न वस्तुओं को हटा देना ही अतद्व्यावृत्ति है। इसी को बौद्ध अपोह कहते हैं जिसका कि उल्लेख मम्मट ने किया है।

## अभिधा-व्यापार :-

वाचक शब्द और वाच्यार्थ के विश्लेषण के पश्चात् अभिधा व्यापार को समझना कठिन नहीं है। संकेतितार्थ को मम्मट मुख्यार्थ कहते हैं। मुख्यार्थ का बोध कराने वाला शब्द का मुख्य व्यापार ही अभिधा है। मुख्य अर्थ अथवा मुख्य व्यापार इत्यादि कथन में मम्मट जो मुख्य पद का प्रयोग करते हैं वह उनका अपना योगदान नहीं है। इसके लिए वे सम्भवत्र मुकुलभट्ट से अनुप्राणित हैं।[2] अभिधाव्यापार के व्याख्यान में मुकुलभट्ट का कथन है कि सम्पूर्ण शरीर के अवयवों के विद्यमान होते हुए भी मा सर्वप्रथम मुख पर ही दृष्टि जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थान्तर के होते हुए भी सर्वप्रथम इसी संकेतित अर्थ की प्रतीति होती है। यही कारण है कि इसे मुख्यार्थ कहा जाता है।[3]

---

(1) बौद्धा: व्यक्तावानन्त्यादिदोषाद् भावस्य देशकालानुगमाभावात् तदनुगतायाम् अतद्व्यावृत्तौ संकेत: प्रदीप पृष्ठ-३६।

(2) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। काव्यप्रकाश।

(3) स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्य: पूर्वं मुखमवलोक्यते तद्वदेव सर्वेभ्य: प्रतीयमानेभ्यो अर्थान्तरेभ्य: पूर्वमवगम्यते। तस्माद् मुखमिव मुख इति शाखादित्वात्तेन मुखशब्देनाभिधीयते। अभिधावृत्ति मातृका-२।

सकता । यथा 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' इत्यादि में मुख्यार्थ बाधित नहीं हो रहा है । केवल वक्ता के तात्पर्य में इसका प्रवेश नहीं हो पा रहा है। उदाहरण में केवल काकमात्र में ही वक्ता का अभिप्राय न होकर दध्युपघातक कुक्कुरादि सभी वस्तुओं से है । यहाँ मुख्यार्थ तो काकमात्र का अर्थ देता है जब कि वक्ता का तात्पर्य कुछ अन्य ही है । अतः मुख्यार्थबाध से वास्तव तात्पर्यानुपपत्ति है ।१

विचारणीय है कि मम्मट उक्त द्विविध अर्थों में किसे मानते हैं । वे स्वयं इसका कोई भी स्पष्टीकरण नहीं देते । किन्तु उन्होंने 'कर्मणि कुशलः' तथा 'गंगायां घोषः' इन दो उदाहरणों से विषय को समझाया है । कुशल का मुख्यार्थ कुशाओं को लाने वाला (कुशान् लाति इति कुशलः) है । 'कर्मणि कुशलः' कहने पर कुशल पद का मुख्यार्थ 'कर्मणि' पद के साथ उपपन्न हो नहीं हो पाता । अतः यहाँ मुख्यार्थ अन्वय उपपत्ति की दृष्टि से बाधित हो रहा है । यही स्थिति ऊपर विवेचित 'गंगायां घोषः' की भी है। इन उदाहरणों के स्वारस्य से प्रतीत होता है कि 'बाध' से मम्मट का अभिप्राय असम्भवत्व से ही है न कि तात्पर्यानुपपत्ति से ।

तद्योग:- तद् का अर्थ यहाँ पर बाधित मुख्यार्थ तथा 'योग' का अर्थ सम्बन्ध है । मुख्यार्थ के बाधित हो जाने पर अमुख्य (अन्य) अर्थ की जो प्रतीति होती है वह अमुख्य अर्थ उसी मुख्यार्थ से सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बन्धित रहता है । 'कर्मणि कुशलः' में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में विवेचकत्व सम्बन्ध तथा 'गंगायां घोषः' में सामीप्य सम्बन्ध है । विवेचकत्व का अर्थ सद् का ग्रहण और असद् का परित्याग । कुशा लाने वाला सदसद् विवेकी होता है । यही बात दक्ष या चतुर में होती है । अतएव कुशल पद का मुख्यार्थ कुश लाने वाला तथा लक्ष्यार्थ 'चतुर' है। विवेचकत्व सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से सम्बन्धित है ।२ टीकाकारों ने यह भी बताया है

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) बालबोधिनी - पृष्ठ-४१ ।

(२) द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ- ३८ ।

उनका प्रशंसनीय योगदान यह है कि उन्होंने प्राचीनों की बिखरी हुई लक्षणाविषयक विचारशृंखला को वैज्ञानिक एवं सुस्पष्ट मोड़ दिया। विषय को सरलतम बनाया और परवर्ती आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया।

## लक्षणा के भेद::-

आचार्य मम्मट ने तीन कारिकाओं में षड्विधलक्षणा का निरूपण किया है। तीनों कारिकाएं व्यस्त रूप में प्रस्तुत की गई हैं। टीकाकारों ने मम्मट के द्वारा मान्य षड्विधलक्षणा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है - लक्षणा दो प्रकार की होती है। (१) शुद्धा (२) गौणी ( शुद्धा के पुनः दो भेद हो जाते हैं --- उपादान लक्षणा, लक्षण-लक्षणा। पुनश्च इन दोनों उपादान-लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा में प्रत्येक के अन्य दो भेद सारोपा तथा साध्यवसाना होकर शुद्धा लक्षणा चतुर्विधा होती है। गौणी लक्षणा के सारोपा तथा साध्यवसाना के दो भेद मिलकर षड्विधा लक्षणा होती है। इनमें से अनेक भेदों के स्वरूप निर्धारण में मम्मट तथा उनके टीकाकारों का उल्लेखनीय योगदान है। अतएव उनका स्वरूप क्रमशः यहाँ द्रष्टव्य है।

## उपादान लक्षणा::-

मम्मट के शब्दों में 'स्वसिद्धये पराक्षेपः उपादानम्' अर्थात् अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्यार्थ का आक्षेप उपादान है। मम्मट के आशय को टीकाकारों ने दो रूपों में ग्रहण किया है। जहाँ पर कोई शब्द अपने अन्वय की संगति के हेतु किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत करता है वहाँ उपादान लक्षणा होती है।१ वस्तुतः उपादान पद का अर्थ है 'ग्रहण'। इसी आधार पर कुछ और विचार किया गया है। तदनुसार जहाँ पर शब्द अपने मुख्यार्थ को भी प्रकट करता हुआ अन्यार्थ को ग्रहण करले वहाँ उपादान लक्षणा होती है।२ प्रदीपकारा

---

(१) स्वमुख्यार्थस्यान्वयबोधाय परस्यापि आक्षेपात् उपादानात् उपादानेति नाम। विवरण - पृष्ठ - १३।

(२) स्वार्थमपि अदन्यमुपादत्ते तदुपादानमिति। [illegible] पृष्ठ - १६।

ने इसी दिशा में लक्षणा के व्यापक स्वरूप को प्रस्फुट किया है। जहाँ पर शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग न करके अन्य अर्थ का उपलक्षण करे वहाँ उपादान लक्षणा होती है।१ संक्षेप में उपादान लक्षणा के प्रमुख दो तत्त्व होते हैं।(१) मुख्यार्थ का अपरित्याग (२) अन्यार्थ का ग्रहण। यह प्रक्रिया केवल अन्वय की उपपत्ति के लिए होती है। वस्तुतः टीकाकारों ने वैयाकरणों के अनुसार ही उक्त विवेचन प्रस्तुत किया है। इसे ही वैयाकरण अजहत्स्वलक्षणा या अजहत्स्वार्था वृत्ति कहते हैं। साथ ही इन्हीं के अनुसार 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादि उदाहरण भी मम्मट ने इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। इनमें कुन्त या यष्टि में प्रवेश क्रिया असम्भव है। क्योंकि प्रवेश क्रिया तो केवल चेतन का ही धर्म है न कि कुन्तादि अचेतन का। कुन्तादि शब्द अपने अर्थ की उपपत्ति के लिए अपने से सम्बन्धित पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं और तब कुन्त का अर्थ कुन्तधारी पुरुष ग्रहण होता है। कुन्तादि पद अपने अर्थ का परित्याग न करते हुए परार्थ का भी ग्रहण कर लेते हैं। अतः इनमें उपादानलक्षणा है।२ प्रदीपकार का मत है कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' उदाहरण भी इसी के क्षेत्र में आते हैं। क्योंकि दध्युपघातक काकादि का परित्याग नहीं होता और कुक्कुरादि परार्थ का ग्रहण भी होता है।३

<u>मीमांसकों के उदाहरण का खण्डन :-</u>

मीमांसक प्रवर 'गौरनुबन्ध्यः' उदाहरण का मम्मट ने विरोध किया है। सङ्केतकारादि का कथन है कि उपादानलक्षणा के लिए यह उदाहरण मुकुलभट्ट ने प्रस्तुत किया है।४ किन्तु उद्योतकार का मत है कि यह मण्डन मिश्र के द्वारा दिया गया उदाहरण है।५ वस्तुतः इस तथ्य पर कोई

---

(१) स्वार्थापरित्यागेन अन्यार्थोपलक्षणम् उपादानम्। प्रदीप पृष्ठ-४०।

(२) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश - पृष्ठ-४४।

(३) यथा च काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यादि संग्रहणीयम्। प्रदीप पृष्ठ-४१।

(४) यथा अन्यैर्मुकुलादिभिरुक्तम्। संकेत - पृष्ठ-१८।

(५) अन्ये इति मण्डन मिश्राः। उद्योत पृष्ठ-४१।

विरोध न होना चाहिए कि यह मण्डनमिश्र का उदाहरण है या मुकुलभट्ट का ।
दोनों ही समकालिक थे । अवश्य ही इसे मुकुलभट्ट ने मण्डनमिश्र से लिया होगा ।
अत: दोनों स्थलों पर इसका विद्यमान होना स्वाभाविक है । तथापि इस
उदाहरण से सम्बद्ध जिस विवेचन का मम्मट ने खण्डन किया है वह अभिधावृत्तिमातृका
में प्राप्त अंश के अधिक निकट है । "गौरनुबन्ध्य:" के अर्थ को भी लेकर टीकाकारों
में मत भेद है । प्रदीपकारादि अनेक टीकाकारों के अनुसार इसका अर्थ है - गाय
का आलम्भन (वध) करना चाहिए ।१ काव्यप्रकाशादर्शकार महेश्वर न्यायालंकार
"अनुबन्ध्य:" से बांधना अर्थ लेते हैं । विवाहादि में गाय का बन्धन वेद विहित
है । अतएव गौरनुबन्ध्य: का अर्थ "गाय को बांधना है" न कि उसका वध करना ।
यही मत अधिक समाधान प्रतीत होता है ।२ अस्तु । इस उदाहरण में मीमांसक
उपादान लक्षणा मानते हैं । तदनुसार "गौ" शब्द का अभिधेयार्थ गोत्व(जाति)
है । वेद में जब गौ का आलम्भन विहित है तो गौ जाति सोचती है कि मेरा
आलम्भन कैसे हो सकता है ।३ इस अपने अन्वय की उपपत्ति के लिए लक्षणा द्वारा
गौ व्यक्ति को प्रस्तुत करती है। अभिधा के द्वारा "गौ" जाति से व्यक्ति का
आक्षेप नहीं हो सकता । क्योंकि जाति विशेषण है और व्यक्ति विशेष्य ।
अभिधा की शक्ति विशेषण के ही बोध कराने में समाप्त हो जाती है ।
"विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इस न्याय से विशेष गौ व्यक्ति
का बोध अभिधा से नहीं होता । अत: यहाँ उपादान लक्षणा है ।४

मम्मट का कथन है कि "गौरनुबन्ध्य:" में उपादान लक्षणा नहीं
हो सकता । क्योंकि रूढ़ि या प्रयोजन ये दो लक्षणा के हेतु हैं । उक्त उदाहरण
में न तो रूढ़ि है और न प्रयोजन था, जब कि दोनों में किसी एक का होना
लक्षणा में अनिवार्य है । यहाँ एक जाति से व्यक्ति को प्राप्त करने की बात है

---

(१) अनुबन्ध्यो हन्तव्य: । प्रदीप पृष्ठ-१८ ।

(२) ऊढं विवाहे गवामनुबन्धन विधिदर्शनात् । प्रकाशादर्श- पृष्ठ-४१ ।

(३) काव्य प्रकाश पृष्ठ-५४ ।

(४) मम्मट ने मुकुलभट्ट की जिन पंक्तियों की समालोचना की है वे इस प्रकार हैं-
तस्योदाहरणं गौरनुबन्ध्य इति । - - - जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं
न प्रतिपद्यते इति श्रुतप्रत्यायिता जातिसामर्थ्यादिव जातेराक्षेपात् व्यक्तिरा-
क्षिप्यते । अभिधावृत्तिमातृका पृष्ठ-४

यह तो जाति है व्यक्ति का आक्षेप स्वतः हो जाता है। क्योंकि दोनों अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। जाति व्यक्ति के बिना नहीं रह सकता। उसका आक्षेप भी स्वतः हो जाता है। यथा क्रिया न्यु करने पर कर्ता का और पूरा करने पर कर्म (कार्य) का आक्षेप स्वतः हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जाति के कथन से व्यक्ति का स्वतः आक्षेप होता है।

मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के अन्तर्गत "पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते" यह उदाहरण भी दिया है। उनका मत है कि "दिवा न भुंक्ते" इस कथन से देवदत्त का पीनत्व उपपन्न नहीं होता। अतः उपादानलक्षणा से रात्रि भोजन रूप अर्थ प्राप्त होता है। मम्मट को यह उदाहरण भी मान्य नहीं। तदनुसार यह उदाहरण उपादान लक्षणा के क्षेत्र में न आकर श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति का विषय है। जहाँ पर किसी तथ्य को स्वीकार किए बिना प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु की सिद्धि नहीं हो पाती उस दशा में अर्थापत्ति द्वारा उसे परिकल्पित कर लिया जाता है। यथा यह दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त का पीनत्व तब तक असंगत रहेगा जब तक कि रात्रिभोजन की कल्पना न करली जाय। अतः उक्त उदाहरण में उपादान लक्षणा से रात्रिभोजन न सिद्ध होकर अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होता है।

उल्लेखनीय है कि मम्मट का उक्त खण्डन एक मौलिक योगदान है। इससे उनके अगाध "पाण्डित्य किंवा वस्तुपरक चिन्तन शक्ति" का परिचय मिलता है। मम्मट के तर्क विषय को सीधे स्पर्श करते हैं। खण्डन के पश्चात् वे जो निर्णय लेते हैं वह वैशद्य होता है। मम्मट के टीकाकारों ने इस सन्दर्भ में श्रुतार्थापत्ति तथा अर्थापत्ति का विश्लेषण करके अपना योगदान दिया है। मम्मट ने इनका नामोल्लेख करके छोड़ दिया था। दोनों का क्रमशः स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है।

**श्रुतार्थापत्ति:-**

यह कुमारिलभट्ट का मत है। श्रुतात् शब्दात् अर्थस्य आपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः। इसे पदाध्याहार भी कहा जाता है। भाव यह है कि श्रुत या शब्द अनुपपन्न होकर अन्य शब्द की कल्पना करता है। उस शब्द से अर्थबोध होता है।

यहाँ 'द्वारम्' पदशब्द कहने पर 'पिधेहि' इस क्रिया पद की कल्पना करनी पड़ती है। इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में 'रात्रौ भुङ्क्ते' की कल्पना होती है।१

अर्थापत्ति::-

प्रभाकर के अनुसार दृष्ट या श्रुत अर्थ अनुपपन्न होकर अन्य अर्थ की कल्पना करता है। अर्थादर्थस्यापत्तिः अर्थापत्तिः अथवा अर्थापत्तिः। यही अर्थाध्याहार भी कहा जाता है। यथा 'द्वारम्' इस शब्द का अर्थ 'पिधेहि' अर्थ (क्रियारूप) की कल्पना करता है। अतः प्रभाकर के मत से उक्त उदाहरण में 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का आक्षेप होता है।२

लक्षण-लक्षणा::-

आचार्य मम्मट इसका लक्षण 'परार्थं स्वसमर्पणम् लक्षणम्' इत्यादि रूप से प्रस्तुत करते हैं। इसके स्पष्टीकरण में विवरणकार का कथन है कि जहाँ कोई शब्द अपने अर्थ का परित्याग कर अन्यार्थ के अन्वयबोध के लिए उसका उपलक्षणमात्र रहता है, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है।३ इसे सुस्पष्ट करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि जहाँ पर मुख्यार्थ का परित्याग होकर परार्थ की प्रतीति हो, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है४ यथा 'गंगायाम् घोषः' इस उदाहरण में गंगा (प्रवाहादि) में घोष का अधिकरणत्व सम्भव हो नहीं है। अतः मुख्यार्थ बाधित हो रहा है। शैत्य पावनत्व रूप प्रयोजन के कारण गंगा से सम्बद्ध तट में लक्षणा स्वीकार की जाती है। दूसरे शब्दों में तट अर्थ की उपपत्ति के लिए गंगा पद स्वार्थ (प्रवाहादि) का परित्याग तट रूप अन्यार्थ प्राप्ति के लिए करता है अतः यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) यत्र अनुपपद्यमानः शब्दान्तरम् कल्पयति सा अर्थापत्तिः: यथा द्वारमिति शब्दः पिधेहीति क्रियापदं, इयमेव पदाध्याहारः। विवरण पृष्ठ- १४।

(२) यत्र च दृष्टः श्रुतो वा अर्थोऽनुपपन्नो अर्थान्तरम् कल्पयति सा अर्थापत्तिः: यथा तथैव द्वारमित्यर्थोऽनुपपन्नः पिधेहीति क्रियां कल्पयति, इयमेव अर्थाध्याहार इति मतभेदेन उभयम्। विवरण - पृष्ठ- १५।

(३) परार्थस्यान्वयबोधाय स्वसमर्पणात् स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपलक्षणात् लक्षणेतिनाम। विवरण पृष्ठ- १३।

(४) स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणम् लक्षणमित्यर्थः। प्रदीप - पृष्ठ- ४६।

मुकुलभट्ट और मम्मट ::-

शुद्धा और गौणी लक्षणा में भेद निर्धारित करने के सिद्धान्त पर मुकुलभट्ट और मम्मट में मतभेद है। मम्मट की दृष्टि में उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा दोनों ही शुद्धा लक्षणा के भेद हैं। क्योंकि इनमें उपचार (सादृश्य) की सत्ता नहीं रहती।१ स्पष्ट है कि मम्मट शुद्धा और गौणी लक्षणा में भेद करने वाला तत्व उपचार मानते हैं। शुद्धालक्षणा में उपचारा-मिश्रण रहता है तथा गौणी में उपचार-मिश्रण। इसके विपरीत मुकुलभट्ट उपचार का सद्भाव शुद्धा और गौणी दोनों प्रकार की लक्षणा में मानते हैं। उपचार को वे द्विविध शुद्धरूप, गौणरूप मानते हैं। साथ साथ दोनों रूप शुद्धा लक्षणा में होते हैं।२ इतना ही नहीं मुकुलभट्ट शुद्धा और गौणी लक्षणा में भी भेदक तत्व मानते हैं वह भी मम्मट को स्वीकार नहीं है। मुकुलभट्ट के मत से 'गौर्वाहीकः' इत्यादि गौणी लक्षणा के उदाहरण में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य रूप सम्बन्ध से अभेद की प्रतीति होती है जबकि शुद्धा लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भेद स्पष्ट प्रतीत होता रहता है। दोनों में यही भेद की प्रतीति ही तटस्थ्य है जिसे उदासीनता या औदासीन्य भी कहा जाता है। 'गंगायाम् घोषः' इत्यादि में गंगा तथा तट का परस्पर भेद ज्ञात होता रहता है और दोनों पूर्णरूप से पृथक् प्रतीत होते हैं। 'गौर्वाहीकः' इत्यादि गौणी लक्षणा के उदाहरण में उक्त भेद प्रतीत नहीं होते। अस्तु। मुकुलभट्ट के अनुसार शुद्धा और गौणी लक्षणा में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में भेद की प्रतीति और अप्रतीति ही भेदक तत्व हैं।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। काव्यप्रकाश - पृष्ठ-४६।

(२) द्विविधः उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मुख्यः स्वोपमानोपमेयभाव-स्याभावेनोपमानगत गुणसदृशगुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादि-सम्बन्धात्तल्लक्ष्यप्रतीतावस्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते। अभिधावृत्तिमातृका-पृ०५।

(३) तटस्थे लक्षणा शुद्धा ------ येयं लक्षणा शुद्धा उपादानलक्षणात्मकत्वेन द्विभेदा प्रतिपादिता सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थया प्रतीत्या तटस्थेऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः। तथा हि गंगायाम् घोषः इत्यत्र---तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। स्वमुपादानेक्षति वाच्यम्। 'अभिधावृत्तिमातृका-पृष्ठ-५।

आचार्य मम्मट ने उक्त विवेचन का खण्डन कर विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया है जो कि उनका प्रशस्त योगदान कहा जा सकता है । उनके अनुसार 'गंगायां घोषः' इस शुद्धा लक्षणा के उदाहरण में मुख्यार्थ प्रवाह तथा लक्ष्यार्थ तट में भेदरूप ताटस्थ्य की प्रतीति होती ही नहीं । प्रत्युत गंगा का तट से सर्वथा अभेद ही प्रतीत होता है । भाव यह है कि जब तट का गंगात्व के रूप में ही बोध होता है तभी शैत्यपावनत्वादि का तट में प्रतीति होती है । इसमें शैत्य पावनत्वादि का बोध कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है । यदि मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ अर्थात् गंगा और तट में अभेद प्रतीति न होती तथा तटरूप लक्ष्यार्थ का प्रवाह रूप मुख्यार्थ से केवल समीपता रूप सम्बन्ध ही प्रतीत होता तो 'गंगायां घोषः' का ठीक वही अर्थ होता जो 'गंगातटे घोषः' का है । ऐसी दशा में प्रस्तुत लक्षणा के प्रयोग का कोई महत्त्व ही न होता । अस्तु । मुकुलभट्ट का यह मान्यता, कि जहाँ पर भेद-प्रतीतियाँ वहाँ शुद्धा और जहाँ अभेद प्रतीति हो वहाँ गौणीलक्षणा होती है, सर्वथा भ्रान्त है ।१

काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इस प्रसंग में प्रयुक्त उपचार पद का अभिप्राय स्पष्ट किया है। न्यायवार्तिक में उपचार का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि किसी सम्बन्ध के कारण किसी वस्तु का उसके अवाचक पद के द्वारा व्यवहार करना उपचार है ।२ किन्तु इसे उपचार की सामान्य परिभाषा कहा जा सकता है । मम्मट ने उपचार से जो आशय ग्रहण किया है उसे स्पष्ट प्रदीपकार ने किया है । तदनुसार सादृश्य सम्बन्ध से प्रवृत्ति होना उपचार है । अथवा सादृश्यातिशय के फलस्वरूप दो भिन्न वस्तुओं में भेद प्रतीतिका न होना उपचार है ।३

<u>लक्षणा के अन्य भेद:-</u> उक्त त्रिविधलक्षणानिरूपण के पश्चात् मम्मट ने

---

(१) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश- पृष्ठ-४६ ।

(२) 'निमित्तादि अतद्भावेऽपि तदुपचारः' न्यायवार्तिक ।

(३) उपचारस्य सादृश्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिः । सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेद-प्रतीतिस्थगनं वा । प्रदीप

सारोपा तथा साध्यवसाना इन दो भेदों का स्वरूप निर्धारित किया है । वस्तुत: ये दोनों भेद शुद्धा व गौणी दोनों प्रकार की लक्षणा के उपभेद हैं । अतएव मम्मट ने सर्वप्रथम इन दोनों का स्वतंत्र लक्षण निर्धारित किया जो इस प्रकार है --

<u>सारोपा:-</u> जहां पर आरोप्यमाण तथा आरोप विषय का भेद छिपाया नहीं जाता और वे सामानाधिकरण्य में निर्दिष्ट रहते हैं, वहां एक दूसरी प्रकार की लक्षणा होती है जिसे सारोपा कहते हैं । भाव यह है कि इसमें उपमान तथा उपमेय दोनों का पृथक् निर्देश रहता है और वे एक विभक्ति में होते हैं । यथा 'गौर्वाहीक:' में 'गौ:' आरोप्यमाण और 'वाहीक:' आरोपविषय दोनों का एक विभक्ति अनवच्छिन्न निर्देश किया गया है । अत: ऐसे स्थलों पर सारोपा लक्षणा होती है । 'सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा' इत्यादि रूप में मम्मट ने इसका लक्षण प्रस्तुत किया है । इसमें 'अन्या' पद से उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता और स्वयं मम्मट इसके स्पष्टीकरण में मौन है । अतएव यह टीकाकारों के विवाद का कारण बन गया । अधिकांश टीकाकारों का मत है कि अन्या पद का अभिप्राय है उपादान तथा लक्षण-लक्षणा से भिन्न एक दूसरी प्रकार की लक्षणा । परन्तु प्रदीपकार का कथन है कि इसके प्रयोग से गौणी लक्षणा का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है । अर्थात् अन्या का अर्थ यहां है गौणीलक्षणा । साथ ही 'तु' के प्रयोग से गौणीलक्षणा आरोप व अध्यवसान रूप भेदों से विभक्त होती है, न कि उपादान व लक्षण-लक्षणा के भेदों से ।१

सारोपा के व्याख्यान में टीकाकारों का उल्लेखनीय योगदान है । कुछ व्याख्यान यहां द्रष्टव्य हैं । विवरणकार के अनुसार विरुद्ध धर्म से प्रतीत होने वाला वस्तुओं का प्रयोजन सहित एक विभक्ति के द्वारा निर्देश करना आरोप कहलाता है ।२ विश्वनाथ का कथन है कि अतिरोहित स्वरूपवाले उपमान और

---

(१) अन्या यदि गौणी, आरोपाध्यवसानाभ्याम् भिद्यते न तूपादानलक्षणाभ्यामिति तु शब्दार्थ: । प्रदीप पृष्ठ-४५ ।

(२) विरुद्धधर्मत्वेन प्रतीयमानयोरपि सामानाधिकरण्येन सप्रयोजनो निर्देश आरोप: वि० पृ० १६ ।

उपमेय में, उपमान के साथ तादात्म्य प्रतीति ही आरोप है।[1] किन्तु सुस्पष्ट व्याख्यान यह है कि विषय और विषयी का भेद पूर्वक उपन्यास ही आरोप है।[2]

साध्यवसाना::- मम्मट के अनुसार जहाँ विषयी के द्वारा विषय निगीर्ण कर लिया जाता है वह साध्यवसाना लक्षणा होती है। अध्यवसान का अभिप्राय है विषयी के द्वारा विषय को छिपा लेना। अतः जहाँ पर अध्यवसानपूर्वक लक्षणा होती है उसे साध्यवसाना लक्षणा कहा जाता है। 'गौरयम्' में विषयी 'गौ' के द्वारा विषय वाहीक का निगरण कर लिया गया है। अतः यह साध्यवसानालक्षणा का उदाहरण है। 'निगीर्ण' पद का अभिप्राय टीकाकारों ने दो अर्थों में स्पष्ट किया है। मम्मट के अनुसार विषय वाचक वाहीकादि का अप्रयोग न करना ही निगीर्ण है। दूसरा यह कि विषय के कथन के अभाव में भी विषयी अपने तादात्म्य से भी विषय की प्रतीति कराता है उसी को निगरण कहते हैं। किन्तु सुस्पष्ट निर्णय का श्रेय प्रदीपकार को है। तदनुसार विषयी के द्वारा विषय का तिरोभाव ही अध्यवसान का अर्थ है।[3]

यहाँ तक लक्षणा के चार भेद बताये गये हैं सादृश्यसम्बन्ध से होने वाली गौणी लक्षणा द्विधा अर्थात् सारोपा गौणी तथा साध्यवसाना गौणी होती है। ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा होती है, वहाँ गौणी तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से होने पर शुद्धा लक्षणा होती है। कारिका में मम्मट ने 'सम्बन्धान्तरात्तथा' का प्रयोग किया है। सादृश्येतर सम्बन्ध में उन्होंने अवसर प्राप्त कर तादर्थ्य सम्बन्ध, स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध, अवयवावयवी भाव सम्बन्ध, तथा तात्कर्म्य सम्बन्ध इत्यादि चार सम्बन्धों का सोदाहरण उल्लेख किया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) आरोपो नामाविगीर्णस्वरूपस्यान्येन तादात्म्यप्रतीतिः। काव्य प्रकाश दर्पण -- पृष्ठ-४८।

(2) विषय विषयिणोः भेदेनोपन्यासो आरोपपदार्थः। प्रदीप पृष्ठ-४५।

(3) विषयिणा विषयतिरोभावो अत्राध्यवसानपदार्थः। प्रदीप पृष्ठ-४६।

<u>षड्विध लक्षणा::-</u> मम्मट ने गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना एवं शुद्धा के सारोपा व साध्यवसाना रूप चार भेदों का निरूपण करके लक्षणा तेन षड्विधा कहते हुए कुल भेदों को संक्षेप में निर्दिष्ट किया। षड्विध में पूर्व विवेचित उपादान तथा लक्षण-लक्षणा का भी संग्रह है। इस प्रकार (१) शुद्धा सारोपा (२) शुद्धा साध्यवसाना, (३) गौणी सारोपा (४) गौणी साध्यवसाना (५) उपादान लक्षणा तथा (६) लक्षण-लक्षणा ये छः मिलकर षड्विधा लक्षणा होती हैं। किन्तु कुछ टीकाकार षड्भेदों को अवान्तर से स्पष्ट करते हैं। तदनुसार सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद (१) शुद्धा और (२) गौणी होते हैं। पुनश्च शुद्धा उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा रूप से द्विधा होती है। यह उपादान और लक्षण-लक्षणा में प्रत्येक सारोपा व साध्यवसाना रूप से द्विविधा होकर शुद्धा लक्षणा चतुर्विधा हो जाती है। गौणी के केवल सारोपा व साध्यवसाना रूप दो ही भेद होते हैं। ये ही षड्विधलक्षणा हैं। उनका उदाहरण इस प्रकार है--

(१) उपादान सारोपालक्षणा - कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति
(२) उपादान साध्यवसाना - कुन्ताः प्रविशन्ति
(३) लक्षण सारोपा - आयुर्घृतम्
(४) लक्षण साध्यवसाना - आयुरेवेदम्
(५) गौणी सारोपा - गौर्वाहीकः
(६) गौणी साध्यवसाना - गौरयम्

<u>मुकुलभट्ट का लक्षणा-विभाजन::-</u> आचार्य मुकुलभट्ट भी षड्विधलक्षणा मानते हैं, किन्तु उनके विभाजन से मम्मट का वहाँ से बराबर तालमेल बैठता है। मुकुलभट्ट लक्षणा के दो भेद-- (१) शुद्धा (२) औपचारा, करते हैं। शुद्धा के पुनः दो भेद उपादान तथा लक्षण लक्षणा करते हैं। यहाँ तक मम्मट उनका अनुकरण करते हैं। पुनश्च मुकुलभट्ट औपचारा लक्षणा के दो अन्य उपभेद(१) शुद्धोपचारवती तथा (२) गौणोपचारवती मानते हैं। शुद्धोपचारवती के पुनः दो भेद होते हैं - (१) आरोपगर्भ शुद्धोपचारवती (२) अध्यवसानगर्भ शुद्धोपचारवती।

इसी प्रकार गौणोपचारवती के भी दो भेद हो जाते हैं -- आरोपगर्भ गौणोपचारवती, अध्यवसानगर्भ गौणोपचारवती। इस प्रकार कुल मिलाकर लक्षणा के छः भेद हो जाते हैं। आश्चर्य है कि लक्षणा के भेद निरूपण में उक्त दोनों आचार्यों में स्पष्ट मतभेद है। आधुनिक समालोचकों का विचार है कि इनमें मतभेद का कारण यह है कि "आचार्य मम्मट की दृष्टि तो लक्षणामूलक व्यंजना के प्रतिपादन के लिए उन्मुख है और आचार्य मुकुलभट्ट की दृष्टि में व्यङ्ग्यार्थ ही लक्ष्यार्थ में समन्वित है।"

उल्लेखनीय है कि मम्मट के पश्चाद्वर्ती विश्वनाथादि आलंकारिकों ने लक्षणा को सर्वप्रथम रूढ़ि तथा प्रयोजनवती इन दो रूपों में विभक्त किया है। तदनन्तर वे उसके अवान्तर भेद प्रकाशित करते हैं। आचार्य मम्मट ने रूढ़ि और प्रयोजनवती रूप से लक्षणा का विभाजन पहले क्यों नहीं किया इसका उत्तर टीकाकारों ने दिया है। तदनुसार मम्मट ने यहाँ वस्तुतः लक्षणा का विभाग नहीं किया है। अपितु 'रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्' कहकर रूढ़ि और प्रयोजन को लक्षणा के हेतु के रूप में स्वीकार किया है। लक्षितुक्त भेद को द्वितीय उल्लास की अट्ठारहवीं कारिका में निरूपित किया है अतः कि यहाँ पर उक्त षड्भेद वे केवल प्रयोजनवती लक्षणा के मानते हैं। एक मत यह भी है कि मम्मट ने जो यहाँ पर षड्विधा प्रयोजनवती लक्षणा का निरूपण किया है वह भी साभिप्राय है। क्योंकि आगे उन्हें लक्षणा मूला व्यंजना का प्रतिपादन करना था। यथा उपादान लक्षणा अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनि तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के लिए उपयोगिनी है। इसी प्रकार सारोपा तथा साध्यवसानालक्षणा रूपक तथा प्रथमातिशयोक्ति के लिए है।[१] प्रतीत होता है कि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मम्मट ने मुकुलभट्ट का अनुकरण नहीं किया।

<u>व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा</u> :- व्यङ्ग्य के अभाव तथा उसके सद्भाव की दृष्टि से लक्षणा द्विधा होती है। जहाँ पर लक्षणा में व्यङ्ग्य का अभाव

---

(१) अत्रोपादान लक्षणाभ्याम् अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ सारोपासाध्यवसानाभ्याम् रूपक प्रथमातिशयोक्ती, शुद्धाभ्याम् च गौणाभ्याम् हि अलंकारं निरूपयिष्यति षड्भेद कथनमेव सफलम्। उद्योत -- पृष्ठ-५२।

रखता है उसे मम्मट रूढ़ि लक्षणा कहते हैं और जहाँ उसमें व्यङ्ग्य की सत्ता रहती है उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। प्रयोजनवती इसलिए कहा जाता है कि वक्ता किसी उद्देश्य विशेष से लाक्षणिक शब्द का प्रयोग करता है। वस्तुतः प्रयोजन और व्यङ्ग्य पर्याय कहे जा सकते हैं। यह प्रयोजन अथवा व्यङ्ग्य केवल व्यंजनाव्यापार के द्वारा ही बोधगम्य है। प्रयोजनवती लक्षणा के पुनः दो भेद होते हैं -- (१) गूढ़ व्यङ्ग्या अर्थात् जिसमें व्यङ्ग्य साधारण के बोध का विषय न बनता हो (२) अगूढ़ व्यङ्ग्या अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य की इतनी स्फुट प्रतीति होती हो कि जिसे सहृदयेतर भी सरलता से समझ लें। इस प्रकार व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा त्रिधा - (१) अव्यंग्या (रूढ़िलक्षणा) (२) गूढ़ व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या (प्रयोजनवती) होती है। मम्मट ने इनका सोदाहरण निरूपण किया है और टीकाकारों ने उसके स्पष्टीकरण के साथ समर्थन किया है। कोई उल्लेखनीय योगदान इस स्थल पर नहीं है, किन्तु सप्रभेद लक्षणा की संख्या में टीकाकारों का महत्वपूर्ण योगदान है जो यहाँ विवेच्य है। कुछ का मत है कि षड्विधलक्षणा का निरूपण करके स्वयं उपसंहार के रूप में मम्मट ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' कहा है। इनके अतिरिक्त अव्यङ्ग्या, गूढ़ व्यंग्या तथा अगूढ़ व्यंग्या इन त्रिविध प्रकारों के मिलने से मम्मट द्वारा मान्य ६ प्रकार की लक्षणा हो जाती है। किन्तु कुछ टीकाकारों ~~का यह भी~~ का यह भी मत है कि मम्मट ने लक्षणा के तेरह प्रकार बताया है। वह इस प्रकार से कि पूर्ववर्णित षड्विधलक्षणा केवल प्रयोजनवती लक्षणा के प्रकार हैं। उनमें प्रत्येक के गूढ़ व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या रूप दो-दो भेद और होकर प्रयोजनवती लक्षणा के बारह भेद हो जाते हैं। रूढ़िलक्षणा केवल एक प्रकार की होती है। इसके भी मिलने से लक्षणा के तेरह भेद हो जाते हैं।

**लाक्षणिक शब्द::-** लक्षणा का सप्रभेद निरूपण करने के पश्चात् प्रकरण के उपसंहार के रूप में मम्मट ने लाक्षणिक शब्द का उल्लेख 'तद्भूर्लाक्षणिकः' रूप में किया है। इसका अर्थ है कि लक्षणा का आधार लाक्षणिक शब्द होता है। भाव यह है कि विभिन्न भेदों वाली लक्षणा में लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाला शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है। पारिभाषिक स्वरूप के अनुसार जो शब्द जिस अर्थविषयक लक्षणा (लक्ष्यार्थ) का आश्रय है वह शब्द उस अर्थ का लाक्षणिक है।

## -- व्यंजनास्वरूप विचार ::-

आचार्य मम्मट का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान व्यंजना स्वरूप-निरूपण में है । आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की नींव सुदृढ़ हो चुकी थी । किन्तु इस सिद्धान्त के विरोध में भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे । कुछ आचार्यों ने ध्वनिध्वंस के प्रति दृढ़ संकल्प ले रखा था । विभिन्न वादों में ध्वनि को अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न भी चल रहा था । ऐसे अवसर पर ध्वनिवादी परम्परा में आचार्य मम्मट का अभ्युदय हुआ जिन्होंने विरोधियों के तर्कों का मुंहतोड़ उत्तर दिया और ध्वनिविचार को कल्पना से साकार किया । लक्षणा निरूपण के पश्चात् उन्होंने व्यंजना व्यापार को स्पष्ट करने का प्रयास इन शब्दों में किया - "तत्र व्यापारो व्यंजनात्मकः" । इसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए टीकाकारों का कथन है कि यहां पर "तत्र" का अर्थ है (शैत्यपावनत्व रूप) प्रयोजन और व्यापार है शब्द की वृत्ति । प्रयोजन (शैत्यादि) की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यंजना कहलाता है । भाव यह है कि व्यंजना नामक शब्द की वृत्ति से प्रयोजन (व्यंग्य) की प्रतीति होती है । यह व्यंजना द्विधा - शब्द निष्ठा, अर्थनिष्ठा होती है । शब्द निष्ठा व्यंजना भी दो प्रकार की होती है-- अभिधामूला, लक्षणामूला । इनमें से मम्मट ने सर्वप्रथम प्रसंग विद्यमान होने के कारण लक्षणा मूला व्यंजना का स्वरूप निर्धारित किया है ।१

### लक्षणामूला व्यंजना ::-

लक्षणामूला व्यंजना में दो तत्वों का होना अनिवार्य है - (१) लाक्षणिक शब्द और (२) व्यंजना व्यापार । दोनों के महत्व को आचार्य मम्मट इस कारिका में प्रस्तुत करते हैं ।--

> "यस्य प्रतीतिमाधातुं व्यंजना समुपास्यते ।
> फले शब्दैक गम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया ॥

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अथ व्यंजकशब्दनिरूपणाय व्यंजना निरूपणीया । सा च द्विधा शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च । - - - - - तत्र यद्यप्यभिधायाः प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमम् निरूपयितुमुचिता तथापि सुप्रसिद्धत्वाल्लक्षणायाः प्रकृतत्वाच्च तन्मूलामेव प्रथमम् निरूपयति" । प्रदीप पृष्ठ- ५६ ।

भाव यह है कि शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए जहाँ लक्षणा द्वारा शब्द का प्रयोग किया जाता है अर्थात् लाक्षणिक शब्द का प्रयोग होता है वहाँ उस प्रयोजन की प्रतीति उसी लाक्षणिक शब्द के द्वारा ही होती है न कि अनुमानादि किसी अन्य प्रमाण के द्वारा। साथ ही लाक्षणिक शब्द केवल व्यंजना व्यापार के द्वारा ही प्रयोजन की प्रतीति कराता है। वृत्तिभाग में इसे स्वयं मम्मट ने सुस्पष्ट किया है।१

<u>प्रयोजन प्रतीति में अभिधा व्यापार की असमर्थता ::-</u>

इसके लिए मम्मट 'नाभिधा समयाभावात्' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रयोजन की प्रतीति शब्द की मुख्यवृत्ति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती। क्योंकि अभिधा से केवल उसी अर्थ की प्रतीति होती है जिसमें शब्द का संकेत (समय) होता है। 'गंगायाम् घोषः' में लक्षणा द्वारा गंगा शब्द तट की प्रतीति कराता है और तट में शैत्य पावनत्व का बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है। शैत्यादि प्रयोजन की प्रतीति अभिधा द्वारा इसलिए नहीं होती कि वह गंगादि शब्द का संकेतित अर्थ नहीं है। अभिधा व्यापार तो केवल संकेतित अर्थ ही दे सकता है।

<u>प्रयोजन प्रतीति में लक्षणा व्यापार की असमर्थता ::-</u> लक्षणा के लिये हेतुत्रय (मुख्यार्थबाधादि) का होना आवश्यक है। इनके अभाव में लक्षणा संभव ही नहीं है। 'गंगायाम् घोषः' में जो शैत्यादि प्रयोजन की प्रतीति होती है यदि वह उक्त मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग इन दोनों हेतुओं के द्वारा होती तो निश्चित ही प्रयोजन को 'लक्षणा व्यापार गम्य' माना जा सकता था। किन्तु यहाँ पर इन हेतुओं का अभाव है अतः शैत्यादि की प्रतीति लक्षणा से सम्भव ही नहीं है। इसको और पुष्ट मम्मट इस प्रकार करते हैं --

"लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रयोजन प्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्द प्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यंजनादृतेऽन्यो व्यापारः। काव्यप्रकाश-पृष्ठ-५६

अर्थात् लक्ष्यार्थ तट स्वतः तो मुख्यार्थ ही नहीं है और न शैत्यादि अर्थ देने के लिए उसका साथ दे ही रहा है। साथ ही इन शैत्यादि के आगे कोई अन्य प्रयोजन ही है। अतः हेत्वभाव में लक्षणा-व्यापार से शैत्यादि प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती।

न च शब्दः स्खलद्गतिः :- उक्त कारिका के उत्तरार्ध में मम्मट ने 'न च शब्दः स्खलद्गतिः' कहा है और वृत्तिभाग में उसे स्पष्ट करते हुए 'नापि गंगा शब्दः तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः' इत्यादि कहा है। यहाँ पर मम्मट का अभिप्राय सरलता से स्पष्ट नहीं हो पाता। साथ ही टीकाकारों के व्याख्यान में भी मतभेद है। कुछ टीकाकार 'प्रयोजनं प्रतिपादयितुम् असमर्थः' पाठ करके अर्थ लगाते हैं तो कुछ 'समर्थः' मानकर, किन्तु अधिकांश 'असमर्थ' पाठ ही मानने के पक्ष में हैं। इन टीकाकारों की दृष्टि से उक्त अंश का अर्थ यहाँ विचारणीय है। वस्तुतः उक्त कारिका में मम्मट का आग्रह केवल प्रयोजन को लक्ष्यार्थ न मानने में है। उसकी सिद्धि शब्द के 'स्खलद्गतित्वं' मानने से भी हो जाती है। भाव यह है कि यदि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जाय तो शब्द स्खलद्गति अवश्य होगा और मुख्यार्थ बाधादि हेतुत्रय के ठीक पश्चात् ही उसका ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि मुख्यार्थ बाधादि के पश्चात् ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। अतएव मुख्यार्थबाधादि का लक्ष्यार्थ में होना आवश्यक है। इसके अभाव में लक्ष्यार्थ की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। यथा गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ तट है। हेतुत्रय के अभाव में गंगाशब्द तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। अतः तट रूप अर्थ की प्रतीति में गंगा शब्द स्खलद्गति है। किन्तु शैत्य-पावनत्वादि की प्रतीति में गंगा शब्द स्खलद्गति नहीं है। क्योंकि मुख्यार्थबाधादि के बाद ही वह प्रयोजन की प्रतीति नहीं कराता अपितु तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है। साथ ही शैत्यादि धर्म मुख्यार्थबाधादि के बिना ही गंगा में अविनाभाव सम्बन्ध से रहने के कारण शब्द के उच्चारण के साथ ही प्रतीत हो जाते हैं। अस्तु, गंगा शब्द हेतुत्रय के अभाव में भी उस पावनत्वादि अर्थ के प्रतिपादन में असमर्थ नहीं अपितु समर्थ है और उस अर्थ के विषय में वे

स्खलद्गति नहीं है।१ निष्कर्ष यह कि शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजन की प्रतीति केवल व्यंजना व्यापार द्वारा ही हो सकती है और प्रयोजन कभी भी लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता।२

यहाँ तक मम्मट ने सिद्ध किया कि प्रयोजन लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता। किन्तु इतने मात्र से उन्हें सन्तोष नहीं था। विषय के अन्तस में प्रवेश कर सिद्ध को पुष्ट करना, मम्मट का सहज गुण है। ऊपर विवेचित सिद्धांत को पुष्टि में आगे वे कहते हैं कि--'एवमप्यनवस्था स्यात् या मूलक्षयकारिणी' तात्पर्य यह है कि यदि किसी प्रकार लक्ष्यार्थ को प्रयोजन मान भी लिया जाय तो उसके मानने में अनवस्था दोष आ पड़ेगा। अनवस्था दोष का अर्थ है कि यदि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जाय तो उसका भी कोई प्रयोजन होगा। पुनः उस दूसरे प्रयोजन को भी उसी प्रकार लक्ष्यार्थ मानना पड़ेगा और उसके तीसरे प्रयोजन की सम्भावना करनी होगी। इसी क्रम से चौथे फिर पाँचवें इत्यादि प्रयोजन की उद्भावना लगातार होती रहेगी। यही अनवस्था दोष है। इससे मुख्य का भी ज्ञान समाप्त हो जायेगा।

उक्त 'मूलक्षयकारिणी' का अर्थ मम्मट ने 'प्रकृताप्रतीतिकृत्' किया है। मूल या प्रकृत से मम्मट का क्या अभिप्राय था, इस विषय में टीकाकारों में मतभेद है। एकमत यह है कि गंगा शब्द का तट रूप अर्थ में जो लक्षणा है उसी की प्रतीति में अनवस्था दोष होता है।३ स्पष्ट है कि तट को यहाँ प्रकृत या मूल माना गया है। किन्तु दूसरे टीकाकार शैत्य-पावनत्वादि को भी प्रकृत मानते हैं।४

वस्तुतः 'शैत्यपावनत्वादि' रूप प्रयोजन को ही प्रकृत माना जाय तो अधिक समीचीन होगा। क्योंकि उक्त प्रयोजन को ही दृष्टि में रखकर मम्मट का यह संघर्ष चल रहा है, न कि तट रूप लक्ष्यार्थ को लेकर। यदि द्वितीय सोपान पर

---

(१) मुख्यार्थबाधादित्रयमपेक्ष्य बोधकत्वं स्खलद्गतित्वम् एवं नापि गंगाशब्दः तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः इत्यादि पूर्वोक्त बाधादित्रयमनपेक्ष्य इति शेषेण द्रष्टव्यः। समर्थः इति पाठे तु बाधादित्रयमपेक्ष्यैव। प्रदीप पृष्ठ-५८।

(२) गंगाशब्दस्तटं यथा बाधादित्रयमपेक्ष्य प्रतिपादयितुमसमर्थस्तथा प्रयोजनं नेत्यर्थः। गंगादिशब्दः प्रयोजनांशे तदपेक्षा नेत्यतः प्रयोजनं न लक्ष्यम्। उद्योत पृष्ठ-५८।

(३) प्रकृता या लक्षणा (गंगाशब्दस्य तटे लक्षणा) तस्याः प्रतीतिकृत्। बाल०-पृष्ठ-६१।

समारूढ लक्ष्यार्थ तट को उक्त परम्परा में प्रयुक्त स्वीकार किया जाय तो गंगाप्रवाह रूप अभिधेयार्थ को भी प्रयुक्त मानने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए। किन्तु टीकाकारों को यह अभिप्रेत नहीं है। अतएव शैत्यादि को प्रयुक्त माना जाय और अन्य प्रयोजनों का अनपेक्षित अन्वेषण छोड़ दें तो उसी प्रमुख प्रयोजन शैत्यादि की प्रतीति न हो सकेगा। अतः शैत्यादि के लिए ही मम्मट ने प्रयुक्त का प्रयोग किया है, ऐसा मानना ही अधिक प्रतीत होता है।

<u>प्रयोजन विशिष्ट में लक्षणा का निराकरण::-</u>

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण पूर्वपक्ष की उद्भावना मम्मट करते हैं। वह यह कि प्रयोजन की प्रतीति में भले ही व्यंजना-व्यापार आवश्यक हो किन्तु विशिष्ट लक्षणा में उसकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। विशिष्ट लक्षणा का तात्पर्य है प्रयोजन से युक्त लक्ष्यार्थ की प्रतीति होना। 'गंगायाम् घोषः' में लक्ष्यार्थ तट है तथा प्रयोजन शैत्यपावनत्वादि। अब प्रश्न यह है कि गंगायाम् घोषः कहने से शैत्यादि-विशिष्ट तट की प्रतीति क्यों न स्वीकार कर ली जाय। अन्तर केवल इतना होगा कि 'गंगा तटे घोषः' की अपेक्षा 'गंगायाम् घोषः' कहने पर कुछ अधिक एवं विशिष्ट प्रकार का अर्थ प्राप्त होता है। इससे लाभ यह होगा कि व्यंजना नामक अन्य व्यापार भी न मानकर उसी लक्षणा द्वारा काम चल जायेगा।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए मम्मट का कथन है -- 'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते'। भाव यह है कि लक्षणा द्वारा प्रयोजन सहित लक्ष्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। मम्मट के ही अनुसार लक्षणीयम् का अर्थ 'लक्षणाजन्यज्ञानविषयः' अर्थात् तट और प्रयोजन का 'प्रयोजनीभूतज्ञान विषयेण' है। कारण यह है कि लक्षणाजन्यज्ञान विषय तट की प्रतीति प्रयोजनीभूत ज्ञान विषय पावनत्वादि के साथ नहीं होती। इस प्रतिज्ञा की सिद्धि मम्मट इसी के आधार पर करते हैं। पूर्व पक्ष के अनुसार लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट और ज्ञान का फल पावनत्वादि दोनों में अभेद है। अर्थात् ज्ञान का विषय और उसका फल एक साथ प्रतीत होने के कारण अपृथक् हैं। मम्मट के अनुसार ज्ञान का

विषय और उसका फल कदापि एक नहीं हो सकते । और उनको एक काल में उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । उन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है, सम्बन्धित होते हुए भी भिन्न हैं । कारिका इस प्रकार है — "आमत्य विषयों पृथक्य: फलमन्यदुदाहृतम्" । "गंगायाम् घोष:" में लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट और उसका फल शैत्यादि दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है । तट एक विषय कारण है तथा शैत्यादि एक फल कार्य है । कारण और कार्य को एक साथ न मानकर पृथक्-पृथक् मानना ही होगा ।

ज्ञान का विषय तथा ज्ञान का फल दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं । इस तथ्य की सिद्धि हेतु मम्मट न्याय तथा मीमांसा की दार्शनिक पृष्ठ भूमि का आश्रयण लेते हैं । उनके यहाँ घट, पट इत्यादि विषयों का जो ज्ञान होता है उनका विषय घटादि हैं । ये घटादि विषय ज्ञान के प्रति कारण होते हैं । अतएव उनका अस्तित्व ज्ञान के पूर्व भी विद्यमान रहता है । यह सिद्धान्त प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में मान्य है । किन्तु ज्ञान के फल के सम्बन्ध में न्याय तथा मीमांसा में मतैक्य नहीं है । उनके मतों का संक्षिप्त स्वरूप मम्मट एक पंक्ति में इस प्रकार कहे हैं-- "प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषय: फलं तु प्रकटता संविधिर्वा", दोनों सिद्धान्तों को सुस्पष्ट करने का श्रेय काव्य प्रकाश के टीकाकारों को है । क्रमश: विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है ।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त:- इस सिद्धान्त के अनुसार सर्व प्रथम विषय (घटादि)से उसका ज्ञान उत्पन्न होता है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों से घटादि विषयों का ज्ञान हो जाता है । किन्तु इस घटादि ज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नैयायिक अनुव्यवसाय (संविधि) की कल्पना करता है । पहले 'अयं घट:' इस प्रकार का ज्ञान होता है तदनन्तर "घटमहं जानामि" अथवा "घटज्ञानवानहम्" यह दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है । "अयं घट:" इस प्रथम ज्ञान व्यवसायात्मक ज्ञान अनुव्यवसाय कहा जाता है। अनुव्यवसाय का अर्थ हा है ज्ञान का ज्ञान/प्रथम ज्ञान "अयं घट:" में ज्ञान का विषय घट है,जब कि "घटज्ञानवानहम्" इस द्वितीय ज्ञान का विषय घटज्ञान है । प्रथम ज्ञान अपने विषय घट से उत्पन्न होता है जब कि

द्वितीय ज्ञान अपने व्यवसायात्मक घटज्ञान से उत्पन्न होता है। अतः इसे अनुव्यवसाय की संज्ञा दी जाती है। यहाँ अनुव्यवसाय घटज्ञान (विषय) का फल है। घटज्ञान के विषय घट से उसका फल (अनुव्यवसाय) भिन्न होता है। अतः न्याय के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का विषय उसके फल से भिन्न माना जाता है। दोनों एक कभी भी नहीं हो सकते। विवरण टीका में नैयायिकों के मत के साथ ही वेदान्त और सांख्य का भी मत दिया गया है।१

मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त:-

इस सन्दर्भ में मीमांसा का सिद्धान्त न्याय से कुछ भिन्न है। ऊपर के विवेचन के अनुसार न्याय अयं घटः के पश्चात् "अहम् घटम् जानामि" इस रूप का अनुव्यवसाय की कल्पना करता है। किन्तु मीमांसा अनुव्यवसाय के स्थान पर ज्ञातता (प्रकटता) धर्म विशेष की उत्पत्ति मानता है। तदनुसार "अयं घटः" इस ज्ञान के पश्चात् "ज्ञातो मया घटः" इस प्रकार का बोध होता है। इस बोध में घट में रहने वाला ज्ञातता नामक धर्म आभासित होता है। उनका कथन है कि यह धर्म ज्ञान के पूर्व घट में विद्यमान नहीं था। ज्ञान होने के पश्चात् ही आया है अतः इसे ज्ञान से उत्पन्न होने वाला कहा जा सकता है। ज्ञान उसका कारण है और बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति कभी हो नहीं सकती। अतएव ज्ञान के बिना "ज्ञातता" धर्म भी घट में उत्पन्न नहीं हो सकता। "ज्ञातो मया घटः" इस प्रतीति में भासित होने के कारण ज्ञातता धर्म घट में उत्पन्न हुआ है, अतएव उसका कारण ज्ञान अवश्य होगा। इसी दृष्टि से मीमांसक ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है, ऐसा स्वीकार करते हैं।२

---

(१) सति च घटज्ञाने घटमहं जानामीति प्रत्ययरूपा अनुव्यवसायापरपर्याया संवित्तिर्ज्ञानात् जायते इति तार्किकाः। ज्ञानं तावदिन्द्रियम् अन्तःकरण वृत्तिरूपं फलरूपं चेति तथा वृत्तिज्ञानेन विषयस्यावज्ञाने निवारिते विषयप्रकाशात्मकं फलज्ञानं जायते इति वेदान्तिकसिद्धान्तः। विषयप्रकाशात्मिका एवं संवित्तिः इति सांख्यानामपि सम्मतम्। विवरण पृष्ठ-२३।

(२) घटज्ञानानन्तरम् ज्ञातो घट इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन् ज्ञातता परनाम्नी प्रकटता जायते इति भट्टमीमांसक मीमांसा। तत्र ज्ञातता न पदार्थान्तरम् किन्तु ज्ञानविषयता सापि च ज्ञानात् न जायते। विवरण पृष्ठ-२३।

**अनुव्यवसाय और ज्ञातता में भेद::-** नैयायिक ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से करता है जब कि मीमांसक ज्ञातता से। 'अयं घटः' इस ज्ञान से नैयायिकों का अनुव्यवसाय तथा मीमांसकों की ज्ञातता दोनों की उत्पत्ति होती है। किन्तु दोनों के मौलिक भेद को टीकाकार माणिक्यचन्द्र स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि नैयायिक का अनुव्यवसाय आत्मा में रहने वाला धर्म है जब कि मीमांसक की ज्ञातता घट-पट आदि विषयों का धर्म है। अतः ये दोनों भिन्न सिद्धान्त माने जाते हैं।१

प्रदीपकार ने इस स्थल पर यह निर्णय किया है कि यहाँ मम्मट का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार दार्शनिकप्रक्रिया में ज्ञान का विषय तथा उसका फल भिन्न होता है उसी प्रकार लक्षणाजन्यज्ञान तट तथा उसके प्रयोजन शैत्यादि भी भिन्न होते हैं। अतएव लक्षणा द्वारा ही शैत्यादि विशिष्ट तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।२ प्रसंग का उपसंहार करते हुए मम्मट का कथन है कि विशिष्ट लक्षणा का सिद्धान्त मानना ठीक नहीं है। तटादि में शैत्य-पावनत्व की जो प्रतीति होती है, वह अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा के द्वारा बोध्य नहीं है, अपितु उसके लिए ध्वनन या व्यंजन रूप एक अन्य व्यापार को मानना ही पड़ेगा।३

**मम्मटकृत आलोचना का आधार::-** आचार्य मम्मट ने व्यंजना व्यापार की प्रतिष्ठा

---

(१) प्रकटता भट्टमते। संवित्तिः प्रभाकरमते। प्रकटत्वं वस्तुधर्मः संवित्तिरात्मधर्मः। संकेत - पृष्ठ - २८।

(२) ज्ञानस्य कर्मभूतो विषयो यथा ज्ञानादन्यस्तथा फलमपि तस्य स्फुटमेव भिन्नम्। कारणेन कार्यस्यापि भिन्नकालत्वनियमात्। तटादौ तु शैत्यं फलमपि व्यापा-रेण दृश्यते। तथा च लक्षणाजन्यस्य ज्ञानं तदा प्रयोजनं। शैत्यादस्त्वर्थः। प्रदीप पृष्ठ - ५६।

(३) तस्मात् तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यंजनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमवश्य-मेषितव्यम्। काव्यप्रकाश - पृष्ठ - ६६।

करने के लिये उक्त जिन पूर्व पक्षों की उद्भावना की है उनका आधार मुकुलभट्ट की अभिधावृत्ति मातृका है। मुकुल भट्ट रूढ़ि तथा प्रयोजन को लक्षणा की प्रयोजक हेतु मानते हैं। कारिका इस प्रकार है - रूढ़ेः प्रयोजनाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते। इस सन्दर्भ में उनका यह व्याख्यान भी द्रष्टव्य है - "अत्र च लक्षणायां प्रयोजनम् तटस्य गंगातटैकार्थ्यसमवेतशीतत्वपावनत्वपुण्यत्वमनोहरत्वादिप्रतिपादनम् नहि तद् पुण्यत्वमनोहरत्वादिस्वशब्दैः स्पष्टं उच्यते"।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट पुण्यत्वमनोहरत्व का प्रतिपादन लक्षणा का प्रयोजन मानते हैं। साथ ही इसकी प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं होती यह भी उन्हें मान्य है। प्रश्न है कि किस व्यापार के द्वारा उन्हें इसकी प्रतीति अभीष्ट है। व्यंजना व्यापार वे मानते ही नहीं। अत: इस प्रकार से उन्हें लक्षणा द्वारा ही इसका बोध मानना पड़ता है। लक्षणा से इसकी प्रतीति मानने के दो पक्ष सम्भव हैं। एक तो यह कि प्रयोजन को ही लक्ष्यार्थ माना जाय अथवा विशिष्ट लक्षणा से प्रयोजन की प्रतीति हो। इन दोनों पक्षों में कौन सा मुकुलभट्ट को अभिप्रेत है। इसका कोई भी स्पष्टीकरण उनके ग्रन्थ में नहीं मिलता। किन्तु विवेचन के स्वारस्य से यही सम्भावना की जा सकती है कि उन्हें विशिष्ट लक्षणा अर्थात् प्रयोजन सहित लक्ष्यार्थ मान्य था। क्योंकि एकत्र उन्होंने तट को लक्ष्यार्थ माना है।[1] इससे यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मुकुलभट्ट कम से कम प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं मानते। अत: विशिष्ट लक्षणा में ही अर्थात् पुण्यत्वादि से युक्त तट की प्रतीति होती है। यही उनका अभिमत मानना चाहिए। जहाँ तक मम्मट का प्रश्न है वे ध्वनिवादी परम्परा के अनुयायी हैं। उन्होंने इन दोनों पूर्वपक्षों का सफलता पूर्वक खण्डन करके ऐसे स्थल पर व्यंजना व्यापार को प्रतिष्ठित किया है जिसे हम उनका अमूल्य योगदान कह सकते हैं। यहाँ पर व्यंजना लक्षणा का आश्रय लेती है अत: इसे लक्षणामूला व्यंजना कहा जाता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अत्र हि गंगाशब्दाभिधेयस्य। प्रतीतिविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्य शब्दार्थं बाधे सति योऽसौ समीप-समीपि-भावात्मकः सम्बन्धस्तद्द्वारेण तटं लक्षयति। अभिधा-वृत्ति-मातृका - पृष्ठ-१७ ।

<u>संयोगादि का वैशिष्ट्य:</u>:- अभिधामूला व्यंजना के स्वरूप निरूपण में यह संकेत किया गया है कि संयोगादि के द्वारा वाच्यार्थ नियंत्रित होता है। यहाँ संयोगादि से क्या तात्पर्य है? व्याकरणशास्त्र में महाभाष्यकार ने अभिधानियामक तत्वों पर यथोचित विचार किया है। उसी परम्परा में भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में इस विषय की दो कारिकायें प्रस्तुत किया है जिसे मम्मट ने अविकल यहाँ ग्रहण किया है।१ संयोगादि का क्रम इस प्रकार है - संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यशब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वरादि। इनका महत्व बताते हुए भर्तृहरि ने अन्तिम पंक्ति में "शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः" कहा है। भाव यह है कि कुछ शब्द अनेकार्थक होते हैं। ऐसे शब्दों के अर्थग्रहण में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। जब शब्द का वाच्यार्थ सन्देहास्पद रहता है तब संयोगादि ही विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराते हैं। अतः संयोगादि को अर्थनिर्णय का हेतु कहा जाता है। संयोगादि का उदाहरण स्वयं आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है और टीकाकारों ने उनका समुचित व्याख्यान भी किया है। --

विवक्षित विषय के स्पष्टीकरण के लिए संयोगादि में से साहचर्य का मम्मट प्रदत्त उदाहरण एवं टीकाकार का व्याख्यान द्रष्टव्य है।

बालबोधिनीकार के अनुसार साहचर्य का अर्थ है एककाल या स्थान में साथ-साथ रहना अथवा एक कार्य में परस्पर सापेक्ष रहना।२ झलकीकार के मत से साहचर्य का आशय सादृश्य है। प्रायः सदृश वस्तुओं का ही सहचरण होता है। दो शब्दों का भी सदृश अर्थ में प्रयोग होता है।३ मम्मट साहचर्य का उदाहरण 'रामलक्ष्मणौ'

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ वाक्यप्रदीप।

(२) एककालदेशावस्थायित्वम् एकस्मिन् कार्ये परस्परसापेक्षत्वम् वा। बालबोधिनी -- पृष्ठ- ६३।

(३) वस्तुतस्तु सहचरता सादृश्यम्। सदृशयोरेव प्रायेण सहचरणदर्शनात्।
-- शब्दयोरपि शब्दार्थयोः प्रयोग इत्युक्तम् उद्योत पृष्ठ- ६३।

वस्तुतः अन्तिम व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि अन्यार्थ की प्रतीति कराना कवि को विवक्षित रहता है। अब यह बताना था और टीका के द्वारा अभिमत को स्पष्ट करे अथवा अन्य किसी हेतु से। जो भी हेतु होगा उसमें कवि का कुशलता का ही परिचय प्राप्त होगा। अतः अन्यार्थ की प्रतीति वहीं सम्भव होगी जहाँ कवि अपना कुशलता से सहृदयों को उसका आभास कराना चाहेगा।

<u>अभिधामूला-व्यंजना का उदाहरण</u>::- अभिधामूला व्यंजना शाब्दी तथा आर्थी दो प्रकार की होती है। शाब्दी-व्यंजना का उदाहरण मम्मट उक्त श्लोक को प्रस्तुत करते हैं--

"भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

उक्त पद्य में प्रस्तुत किसी राजा का वर्णन है। प्राकरणिक अर्थ राजा के पक्ष में इस प्रकार है -- जिसकी आत्मा शुभ है, जिसका शरीर अन्य के द्वारा जेय नहीं है, उच्चवंश में जिसकी प्रसिद्धि है, जिसने बाण चलाने का खूब अभ्यास किया है, जिसकी गति अबाधित है, ऐसे शत्रुनिवारक उस राजा का हाथ सदैव दान के जल के द्वारा सींचे जाने से सुन्दर था। इस प्राकरणिक अर्थ के बाद ही पश्चात् सहृदय को एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। उक्त सभी विशेषण "गज" का अर्थ देने में सक्षम हैं। "परवारणस्य" इस पद से सहृदय "गज" के अर्थ में सोचता है और सम्पूर्ण विशेषण उस अर्थ को उपस्थित करते हुए से प्रतीत होते हैं। अर्थ इस प्रकार होगा- जिसकी जाति (भद्र, मन्द आदि आठ गज जातियों में) भद्र है, जिसके शरीर पर आरोहण करना कठिन है जिसका पृष्ठ दण्ड का उच्च है, जिसने भ्रमरों को एकत्रित किया है, जिसकी चाल धीर है, ऐसे उत्कृष्ट गज का शुण्डादण्ड सतत मदजल के द्वारा सींचे जाने से सुन्दर था।

उक्त दोनों अर्थों में राजा वाच्य है और हाथी प्रतीयमान। प्रकरणवश "भद्रात्मनः" इत्यादि पदों का राजा में वाच्यार्थ अभिधा के द्वारा नियंत्रित हो जाने पर, गजविषयक अन्यार्थ की भी प्रतीति होती है वह केवल

दोनों अर्थों को यदि अनिर्देश्य माना जायेगा तो अनर्थपूर्वकत्वात् भाव असम्भव ही जायगा। अतएव द्वितीयार्थ की प्रतीति में 'अभिधेयनानात्वे धर्मैकत्वम्' इस सिद्धान्त के अनुसार भिन्न शब्द की कल्पना करने के स्थान पर भिन्न ही व्यंजना नामक वृत्ति स्वीकार करना उचित है।१

प्रदीपकार का मत :-

प्रदीपकार ने उक्त युक्ति के दूसरे अंश पर विचार किया है। तदनुसार यदि दोनों अर्थों में उपमानोपमेयभाव विद्यमान है तो शब्द श्लेष का क्षेत्र तो नहीं हो सकता। अतः व्यंजना शब्द श्लेष से तो भिन्न है किन्तु अर्थ श्लेष से इसका भेद कैसे किया जा सकता है? यदि नहीं तो इस स्थल पर व्यंजना व्यापार के स्थान पर अर्थ श्लेष का ही विषय क्यों न मान लिया जाय। इसका समाधान प्रदीपकार इस प्रकार देते हैं :- 'जहाँ पर प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों अर्थों में कवि का तात्पर्य रहता है वहीं पर अर्थश्लेष का क्षेत्र है किन्तु जहाँ पर एक ही अर्थ में तात्पर्य रहता है और द्वितीयार्थ का आभास सामर्थ्यमहिमा से होता है वहाँ व्यंजना ही है न कि श्लेष।२ उद्योतकार का कथन है कि जहाँ दोनों अर्थों में परस्पर अन्वय के बिना एक दूसरे का अन्वय उपपन्न हो नहीं होता और विशेष्य अश्लिष्ट रहता है वहाँ पर श्लिष्ट रूपक बने रहता है। किन्तु उक्त पद्य में ऐसा न होने के कारण यह श्लेष का विषय नहीं है।३

निष्कर्ष यह कि जहाँ पर अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर प्रकरण इत्यादि के कारण वक्ता का तात्पर्य स्पष्टतः अनेक अर्थों में रहता है वहाँ पर श्लेष माना जाता है। किन्तु जहाँ पर केवल एक ही अर्थ में वक्ता का अभिप्राय रहता है वहाँ व्यंजना व्यापार द्वारा ही प्राकरणिकार्थ का ग्रहण होता है।४

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अत्र हि शब्दद्वयकल्पने अर्थं प्रत्याय्येत्य प्रथमप्रतीति। गौरमिति एकैवैन कुत्सितत्वादु- भावनैवासम्भवात्। किं च द्वितीयार्थेऽपि अभिधेयनानात्वे नरं धर्मैकत्वम् इति भिन्नशब्दकल्पनात् भिन्नैव व्यंजनाख्या वृत्तिरङ्गीकृता। बाल०पृष्ठ- ६६।

(२) यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र त्वेकार्थमन्यत्र तु सामर्थ्यमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति। प्रदीप पृष्ठ- ६०।

(३) यत्र द्वयोरर्थयोः परस्परान्वयं विना ह्येकत्रान्वयानुपपत्तिर्विशेष्यमश्लिष्टं च तत्रैव श्लिष्टरूपकम्। --- प्रकृते तु न उद्योत - पृष्ठ- ६६।

(४) द्रष्टव्य है बालबोधिनी टीका पृष्ठ- ६६।

नायिका के भिन्न कथन से व्यथा-कथा विशेष अर्थ अभिव्यंजित होता है, अतः ध्वन्य के प्रकाशन में टीकाकारों का उल्लेखनीय योगदान है। कुछ विचार यहाँ द्रष्टव्य हैं।

**उद्योतकार का मत ::-** इसके अनुसार उक्त पद्य में 'यदि' पद से वक्रार्थ का ध्वनित होता है और 'जलकुम्भ' से उसका दुर्वहत्व। 'दूरतो गृह समागता' तथा 'त्वरित' से मार्ग में विश्राम का अभाव, 'अस्मि' से मैं सुकुमार शरीर वाली हूँ, व्यंजित होता है। इनसे स्वेदादि-अयोग्यता भी ध्वनित होती है। इस कथन से यह बोध कराने का प्रयास किया जाता है कि यह श्रम उक्त प्रकार के जलकुम्भ के वहन करने के ही कारण है। इसे अन्यथा शंकित न करना चाहिए।[1] प्रभा टीका के अनुसार इसमें घटनायनजन्य श्रम भावरूप वाच्यार्थ है। चौर्यरतगोपन व्यंग्यार्थ। वक्त्री एक पुंश्चली स्त्री है जिसे सहृदय जानता है। उसके दुःशीलत्व वैशिष्ट्य से चौर्यरत गोपन व्यंजित होता है।[2] उद्योतकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ पर वाच्यघटित वाच्यार्थ का गुप्त रूप से किए गए रति क्रीडा को छिपाती है, इस रूप में अर्थ सामाजिकों के प्रति व्यंग्य है। शब्द परिवृत्तिसहत्व होने के कारण यह अर्थ की ही व्यंजकता है।[3]

**विवेककार श्रीधर का मत ::-** विवेक टीका के अनुसार अन्वय निमित्तमूल सम्पूर्ण व्यापार के पूर्वस्थित हो जाने पर जो उक्त अन्वय से भिन्न अर्थान्तर की प्रतीति होती है, उसमें वक्त्री के वैशिष्ट्य का ही सहयोग है। क्योंकि कुलटा वक्त्री के

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) यदीत्यसम्भाव्यार्थकं ध्वननम्। जलकुम्भं जलपूर्णकुम्भम्। तेन दुर्वहत्वम्। दूरतो वा समागता। तदपि त्वरितं न शनैः। तेन मध्ये विश्रामाभावः। अस्मि अहमिति अस्य सुकुमारतनुः अतः स्वेदादिकस्य योग्यता ध्वननम्। -- अतिशय नोदनया स्वेदादियुक्तम्। जलकुम्भवहनजन्य एवायं श्रमो नान्यथा शंकितव्यो इति भावः। -- उद्योत पृष्ठ- ७२।

(२) अत्र वक्त्री कामिनी। तस्याः दुःशीलत्वस्य वैशिष्ट्यं विजानतां चौर्यरतगोपनं व्यक्तीभवति। -- प्रभा पृष्ठ- ७२।

(३) अत्र वाच्यघटितवाच्यार्थस्य चौर्येणकृतं रतं गोपयतीति सामाजिकान् प्रति व्यंग्यमिति भावः। शब्दपरिवृत्तिसहत्वादर्थस्यैव वृत्तिरिति बोध्यम्। उद्योत पृष्ठ- ७२।

कथन पर अर्थान्तर की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती अतः जो अर्थान्तर की प्रतीति में प्रसिद्ध अभिधा तात्पर्य से अतिरिक्त व्यंजना व्यापार ही कारण है। उसमें भी शब्द निष्ठा व्यंजकत्व न होकर अर्थ निष्ठा व्यंजकत्व ही है।[1]

**बोद्धव्य वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ प्रकाशकत्व:-** मम्मट के अनुसार बोद्धव्य का अर्थ है प्रतिपाद्य। इसे स्पष्ट करते हुए विवेककार का कथन है कि शब्द प्रयोग परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए होता है। अतएव जो भी समवेत प्रतीति उत्पाद्य होती है वही बोद्धव्य है।[2] संक्षेप में बोधनीय पुरुष ही बोद्धव्य है।[3] वक्ता पर प्रतीति के हेतु वाक्य का प्रयोग करता है। जिसको उद्देश्य में रखकर या जिससे कहना वक्ता का लक्ष्य है वह बोद्धव्य है। उस बोद्धव्य वैशिष्ट्य से अर्थ अन्यार्थ का व्यंजक होता है। यथा -

॥ औन्निद्र्यम् दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥

उक्त उदाहरण प्राकृत श्लोक की संस्कृत छाया है। प्राकृत में तुह वि (त्वामपि), अहह तथा केरं (कृते) पदों को लेकर पाठभेद विषयक विवाद है। संकेतकार तुह पद को द्वितीयार्थ में षष्ठी मानते हैं। तदनुसार संस्कृत छाया तव होगी जो कि द्वितीयार्थ में प्रयुक्त है। दीपिकाकार तुह को द्वितीयान्त पद (त्वाम्) ही मानते हैं। उद्योतकार भी इन्हीं का समर्थन करते हैं। क्योंकि षष्ठ्यर्थ को वे अन्य का मत कहते हुए प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार कुछ टीकाकार तुह पद की छाया तव करते हैं तो कुछ त्वाम्। किन्तु अधिक टीकाकार त्वाम् छाया ही उपयुक्त मानते हैं।

'अहह' पद को लेकर भी टीकाकारों में मतभेद है। कुछ 'अहह' को तुह वि के पूर्व रखते हैं ( अहह तुह वि ) तो कुछ पश्चात् (तुह वि अहह)।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) इत्थं तदाम्नायनिमित्तभूते सर्वस्मिन् व्यापारे सुस्थितेऽपि --- कस्यचिदर्थान्तरस्य प्रतीतिः तत्र वक्त्रादि वैशिष्ट्यमेव सहकारिता। नहि वक्त्राद्यभावे अर्थान्तरप्रतीतिः सम्भवति, इयानां वाच्यार्थं व्यभिचारितः अर्थान्तरप्रतीते हेतुः प्रसिद्धाभिधाद्यतिरिक्तम् व्यंजनमेवागमि, शब्दव्यापारोपरमात्तत्र चार्थस्यव्यंजकत्वे प्राधान्यम्। वि0पृ0 50

(2) शब्दप्रयोगस्य परार्थत्वात् यस्य समवेता प्रतीतिरुत्पाद्या स बोद्धव्यः। विवेक-पृ0 50।

(3) बोधनीयो पुरुषः बोद्धव्य।

तथा आलस्य प्राप्त कर रहे हैं। इसमें वाच्यघटित वाच्यार्थ है - निद्राच्छिद्र आदि युक्त विरहोत्कण्ठिता को तो प्राप्त कर ही रहे हैं साथ ही मेरे कार्य के लिए कामुक को प्रसन्न करने में गमनागमनादि व्यापार से तुम भी कष्ट पा रही हो। यहाँ सखि पद के प्रयोग से यह अंतर नहीं रह जाता कि किसी का दुःख दूसरे भी दुःखी कैसे कर सकता है। क्यों कि सखी का दुःख सुख में समभाग किया होता है।

इस उदाहरण में मम्मट के अनुसार दूती का नायिका के कामुक के साथ संभोग व्यंग्य हो रहा है। प्रदीपकार के मत से यहाँ बोधव्य दूती है। उसकी पहले भी की गई दुष्टचेष्टाओं का ज्ञान सहृदय को है। अतएव इसी बोधव्य वैशिष्ट्य से उक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।१ बोधव्य का महत्व प्रकाशित करते हुए विवेककार का कथन है कि इस स्थल पर यदि प्रतिपाद्या यहाँ निसर्गविदग्धा होती तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति कदापि न होती। अतएव ऐसे स्थल पर प्रतिपाद्या का ही महत्व होता है।२

उक्त सरणि पर आचार्य मम्मट ने काकुवैशिष्ट्य से, वाक्यवैशिष्ट्य से, वाच्यवैशिष्ट्य से, अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य से, प्रस्ताववैशिष्ट्य से, देशवैशिष्ट्य से तथा कालवैशिष्ट्य से, वाच्यार्थ की व्यंग्यार्थ प्रत्यायकता के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। टीकाकारों ने उनका समुचित व्याख्यान भी किया है। किन्तु उदाहरणों में व्यंग्यार्थ के घटित करने के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है।

<u>आर्थी व्यंजना में शब्द की सहकारिता</u> :- मम्मट ने सर्व प्रथम "[illegible]" कह कर अनेक उदाहरणों से अर्थ की व्यंजकता को पुष्ट किया। किन्तु इसका यह आशय कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि जहाँ अर्थ की प्रधान रूप से व्यंजकता होती है वहाँ शब्द की व्यंजकता होती ही नहीं। क्यों कि काव्य तो शब्दार्थ युगलरूप होता है। जहाँ शब्द और अर्थ दोनों व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं वहाँ ध्वनित्व

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रदीप - पृष्ठ-७३।

(२) अत्रापि यदि निसर्गविदग्धप्रकृता प्रतिपाद्या स्यात् तदा व्यङ्ग्यप्रतीतिः न स्यात्। अतः प्रतिपाद्यायाः वैशिष्ट्यस्य प्राधान्यम्। विवेक पृष्ठ-५१।

होता है। अतएव मम्मट का कथन है कि अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता अवश्य विद्यमान रहती है। मम्मट के ही शब्दों में --

'शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः। अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥'

स्पष्ट है कि केवल शब्द प्रमाणवेद्य अर्थ ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है। प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण से वेद्य अर्थ काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। प्रमाणान्तरवेद्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए उद्योतकार का कथन है कि 'कामिमिथुन के प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने पर भी उनकी चेष्टा से अनुमान किया गया' इत्यादि प्रकार से आस्वाद का स्फुरण न होने के कारण तथा शब्द से अन्वयव्यतिरेक पुष्ट न होने के कारण शब्द का भी व्यंजकत्व कारण रूप से ग्रहण किया जाता है। शब्द परिवृत्तिसहत्व रूप से शब्द के प्रयोग होने पर शब्द की अप्रधानता तथा अर्थ की प्रधानता रहती है। अतः प्रधानता की दृष्टि से ही अर्थव्यंजकता ऐसा व्यवहार किया जाता है। (द्र० उद्योत पृष्ठ-८८)।

शाब्दी व्यंजना के निरूपण में मम्मट ने स्पष्ट किया था कि शब्द अर्थ की सहकारिता से ही व्यंजक होता है। यहाँ 'यतोऽर्थान्तरयुक्' इत्यादि कथन से अर्थ के व्यंजकत्व में शब्द की सहकारिता को बताते हैं। इससे टीकाकार इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रधान रूप से शब्द के व्यंजक होने पर अर्थ सहकारी होता है। तथा अर्थ के व्यंजक होने पर शब्द। सुधासागरकार ने इसे सुव्यक्त किया है।१

**मम्मट का आधार :-** व्यंजकता में अर्थ और शब्द की परस्पर सहकारिता विषयक मम्मट के उक्त विवेचन का आधार ध्वन्यालोक है। ध्वनिकार ने शाब्दी और आर्थी व्यंजना में अर्थ और शब्द के सहकारित्व का महत्व इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।' इसी प्रकार पृथक् रूप से आर्थी व्यंजना में शब्द सहकारी होता है। इसका भी उल्लेख ध्वनिकार ने इन पंक्तियों में किया है- प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यंजकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते।' स्पष्ट है कि मम्मट ध्वनिकार के उक्त विवेचन से अनुप्राणित हैं।

---

# द्वितीय-अध्याय

-:: द्वितीय - अध्याय ::-

## -:: ध्वनिकाव्य - निरूपण ::-

काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण के रूप में "तददोषौ" इत्यादि कारिका प्रस्तुत की है, जिसकी समुचित मीमांसा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। काव्यलक्षण में शब्दार्थौ विशेष्य तथा अदोषौ, सगुणौ, अनलंकृती पुनः क्वापि विशेषण हैं। सम्पूर्ण काव्यप्रकाश ग्रन्थ इन विशेष्य एवं विशेषणों का व्याख्यान-मात्र कहा जा सकता है। द्वितीय उल्लास में विशेष्य शब्द और अर्थ का सर्वांगीण विवेचन मम्मट ने किया, जिसे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पिछले अध्याय में ग्रहण किया गया है। विशेष्य के व्याख्यान के पश्चात् "अदोषौ" इत्यादि विशेषणों का स्वरूप बताना चाहिए। किन्तु उससे पूर्व मम्मट ने काव्य के भेदोपभेद का निरूपण आवश्यक समझा। क्योंकि धर्मी काव्य का प्रकृष्ट रूप उसके सप्रभेद निर्दिष्ट करने के अनन्तर ही अदोषादि धर्मों की हेयोपादेयता का ज्ञान हो सकता है। यहाँ हेय से अभिप्राय है त्याज्य तथा उपादेय से ग्राह्य। अर्थात् काव्य में कौन सा धर्म त्याज्य है तथा कौन सा ग्राह्य इसका निरूपण तभी सम्भव है, जब कि काव्य का सर्वांगीण स्वरूप स्पष्ट हो। टीकाकारों के अनुसार एक ही धर्म कहीं पर त्याज्य होता है तो कहीं पर ग्राह्य। यथा श्रुतिकटुत्व दोष ध्वनिविशेष ( शृंगारादि ध्वनि ) में हेय होता है, किन्तु वही रौद्रादिरसध्वनि में अत्याज्य। माधुर्यादि गुण शृंगारादिध्वनि में उपादेय है, किन्तु रौद्रादिरसध्वनि में अनुपादेय। इसी प्रकार यमकादि अलंकार चित्रकाव्य में उपादेय हैं, किन्तु रसादिध्वनि में सर्वथा अनुपादेय।[१] निष्कर्ष यह कि धर्मी काव्य का निरूपण, धर्म अदोषादि के पूर्व विधेय है। अतः मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनिकाव्य का, पंचम में गुणीभूतव्यंग्य काव्य का तथा षष्ठ में चित्रकाव्य का भेदोपभेद सहित विवेचन प्रस्तुत किया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है प्रदीपटीका - पृष्ठ-८३ ।

विवेककार श्रीधर ने [illegible] की इसी टीका का उद्धरण देते हुए बताया है कि ध्वनिकाव्य के भेदों का उल्लेख तो प्रथम उल्लास में ही हो चुका है। पुनः इस काव्य के भेद का यहाँ पर व्याख्यान प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित है? इसका समाधान यह है कि प्रथम उल्लास में काव्य के भेदों का केवल सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया गया है। जब तक उनका सप्रभेद विवेचन न हो तब तक काव्यभेदों का सर्वांगीण स्वरूप बोधगम्य नहीं हो सकता।[1] इसी दृष्टि से मम्मट ने चतुर्थ उल्लास में ध्वनिकाव्य का सप्रभेद स्वरूप निर्धारित किया है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित है कि ध्वनिकाव्य के निरूपण में मम्मट, ध्वनिकार एवं अभिनवगुप्त से पूर्णरूप से अनुप्राणित हैं, किन्तु कतिपय स्थलों पर इनका मौलिक योगदान भी है, जिनका अवसर के अनुसार उल्लेख किया जायेगा। संक्षिप्त विवेचन काव्यप्रकाश के ही क्रम से यहाँ द्रष्टव्य है।

**लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य:-** ध्वनिकाव्य के सर्वप्रथम दो भेद ध्वनिवादी आचार्यों ने किया है -- (१) अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य अथवा लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य (२) विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूलक ध्वनिकाव्य। 'लक्षणामूलक' ध्वनिकाव्य से ही मम्मट का विवेचन प्रारम्भ होता है। प्रदीपकार का मत है कि यद्यपि सर्वप्रथम अभिधामूलक ध्वनिकाव्य का विवेचन होना चाहिए तथापि लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य का क्षेत्र अपेक्षतया अल्प होने के कारण मम्मट ने सर्वप्रथम उसी का विवेचन करना उचित समझा।[2] तदनुसार अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ या तो अर्थान्तर में परिणमित रहता है या अत्यन्त तिरस्कृत रहता है।[3] स्पष्ट है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य द्विविध-- (१) अर्थान्तर संक्रमित (२)

---

(१) तद्दोषाविति सामान्येन '[illegible] च विशेषेण यद्यपि भेदाः प्रदर्शिता एव तथापि यावदवान्तरप्रभेदाः न प्रदर्श्यन्ते तावत् न सम्यक् प्रदर्शिता भवन्तीत्यभिप्रायः' विवेक पृष्ठ-५८।

(२) प्रदीप पृष्ठ-८३।

(३) काव्यप्रकाश-४।२४।

अत्यन्त तिरस्कृत होता है। इस विषयक कारिका के वृत्ति भाग में मम्मट ने कुछ तथ्य प्रकाशित किया है, अतएव सर्व प्रथम उनको स्पष्ट करना यहाँ विवेच्य है।

लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य की प्रधानता जहाँ पर होती है, वहाँ अविवक्षितवाच्य ध्वनि भेद सम्भव है। संकेत टीका के अनुसार लक्षणामूलगूढ़व्यंग्य-प्राधान्ये इस मम्मट की उक्ति में 'गूढ़' विशेषण उचित नहीं है। प्राधान्य इस कथन से ही गूढ़त्व का आक्षेप ग्रहण हो जाता है। क्योंकि अगूढ़व्यंग्य कभी भी प्रधान नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त संकेतकार ने इस सन्दर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला है। वह यह कि 'गूढ़' के स्थान पर कहीं-कहीं रूढ़ पाठ भी मिलता है। 'रूढ़' का अर्थ यहाँ पर 'जातम्' अर्थात् उत्पन्न हुआ मानना चाहिए। समुचित अर्थ इस प्रकार होगा- लक्षणा ही मूल है, उससे उत्पन्न जो व्यंग्य है उसके प्रधान होने पर अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य होता है।[2] प्रतीत होता है कि उक्त व्याख्यान का संकेतकार समर्थन करते हैं। उनकी यह भी आस्था है कि उस 'रूढ़' इस पाठ को मान लेने पर लक्षण उत्तम काव्य तथा मध्यमकाव्य दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। लक्षणामूल रूढ़ व्यंग्य इतना ही सामान्य लक्षण है। इसमें प्राधान्य जोड़ देने पर यह अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य का लक्षण हो जायेगा। और अप्राधान्य की दशा में यही गुणीभूतव्यंग्य को लक्षित करेगा। यह न्याय भी है कि सामान्य लक्षण का निर्देश करके विशेषलक्षण की संयोजना करनी चाहिए। अतएव उत्तमकाव्य भेद के प्रसंग में 'लक्षणामूलरूढ़व्यंग्य' यह सामान्यलक्षण बनाकर प्राधान्य से विशेष लक्षण किया गया है।[3]

परवर्ती टीकाकार, माणिक्यचन्द्र का समर्थन नहीं करते। तदनुसार लक्षणामूल कहने का अभिप्राय है लक्षणान्वय व्यतिरेकानुविधायी अर्थात्

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) गूढ़ेत्यनुवाद्यतया विशेषणम् न विधेयतया प्राधान्योक्त्यैव गूढ़त्वस्य लब्धत्वात्। न हि अगूढ़ं प्रधानं स्यात्। संकेत पृष्ठ- 38।

(2) लक्षणैव मूलं तस्माज्जातं व्यङ्ग्यं तस्य प्राधान्ये। संकेत पृष्ठ- 38।

(3) संकेत -पृष्ठ- 38।

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइँ कमलाइं ॥

इसमें द्वितीय कमलशब्द सौरभादि गुणयुक्तत्व लक्ष्यार्थ में संक्रमित है । ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि यह उदाहरण प्रदीपकार का अपना योगदान है । अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के अन्तर्गत मम्मट के उदाहरण को प्रदीपकार अपने अनुपयुक्तत्व के द्वितीय भेद विशेषतावाचकत्व में अन्तर्भूत करते हैं जो इस प्रकार है--

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥

इस उदाहरण में वचनादि (वच्मि) उपदेशादि रूप में परिणामित होता है । यहाँ पर श्रोता को सम्बोधित करके बात कही जा रही है । अतः (त्वाम्) तुमको (अस्मि) मैं (वच्मि) कहता हूँ यह कथन अनुपयुक्त है । ये शब्द स्वसम्बद्ध अर्थान्तर में इस प्रकार परिणत होते हैं । त्वाम् का लक्ष्यार्थ है उपदेश के योग्य तुमको (उपदेश्यं त्वाम् ) "अस्मि" का यथार्थवक्ता मैं (आप्तोऽहम्) तथा वच्मि का उपदेश करता हूँ (उपदिशामि) । इस लक्ष्यार्थ से यहाँ हितसाधनत्व व्यंग्य है । साथ ही विदुषाम् तथा आत्मीयाम् ये पद भी अन्यार्थ में परिणत होते हैं और अन्यथा वर्णन करने पर सर्वत्र उपहास होगा, इस अर्थ का बोध कराते हैं ।[१]

<u>अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य</u>:- इसमें वाच्यार्थ अपने स्वरूप का सर्वथा त्याग कर देता है । वस्तुतः अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि काव्य दोनों में वाच्यार्थ अविवक्षित होकर लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करता है । तथापि दोनों में अन्तर यह है कि अर्थान्तर संक्रमित में वाच्यार्थ स्वार्थ का सर्वथा त्याग न करता हुआ व्यंग्यार्थ का बोध कराता है जब कि अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनिकाव्य में

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) विवरण पृष्ठ - ३४ ।

वाच्यार्थ पूर्णरूप से स्वार्थ का परित्याग कर देता है । मम्मट के अनुसार अनुपपद्यमान होने के कारण वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है । विवरणाकार के मत से वाच्यार्थ प्रकृत के अन्वय में अनुपयोगी होने के कारण अन्यार्थमात्र का लक्षक होता है । यह उपादान लक्षणा के अतिरिक्त लक्षणास्थलों में होता है[1]। मम्मट ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥"

शत्रु: अपकारों से क्षुब्ध किसी व्यक्ति की, अपकारी के प्रति यह उक्ति है । इसका वाच्यार्थ है - हे मित्र तुमने वर्णनातीत उपकार किया, सज्जनता का परिचय दिया अब ऐसा ही व्यवहार करते हुए सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जीवित रहो । किन्तु प्रकरणादि से यहाँ बोधव्य व्यक्ति का अपकारी होना ज्ञात है । अत: उपकारादि का मुख्यार्थ बाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है ।[2] उद्योतकार के अनुसार उपकृत पद से अपकृत, सुजनता से दुर्जनता, सखे से शत्रु, और सुखित से दु:खित इत्यादि लक्षित होता है[3]।

उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत उदाहरण में व्यंग्यार्थ के विषय में टीकाकारों में मतभेद है । एक मत से गुप्त असभ्यार्थ प्रतिपादन तथा शीघ्र ही मरो इत्यादि यहाँ व्यंग्य हैं ।[4] किन्तु विवेकटीका के अनुसार अपकारातिशय यहाँ पर व्यंग्य है ।[5] अधिकतर टीकाकारों ने अपकाराधिक्य को ही व्यंग्य माना है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- पूर्वोक्तरीत्याऽपि प्रकृतान्वयानुपयोगितया इतरार्थमात्रलक्षणम् । वाच्यमिति टीका: । --------- अयञ्च उपादानलक्षणातिरिक्तलक्षणास्थले सम्भवति । विवरण पृष्ठ ३६

२- अत्र अपकारिण्यन्वयायोग्यउपकृतादिपदै: स्वार्थविपरीतं लक्षयन्ति। प्रदीप पृ०८६

३- अत्रोपकृतादिपदानि विपरीतं लक्षयन्ति । उपकृतमपकृतम् । सुजनता दुर्जनता । सखे शत्रो । सुखितं दु:खितम् इत्यादि । उद्योत पृष्ठ ८६

४- गुप्तासभ्यार्थप्रतिपादनम् शीघ्रम्रियस्वेत्यादि व्यंग्यम् । संकेत पृष्ठ ८६

५- तेषामेव हानि अपकारप्रतिपादनात् ... व्यंग्योऽपकारातिशय:। विवेक पृ०६०

किन्तु प्रदीपकार के मत से 'तुम्हारे द्वारा इतना अपकार किए जाने पर भी मैंने प्रियवचन का ही प्रयोग किया, इस प्रकार का स्वसाधुत्व व्यंग्य होता है । अथवा 'तुम्हें उपकारापकार का विवेक नहीं है', यह व्यंग्य होता है ।[1] इसी साथ ही प्रदीपकार की यह भी धारणा है कि अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि काव्य केवल विपरीत लक्षणा के ही द्वारा होता है, ऐसा न समझना चाहिए । इसके लिए वे एक स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

'आदृत्य सस्वेदकरोत्पलाया: स्मितावक्त्रप्रतिकूलवाच: ।
प्रियो निशायान्तरुपक्षाण्या: नयो चिराय प्रति बोधमेव ।।

इसमें नयों के सोत्कण्ठनिरीक्षण लक्ष्य तथा उत्कण्ठातिशय व्यंग्य है ।

__ध्वनिकार का प्रभाव :-__

मम्मट के उक्त ध्वनिकाव्य भेद विवेचन का एक मात्र आधार ध्वन्यालोक है । वहाँ भी -'अस्ति ध्वनि: । स च अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविध: सामान्येन' - इस कथन से ध्वनिकाव्य के सर्व प्रथम उक्त दो भेद किये गये हैं । अविवक्षित - वाच्य के भी इसी प्रकार दो भेद किए गये हैं । जिसमें मुख्य रूप से यही प्रतिस्थापित किया गया है कि अविवक्षित वाच्य ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ या तो अर्थान्तरसंक्रमित रहता है या अत्यन्त तिरस्कृत । वाच्यार्थ की प्रधानता नहीं रहती अपितु उससे अभिव्यक्त व्यंग्य की रहती है । स्पष्ट है कि मम्मट पूर्णरूप से ध्वनिकार से अनुप्राणित हैं ।

__अभिधामूलाध्वनि या विवक्षितवाच्य ध्वनि__ :- ध्वनिकाव्य के प्रस्तुत भेद में वाच्य तो विवक्षित होता है, किन्तु वह अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यपरक होता है । वाच्यार्थ व्यंग्य की प्रतीति के हेतु अपने स्वरूप को प्रमुख बनाकर व्यंग्यार्थ का उपकारक होता है । वाच्यार्थ केवल उसकी प्रतीति का साधन बनता है । ध्वन्यालोककार

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१ - प्रदीप पृष्ठ ८६

ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप इसके दो भेद किया है । इन्हीं का अनुकरण करते हुए मम्मट ने भी इनको यथा-तथ्य ग्रहण किया है । किन्तु इनके स्वरूप के स्पष्टीकरण में मम्मट का अपना तथा टीकाकारों का कुछ मौलिक योगदान है, जिसका अवसर प्राप्त कर यहाँ उल्लेख किया जायेगा । सामान्य रूप से प्रथम भेद में शीघ्रता के कारण व्यंजक और व्यंग्य में पौर्वापर्यक्रम प्रतीत नहीं होता । अत: इसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की संज्ञा दी गई है । दूसरे भेद में व्यंजक और व्यंग्य में पौर्वापर्यभाव प्रतीत होता है, अत: इसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है ।

आचार्य मम्मट ने उक्त दोनों भेदों में सर्वप्रथम असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का निरूपण किया है । प्रदीपकार का कथन है कि सर्वप्रथम इसका विवेचन मम्मट ने इसलिए किया कि इसका केवल एक अवान्तर भेद होता है, जब कि संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के १५ भेद होते हैं । अतएव अल्पविषय होने के कारण सूचीकटाहन्याय से यह प्रथम विवेच्य है ।१

सुधासागरकार इस मत का समर्थन नहीं करते । उनका कथन है कि वस्तुत: दोनों भेद पृथक्भूत हैं । केवल क्रम के भाव एवं उसके अभाव की दृष्टि से पौर्वापर्य विवेचन है । साथ ही यद्यपि सभी व्यंग्य सुखद होते हैं तथापि रस अतिशय आह्लादकारी होते हैं । अत: उनकी प्रधानता प्रकट करने के लिए उन्हीं का प्रथम उपपादन किया गया है ।२

<u>असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनिकाव्य::-</u> व्यंजक और व्यंग्य की प्रतीति में अतिशीघ्रता के कारण उनमें क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता । अतएव इसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है । क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव ही रस नहीं होता

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) सूचीकटाहन्यायमाश्रित्यासंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य पूर्वमुद्देशः । तस्यैकत्वात् द्वितीयस्य तु पंचदशभेदत्वात् । प्रदीप पृष्ठ- ८७ ।

(२) अत्र सूचीकटाहन्यायमाश्रित्य------इति प्रदीपकाराः प्राहुः । तन्नातिरमणीयम् उभयोरपि पृथग्भूतत्वे तत्त्वं न्यायः प्रवर्तते न तु भावाभावयोः पौर्वापर्यं नियमात् ऽलक्ष्यक्रमस्य प्राङ्निरूपणं प्राप्नोति इति । वयन्तु ब्रूमः सर्वमेव व्यंग्यं यद्यपि सुखदं तथापि रसस्य निरतिशयानन्दत्वेन प्राधान्यमाविष्कर्तुम् असंलक्ष्यक्रमस्य प्रागुपादानमिति । सुधासागर पृष्ठ- १०८ ।

अपितु रस उनसे अभिव्यक्त होता है। तात्पर्य यह कि विभावादि व्यंजक तथा रस व्यंग्य होता है। यद्यपि व्यंजक के होने पर व्यंग्य-प्रतीति है और इस प्रकार इनमें क्रम भी विद्यमान रहता है, तथापि रस रूप व्यंग्य की प्रतीति इतनी शीघ्रता से हो जाती है कि उनमें क्रम का बोध नहीं हो पाता।[१]

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत, रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का ग्रहण होता है। रसादि जहाँ पर प्रधान रूप से होते हैं, वहाँ वे अलंकार्य हैं। किन्तु जहाँ पर वाच्यार्थ ही प्रधान होता है वहाँ रसादि उसके उपकारक होते हैं। यह गुणीभूत व्यंग्य का क्षेत्र होता है और वहाँ रसवदादि अलंकार होते हैं। अर्थात् रस के अप्रधान होने पर रसवद्, भाव के प्रेय, रसाभास के ऊर्जस्वि और भावाभास के अप्रधान होने पर समाहित अलंकार होते हैं। मम्मट का उक्त नाम निर्देश पूर्णरूप से ध्वनिकार के ही अनुसार है।

<u>रसस्वरूप विचार:-</u> ध्वनिसम्प्रदाय के प्रबल समर्थक आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस पर विशेष बल दिया है। रस विषयक पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को भी उन्होंने पर्याप्त स्थान दिया है। रस ध्वनिकाव्य का प्रमुख भेद है। मम्मट के अनुसार लोक में रत्यादि स्थायिभाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं, वे ही कारणादि काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव की संज्ञा प्राप्त करके रस को अभिव्यक्त करते हैं। मम्मट के ही शब्दों में 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः' अर्थात् उन विभावादि से व्यक्त स्थायिभाव ही रस है। ज्ञातव्य है कि मम्मट इसके व्याख्यान में सर्वथा मौन हैं। उन्हें इस स्थल पर विभावादि के भी स्वरूप को स्पष्ट करना चाहिए था। उनके टीकाकारों ने इस तथ्य पर गंभीरता से विचार करते हुए विभावादि को स्पष्ट किया है। अतएव उनके अनुसार उक्त

---

(१) काव्यप्रकाश ४।२५।

(२) चित्तवृत्तिकदम्बकस्यात्मनि उद्बुद्धानुद्बुद्धरूपतया सर्वत्रान्वयात् चित्तवृत्तिषु सूत्रन्यायेन अनादिकालवासनावासितो भवान्तरानुवर्ती स स्थायी। विवेक- पृष्ठ- ६२।

स्थायिभाव इत्यादि का स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है ।

स्थायिभाव :-

रस की प्रक्रिया में आन्तरिक एवं प्रमुख कारण स्थायिभाव है । आचार्यों की आस्था है कि मानव हृदय में कुछ भाव (चित्तवृत्ति विशेष) स्थायी (अविच्छिन्न) रूप से विद्यमान रहते हैं । ये सदैव वासनारूप या संस्कार दशा में अतिसूक्ष्म रूप से रहते हैं । साहित्य-मर्मज्ञ-मनीषियों ने इन्हें ही स्थायिभाव कहा है । यद्यपि ये स्थायिभाव आशुविनाशी हैं । तथापि वासनारूप में सूक्ष्म दशा में इनका अस्तित्व सदैव बना रहता है । इसीलिए इन्हें स्थायी कहा गया है । ये स्थायीभाव अनुकूल विभावादि को प्राप्त कर जागृत हो जाते हैं और उस अवस्था को निष्पन्न करते हैं । विवेककार श्रीधर का यह भी कथन है कि यद्यपि चित्तवृत्ति-विशेष के आस्वाद्यमान होने पर भी अनेक वासनाएं पानी के बुलबुले के समान उत्थित एवं विलीन होती हैं और वे सूत्र में पिरोये माले के समान विद्यमान रहती हैं । तथापि जो चित्तवृत्ति रसचर्वणा का प्रधान प्रकरण करती हैं, वही स्थायी हैं ।[1] साथ ही काव्य में स्थायिभाव के महत्त्व एवं स्वरूप को प्रकाशित करते हुए विवेककार की पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं - "आस्वादपर्यन्तपरिपाकानुविधायी सामाजिकमनोभूमौ वर्तमान: - [illegible] [illegible] स्वतोऽभावप्रतिफलनयोग्य: [illegible]: स्थायीभावो उच्यते" । विवेक पृष्ठ- ६४ ।

प्रदीपकार ने धनञ्जय इत्यादि का अनुसरण कर स्थायिभाव का स्वरूप कहा है । तदनुसार विरोधी तथा अविरोधी भावों के द्वारा अतिरस्कृत किंवा अविच्छिन्न भाव ही स्थायिभाव है ।[2] इसका आशय स्पष्ट करते हुए प्रभाकार का कथन है कि रत्यादि स्थायी भाव के निर्वेदादिभाव विरोधी हैं और हर्ष औत्सुक्यादि उनके अविरोधी । इन विरोधी एवं अविरोधी भावों से रत्यादि स्थायीभाव के

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) चित्तवृत्तिविशेषेष्वास्वाद्यमानेषु बुद्बुदकल्पेषु [illegible] चित्तवृत्तिषु सूत्रन्यायेन प्रधानेन [illegible] अनुवर्तते स स्थायी । विवेक- ६२ ।

(2) स्थायी विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरतिरस्कृतप्रभावो भाव: प्रदीप पृष्ठ- ६० ।

असन्दिग्ध नहीं होता।१ प्रतीत होता है कि टीकाकारों ने अपने विवेचन का आधार नाट्यशास्त्र की इन पंक्तियों को बनाया है --

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रया: ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञित: ॥

अनुभाव::-
------ रत्यादि स्थायिभाव लोक में आलम्बन तथा उद्दीपन कारण से उद्बुद्ध एवं परिपुष्ट होते हैं। ये उद्बुद्ध स्थायिभाव मनुष्य शारीरिक मानसिक चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यक्ति पाकर प्रतीतियोग्य होते हैं। कटाक्ष, भृकुट्यादि शारीरिक चेष्टाएं हैं। ये चेष्टाएं रस प्रक्रिया में स्थायिभाव के कार्य रूप हैं। उनकी गणना पूर्वोक्त प्रकार के अनु उद्धरण में द्रष्टव्य है। - - -

"स्वेद: स्तम्भोऽथ रोमाञ्च: स्वरभंगोऽथ वेपथु: ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता: ॥

साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि -मनोबुद्धिशरीरारम्भाणि च कटाक्ष भृकुट्यादीनि। उद्योतकार ने सात्त्विक पद को सुस्पष्ट किया है। तदनुसार 'सत्वम् प्राणवच्छरीरम्। तस्य धर्मा: सात्त्विका:' स्वेद, स्तम्भ इत्यादि आठ सात्त्विक लोक में कार्य तथा काव्य में अनुभाव कहे जाते हैं। इनके कारण (लोक में) या विभाव (काव्य में) का संकेत यहाँ द्रष्टव्य है। स्तम्भ का कार्य है गति निरोध और इसके विभाव हर्ष, राग, भय, दु:ख, विषाद, विस्मय, तथा क्रोध हैं। शरीर में जलोद्गम स्वेद है। सन्ताप, हर्ष, लज्जा, क्रोध, भय, श्रम, पीड़ा इत्यादि इसके विभाव हैं। शरीर में रोमोत्थान को रोमांच कहते हैं। शीत, आलिंगन, हर्ष, भय, क्रोध, इसके विभाव हैं। गद्गदास्य स्वरनिष्ठ वैस्वर्य स्वरभंग कहा जाता है। क्रोध, हर्ष, भय, मद इसके विभाव हैं। आलिंगन, हर्ष, भय में किसी से भी उत्पन्न शरीर का स्पन्दन वेपथु है। मोह, भय, क्रोध, शीत, ताप श्रम इत्यादि से उत्पन्न वर्णों का अन्यथा भाव वैवर्ण्य है। हर्ष, अमर्ष

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) विवेक - पृष्ठ- ६६ ।

स्मृत:" इत्यादि रस का लक्षण कहा जा सकता है। सामान्यत: व्यक्त पद का अर्थ "अभिव्यक्त" अधिकांश टीकाकारों ने ग्रहण किया है। निष्कर्ष यह है कि विभावादि से व्यक्त स्थायिभाव ही रस है। "व्यक्त:" पद के प्रयोग से सिद्ध हो जाता है। तथापि विभावादि सम्भूय होकर रस को व्यंजित करते हैं इसी दृष्टि से विभावादि: का पुनर्ग्रहण किया गया है।[1] साथ ही "व्यक्त:" यहाँ पर स्थायिभाव का विशेषण है न कि उपलक्षण। इसका पर्याय है चर्वणा। अत: विभावादि के संयोग से चर्वणा विशिष्ट स्थायिभाव रस है।[2]

वस्तुत: आचार्य मम्मट ने अपने रस स्वरूप - निरूपण को भरतमुनि के रस सूत्र से अनुप्राणित किया है। साथ ही रससूत्र के व्याख्यानपर उन्होंने प्रचलित मतों को भी उद्धृत किया है। इसका समुचित विवेचन अपेक्ष्य होने के कारण यहाँ द्रष्टव्य है।

<u>भरतमुनि का रस सूत्र</u> :- रस सम्प्रदाय के इतिहास में सर्व प्रथम भरतमुनि का रस सूत्र समुपलब्ध है, जो रस के स्वरूप को लक्षित करता है। रस सूत्र इस प्रकार है - "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति:"। नाट्य-शास्त्र के टीकाकारों ने इस रस सूत्र को अपने अपने मन्तव्य के अनुसार स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में चार सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापक आचार्य १- भट्टलोल्लट, २- श्रीशंकुक, ३- भट्टनायक तथा ४- अभिनव गुप्त हैं। इनके सिद्धान्त क्रमश: (१) उत्पत्तिवाद, २-अनुमितिवाद, ३-भुक्तिवाद तथा ४-अभिव्यक्तिवाद कहे जाते हैं। आचार्य मम्मट ने इन सिद्धान्तों को काव्यप्रकाश

---

१- तैरित्यनेन सिद्धौ पुनर्विभावादिभिरिति ग्रहणं विभावादीनां सम्भूय रसव्यञ्जकत्वप्रतिपादनाय। बालबोधिनी टीका भाग पृष्ठ ८६ से उद्धृत।

२- व्यक्त स इति। व्यक्तश्चर्वणेति पर्याय:। सा च विशेषणम्। तथा च व्यक्तविशिष्ट स्थायी रस:। प्रदीप पृष्ठ ६०

में प्रस्तुत किया है। ज्ञातव्य है कि प्रथम तीन सिद्धान्त नाट्यशास्त्र की जिन टीकाओं में थे वे अनुपलब्ध हैं। इनका उल्लेख आचार्य अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की अभिनव भारती टीका में किया है। इन पर समीक्षात्मक विचार करके अभिनव गुप्त ने अपना सिद्धान्त यहाँ पर प्रस्तुत किया है। अभिनव गुप्त के इस संकलन का यथोचित लाभ मम्मट ने लिया। यहाँ से उन्होंने पूर्ववर्ती भट्टलोल्लटादि तीनों आचार्यों के मत को ग्रहण किये करते हुये अभिनव गुप्त के भी मत को संगृहीत किया है। इस प्रकार काव्य प्रकाश में रस सूत्र के उक्त चार व्याख्याताओं के सिद्धान्त हैं, जिनका स्वरूप यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है।

<u>रसोत्पत्तिवाद</u> :- यह भट्टलोल्लट का सिद्धान्त है। तदनुसार प्रमदोद्यानादि आलम्बन एवं उद्दीपन कारणों अर्थात् विभाव से जो रत्यादि स्थायिभाव उत्पन्न होता है, अनुभाव अर्थात् कटाक्षभुजक्षेपादि कार्य से प्रतीति योग्य होता है तथा व्यभिचारिभाव अर्थात् निर्वेदादि सहकारियों के द्वारा पुष्ट होकर साक्षात् रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है तथापि नट में भी रामादिरूप के अनुसन्धान से वह स्थायिभाव उसमें भी प्रतीत होता है और वही रस है।[१]

प्रदीपकार इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि भट्टलोल्लट के मत से विभावादि के संयोग से अनुकार्य रामादि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीतादि मुख्य रूप से रस के उत्पादक हैं। अनुभाव उस उत्पन्न रस को प्रतीति कराता है। और व्यभिचारिभाव उसके परिपोषक होते हैं। इसीलिये मम्मट ने इनके मत को प्रस्तुत करते हुए क्रमशः जनित:, प्रतीतियोग्य: तथा उपचित: पदों का प्रयोग किया है। इससे स्थायिभाव के साथ विभाव का उत्पाद्य- उत्पादक भाव सम्बन्ध, अनुभावों का गम्य गमक भाव सम्बन्ध तथा

---

१- काव्य प्रकाश पृष्ठ - ८७

व्यभिचारिभावों का पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध सूत्र में संयोग पद का अर्थ है। निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति, अभिव्यक्ति तथा पुष्टि।[1]

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को मीमांसा के सिद्धान्त पर आधारित बताया गया है। मीमांसा के अनुसार जगत् में आध्यासिक एवं आरोपित प्रतीति मानी जाती है विवरणकार इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं- जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक प्रतीति होने के समय सर्प के अविद्यमान होते हुए भी सर्प की प्रतीति तथा उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति हो जाती है। ठीक उसी प्रकार रामादि में सीता विभाव्यमाना अनुरागरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसका बोध और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभव आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सिद्धान्त सादृश्य से भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को मीमांसानुगामी कहा गया है।[2]

सहृदयजन नट में भी जो रत्यादि स्थायिभाव की प्रतीति करते हैं उसका कारण नट के द्वारा अनुकार्य के रूप का अनुसन्धान है।[3] अनुसन्धान पद को भट्टलोल्लट ने भी प्रयुक्त किया था और उन्हीं की शब्दावली में अभिनव गुप्त ने भी इसे ग्रहण किया। मम्मट भी इस पद को साभिप्राय समझ कर इसे स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इस पद के आशय को खोलने का भर सक प्रयास किया है। विवरणकार के अनुसार राम के सदृश वेशविशेष तथा रूपादि को धारण करने के कारण नट में भी तत्काल रामत्व का अभिमान होता है, अतः उसमें भी रस की प्रतीति होती है।[4] किन्तु

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१ - यथा [illegible] स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपात् व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपात् संयोगात् सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः। प्रदीप पृष्ठ ११

२ - यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकितात् रज्जोः भीतिरुदेति तथा सीताविभाव्यमाना अनुरागरूपा रामगतिरविद्यमानाऽपि नटे नाट्यबलेनारोप्य तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदय-हृदय चमत्कारमुत्पादयन्ती रसपदवीमवरोहतीति [illegible] व्यञ्जनया अभिव्यक्तिरेव रसनिष्पत्तिरिति। विवरण पृष्ठ ४०

३ - अनुकर्तानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः। काव्य प्रकाश

४ - रामस्येव वेषविशेषरूपाद्यभिधायिनि नटे तत्कालं रामत्वाभिमानात् प्रतीयमानः व्यञ्जनया अभिव्यक्तः। विवरण पृष्ठ ३६

उद्योतकार का कथन है कि अनुसन्धान से अभिप्राय है 'आरोप'। नट में रामत्वारोप ही सामाजिकों के लिए चमत्कार का हेतु है - 'आरोप एव च सामाजिकानां चमत्कारहेतुरिति'। उद्योतकार का व्याख्यान प्रथम व्याख्यान की अपेक्षा उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि नट में रामत्व का वस्तुतः आरोप ही होता है अन्यथा सहृदयों को रसचर्वणा नहीं होसकेगी।

<u>भट्टलोल्लट के मत की न्यूनता</u> :- इनके सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि में तथा गौण रूप में नट में रस की प्रतीति होती है। किन्तु सामाजिकों में नहीं। अतः सामाजिकों को चमत्कारानुभव नहीं हो सकता है।[1] इसके अतिरिक्त अन्य अनेक दोषों का उद्भावना की गई है जिनका स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है।

(१) यदि विभावादि कारण से रस की उत्पत्ति स्वीकार की जाय तो कारण की मात्रा का रस पर भी प्रभाव पड़ना चाहिए। अर्थात् विभावादि की अधिकाधिक मात्रा अधिकाधिक रस की उत्पत्ति करने में सक्षम होगी। इसी प्रकार अल्प विभाव अल्प रस उत्पन्न करेगा।[2] किन्तु रस की प्रतीति में सहृदयों को उक्त प्रकार के तारतम्य का अनुभव तो होता नहीं। अत एव भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद तर्क संगत नहीं है।

(३) यदि भट्टलोल्लट के मत से स्थायिभावों के साथ विभावादि के संयोग से रस प्रतीति मानी जाय तब तो रस सूत्र ही असंगत हो जाता है। क्योंकि स्थायिभाव के साथ विभावादि का उत्पाद्योत्पादक भाव इसमें निर्दिष्ट नहीं है।[3] जब तक रस सूत्र में रत्यादिस्थायिभावों का अभिधान न हो तब तक उसकी प्रतीति नहीं होसकती।

---

१- सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। प्रदीप पृष्ठ ६१

२- संकेत टीका पृष्ठ ४१

३- संकेत टीका पृष्ठ ४१

(४) रस निष्पत्ति का अर्थ रसोत्पत्ति मानने पर हास्यरस के षड्भेद- स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित, उपपन्न ही न हो सकेंगे। क्योंकि हास रूप स्थायिभाव एक ही है और उसकी प्रतीति एक ही प्रकार के हास्यरस में हो सकती है।१

(५) रस को उत्पन्न अथवा उपचित माना जाय तब यह भी मानना पड़ेगा कि शोकादि स्थायिभाव यदि उत्पन्न हो गया है तो वह उत्तरोत्तर तीव्र, तीव्रतर तथा तीव्रतम होता जायेगा। भले ही कभी व्यक्त होता जाये तथापि उसकी तीव्रता मन्द नहीं होगी। इसके विपरीत तथ्य यह है कि शोक इस समय यदि तीव्र है तो काल व्यवधान के साथ वह मन्द पड़ता जायेगा।२

अतः रसोत्पत्तिवाद समीचीन नहीं है। इन प्रमुख दोषों को ध्यान में रखते हुए श्री शंकुक ने रससूत्र का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

**अनुमितिवाद::-** रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार श्री शंकुक हैं। इनका मत रस सिद्धान्त में रसानुमितिवाद कहा जाता है। यह मत न्याय सिद्धान्त पर आधारित है। तदनुसार रससूत्र में संयोगात् पद से अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति पद से अनुमिति अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। इनके मत का सार इस प्रकार है-- "स्थायिनो विभावादिभिः संयोगात् अनुमाप्यानुमापक भावरूपात् सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिरनुमितिः। श्री शंकुक के रस सिद्धान्त में सामाजिकों के प्रति रसानुमिति में चार सोपान कहे जा सकते हैं। उनका क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है।

(१) **नट में राम की प्रतीति ::-** सर्व प्रथम नट में चित्रतुरगन्याय से 'रामोऽयम्' इस प्रकार की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे चित्रांकित अश्व को

---

(१) यथोपचयं प्राप्य रस इव उच्यते तर्हि स्मितहसितविहसिताद्याः षड्भेदाः हास्यरसस्य न स्युः। वहीं वही पृष्ठ।

(२) वहीं पृष्ठ-४१।

देखकर "यह अश्व है" इस प्रकार की प्रतीति होती है उसी प्रकार नट में भी राम की प्रतीति होती है। यह चित्रतुरगन्याय से होने वाली प्रतीति दर्शन शास्त्र में मान्य चार प्रकार की सम्यक् मिथ्या संशय और सादृश्य प्रतीति से सर्वथा विलक्षण होती है। सम्यक् प्रतीति का स्वरूप है 'राम एवायम्' अथवा 'अयमेव रामः'। मिथ्या प्रतीति में प्रथम तो 'न रामोऽयम्' और तदनन्तर यह ज्ञान बाधित होने पर 'रामोऽयम्' ऐसी प्रतीति होती है। संशय प्रतीति यथा 'रामो वा नवाऽयम्मो' वा और सादृश्य प्रतीति यथा 'राम सदृशोऽयम्'। इन चारों प्रकार की प्रतीति से सर्वथा भिन्न चित्रतुरगन्याय से नट में 'रामोऽयम्' यह प्रतीति होती है।१

(२) <u>कारण कार्य सहकारी में विभावादि व्यपदेश</u>:- नट शृंगारादि (सेयम् ममाङ्गेषु२ इत्यादि तथा देवादस्मयादि)३ रस का पाठ करता है। सहृदय सामाजिक काव्यार्थ का अनुसन्धान अर्थात् काव्यार्थ का साक्षात् अनुभव करता है। नट अपनी अभिनय-विषयक पटुता द्वारा नायक निष्ठ रत्यादि भाव के कारण (नायिकादि), कार्य (कटाक्षभुजाक्षेपादि) तथा सहकारी (निर्वेदादि) को प्रकट करता है। ये कारणादि वस्तुतः कृत्रिम होते हैं, तथापि सामाजिकों को वे कृत्रिम नहीं प्रतीत होते। इन्हें ही काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि-भाव की संज्ञा प्राप्त होती है।४

(३) <u>नट में रत्यादि स्थायिभावों का अभाव</u>:- ऊपर संकेत किया जा चुका है कि श्री शंकुक के मत में संयोग का अर्थ है गम्य गमक भाव सम्बन्ध। इसी को

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) काव्य प्रकाश - पृष्ठ-८८।

(२) सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥

(३) देवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥

(४) द्रष्टव्य है काव्यप्रकाश- पृष्ठ- ८९।

टीकाकारों ने अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध भी कहा है । गम्य का अभिप्राय साध्य तथा गमक का साधन है । जहाँ धूम है वहाँ अग्नि अवश्य है इत्यादि के समान विभावादि के विद्यमान होने पर नट में रत्यादि भाव का अनुमान होता है ।१ उद्योतकार अनुमान की व्याप्ति इस प्रकार बताते हैं - "रामोऽयम् सीताविषयकरतिमान् सीतात्मकविभावादि सम्बन्धित्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽयम् इत्यादि ।

(४) रसप्रतीति ::- उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नट में अविद्यमान रत्यादि स्थायिभाव का अनुमान होता है । यह अनुमिति स्थायिभाव के सौन्दर्य के कारण आस्वादयोग्य है । साथ ही कलानुप्राणित होने के कारण अन्य अनुमित वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षण होता है । अतएव सामाजिक अपनी वासना के कारण इसका आस्वाद कर लेता है । भाव यह है कि सहृदयों के द्वारा आस्वाद्यमान नटादिगत अनुमित रत्यादि स्थायिभाव ही शंकुक के मत से रस है ।२

काव्यप्रकाश की विवरण टीका में इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया गया है - जिस प्रकार से कुहरे से आच्छादित प्रदेश में धूम का भ्रम हो जाने से धूम से व्याप्त अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार नट द्वारा अपनी अभिनय पटुता से "ये विभावादि मेरे हैं" इस प्रकार से प्रकट किए हुए, वस्तुतः कृत्रिम विभावादि से सन्निहित रत्यादि का अनुमान कर लिया जाता है । तदनु उसी नट में अनुमित रति का अपने सौन्दर्य के कारण सहृदयों के द्वारा आस्वादन किया जाता है । अस्तु । शंकुक के मत से रस निष्पत्ति का अर्थ रसानुमिति है ।३

श्री शंकुक के मत की न्यूनता ::- इनके व्याख्यान में अनुमिति के जो हेतु हैं वे सब के सब कल्पित हैं । साथ ही नट में स्थायिभाव की सम्भावना मात्र की जाती है । यदि

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) संयोगात् गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि--- । काव्यप्रकाश- पृष्ठ- ८९ ।

(२) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश - पृष्ठ- ९० ।

(३) तत्सम्बन्धस्यायं निष्कर्षः यथा कुज्झटिकाकुलिते देशे सतोऽपि धूमस्याभिमानात् धूमनियतस्य वन्हेरनुमानम् तथा नटेनैव सुनिपुणं ममैते विभावादयः इति प्रकाशि- तत्वादसद्भिरपि विभावादिभिस्तान्निष्ठा रतिरनुमीयमानापि निजसौन्दर्यबलात् सामाजिकानाम् स्वाद्यतया चमत्कारमावहन्ती रसतामेतीति तैरनुमितिरेव रसनिष्पत्तिरिति । विवरण पृष्ठ- ४२ ।

किसी प्रकार उक्त कल्पित हेतुओं से रत्यादि की अनुमिति कर भी ली जाय तो वह सहृदयों के प्रति चमत्काराधायक कैसे हो सकती है। क्योंकि यह लोक सिद्ध है कि प्रत्यक्ष की अनुभूति ही चमत्कार का कारण बनती है। यह भी तर्क संगत है कि लोक प्रसिद्धि से ही रस अनुभव सिद्ध होता है न कि उसकी अनुमिति है। क्योंकि 'रसं साक्षात्करोमि' इत्यादि व्यवहार होता है। अस्तु श्री शंकुक का रसानुमितिवाद भी सामाजिकों की दृष्टि से उपपन्न नहीं हो पाता। अतएव भट्टलोल्लट के समान ही इनका भी मत श्लाघ्य नहीं है।

**भट्टनायक का मत :-** रस सूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक हैं। भट्टलोल्लट तथा श्री शंकुक के मतों की न्यूनता को दृष्टि में रखते हुए इन्होंने रस सूत्र का व्याख्यान प्रस्तुत किया है। जहाँ दोनों व्याख्याकारों के विवेचन में सामाजिकों को रस प्रतीति की दृष्टि से अधिक गौण स्थान दिया गया है वहीं भट्टनायक ने उन्हें सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इनका मत इस सम्प्रदाय में भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक मूलक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' है। आचार्य अभिनवगुप्त ने विस्तार से इनके मत को प्रस्तुत किया है। किन्तु मम्मट ने 'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन' इत्यादि कतिपय पंक्तियों में ही इसको संगृहीत किया है। किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने मम्मट की ही पंक्तियों के आधार पर भट्टनायक के सिद्धान्त को दो भागों में विभक्त कर स्पष्ट किया है। प्रथम में भट्टलोल्लटादि के मत का खण्डन है और द्वितीय में उनके सिद्धान्त की स्थापना। विवेचन क्रमशः द्रष्टव्य है।

अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले तीन व्यक्ति होते हैं - अनुकार्य रामादि, नट और सामाजिक। इनमें प्रथम दो तटस्थ (उदासीन) कहे जाते हैं। क्योंकि रसास्वादन सामाजिक से विशेष सम्बन्ध रखता है। अतः रामादि या नट उसके लिए तटस्थ हैं।[1] भट्टनायक के मत में अनुकार्य रामादि, नट तथा सामाजिक इन

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) ताटस्थ्येन तटस्थ उदासीन: स च प्रकृते नटो नायकरामादिश्चेति द्विविध: तत्सम्बन्धित्वेन------। विवरण पृष्ठ-४३।

दोनों में न तो रस की उत्पत्ति (भट्टलोल्लट के मत से) न अनुमिति (श्रीशंकुक के मत से) और न अभिव्यक्ति (ध्वनिवादियों के मत से) ही होती है। शंकुक के मत से अनुमिति नहीं माना जा सकता। क्योंकि अभिनय काल में रामादि विद्यमान नहीं रहते। अतः उनमें रस प्रतीति नहीं हो सकती। कारण यह कि शंकुक स्थायिभाव को ही रस मानते हैं। साथ ही कृत्रिम विभावादि से रत्यादि की प्रतीति नट में भी नहीं हो सकती। वस्तुतः अवस्तु अनुमान प्रमाण का विषय ही नहीं बन सकती और जब नट में ही अनुमिति असत् है, तब वह सामाजिकों को भी चमत्कृत नहीं कर सकती।[१] ऐसे ही उत्पत्तिवाद में जब विभावादि ही वास्तविक नहीं है फिर वे रसोत्पत्ति का कारण कैसे बन सकते हैं।[२] ध्वनिवादियों का अभिव्यंजनावाद भी तर्क संगत नहीं है। क्योंकि अभिव्यक्ति केवल उसी वस्तु की होती है जो पहले से विद्यमान या सिद्ध हो। तटस्थ या सामाजिकों में रस पहले से विद्यमान तो रहता नहीं। अतः रसाभिव्यक्ति भी उनमें नहीं हो सकती।[३] अस्तु। तटस्थ एवं सामाजिक में रस की अनुमिति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति नहीं होती।

उक्त दोनों मतों की समीक्षा के पश्चात् मम्मट तथा उनके टीकाकारों ने भट्टनायक के मत को प्रस्तुत किया है। इनके मत का सार इस प्रकार है-काव्य या नाट्य में अभिधा तथा लक्षणाशक्ति से भिन्न एक अन्य शब्द का व्यापार होता है, जिसे भट्टनायक भावकत्व कहते हैं। यह व्यापार लौकिक कारण, कार्य तथा सहकारी का साधारणीकरण करता है। भाव यह है कि विभावादि किसी व्यक्ति विशेष के हैं। (राम, नट या सामाजिक के) यह प्रतीति सर्वथा समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में विभावादि साधारण रूप से व्यक्तिमात्र के प्रतीत होने लगते हैं। साथ ही विभावादि के साधारणीकरण होने से रत्यादि स्थायीभाव भी स्वगत-परगत इत्यादि भावना से रहित सामान्य रूप से भासित ---

---

(१) न प्रतीयते नानुमीयते, तदानीं रामादिनामभावेन तद्रत्यादेरप्यभावात् अतः अवस्तुनानुमानप्रमाणाविषयकत्वात् वस्तुतो। रामगतैव नटगतत्वेनानुमितापि रत्या सामाजिके तथा तच्चमत्कारजननासम्भवाच्च। विवरण पृष्ठ-४३।

(२) नोत्पद्यते न जन्यते विभावादीनां वास्तविकत्वाभावात्। विवरण वही पृष्ठ-।

(३) नाभिव्यज्यते अभिव्यंजनया उपस्थाप्यते सिद्धस्यैव तत्सम्भवादिति भावः। विवरण पृष्ठ-४३।

होने लगता है। यह कार्य भी भावकत्व व्यापार अर्थात् साधारणीकरण के क्षेत्र में आ जाता है। तदनुसामाजिक के हृदय में सत्वगुण का उद्रेक होता है। यह सत्वगुण प्रकाशमय तथा आनन्दमय है। इसके द्वारा एक ऐसी संविद् या अनुभूति होती है जो सर्वथा प्रकाशस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है। इस स्थिति पर सहृदय-हृदय में ज्ञेयान्तर सम्पर्क नहीं रहता। ऐसी आनन्द एवं प्रकाशस्वरूपा संविद् ही रस का भोग, साक्षात्कार अथवा आस्वादन है। यह भोग अथवा आस्वादन कराने वाले व्यापार को भट्टनायक भोजकत्व संज्ञा देते हैं। अर्थात् भोजकत्व व्यापार से ही सहृदयों को रस चर्वणा होती है।

भट्टनायक के मत का संक्षेप इस प्रकार है -- काव्य और नाटक में अभिधा व्यापार के समान उससे विलक्षण भावकत्व तथा भोजकत्व दो अतिरिक्त व्यापार होते हैं। भावकत्व व्यापार के द्वारा व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित असाधारण विभावादि और स्थायी भाव व्यक्ति विशेषांश का परित्याग करके साधारणीकृत होते हैं। भोजकत्व व्यापार के द्वारा सहृदय विभावादि संपृक्त रत्यादि का आस्वाद प्राप्त करता है।[१] काव्यार्थ बोध के पश्चात् ही भावकत्व व्यापार द्वारा सीतादि विभाव तथा राम सम्बन्धिनी रति दोनों सीतात्व तथा रामसम्बन्धांश को छोड़कर सामान्यतः कामिनीत्व तथा रतित्व इत्यादि रूप में उपस्थित किए जाते हैं। पुनश्च भोजकत्व व्यापार से सहृदयों द्वारा साधारणीकृत रति आस्वादित होती है। अतः रति का आस्वाद ही रस निष्पत्ति है।[२]

"भोग" का अर्थ कुछ टीकाकार "भोजकत्व व्यापार" बताते हैं तो कुछ साक्षात्कार के द्वारा उपभोग।[३] कुछ इसे ब्रह्मानन्दसहोदर बताते हैं।[४]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है विवरण - पृष्ठ- ४४ ।

(२) तथा हि काव्यार्थबोधोत्तरमेव भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपसीतादयो रामसम्बन्धिनी रतिश्च सीतात्वरामसम्बन्धांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैव उपस्थाप्यते, भोजकत्व व्यापारेण तु उक्तरीत्या साधारणीकृतविभावादि संपृक्तैनसा रतिः सहृदयैरास्वाद्यते इति रतेरास्वाद एव रसनिष्पत्तिरिति। विव०पृ०४५

(३) भोगेन भोजकत्वनामक व्यापारेणेति उद्योतादय: भोगेन साक्षात्कारेण भुज्यते विषयीक्रियते इति सारबोधिन्यादय:। बालबोधिनी - पृष्ठ- ६१ ।

(४) भोगस्य परानन्दास्वादात्मा भोगिनो ब्रह्मास्वादसन्निकृष्ट इत्यारम्भेतु ।
विवेक पृष्ठ- ३६ ।

प्रदीपकार भट्टनायक के सिद्धान्त को सांख्यदर्शन पर आधारित मानते हैं। इनके कथन का आधार वस्तुतः अभिनव भारती की यह पंक्ति है - "सत्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्ति - लक्षणाम् ।" । इसके आधार पर विवरणकार ने स्पष्ट किया है कि विभावादि एवं रत्यादि स्थायीभाव के साधारणीकरण के पश्चात् रजोगुण एवं तमोगुण, सत्वोगुण के उद्रेक के द्वारा तिरोहित होने पर जो प्रकाश आविर्भूत होता है वह आनन्दात्मिका संविद् अर्थात् ज्ञान है। उस ज्ञान की विश्रान्ति अर्थात् तदन्यज्ञेयान्तर सम्पर्करहितेन उसकी स्थिति होती है। फलितार्थ यह कि उक्त ज्ञान की स्थिति में भोजकत्व व्यापार से रस की भुक्ति होती है।१

भट्टनायक के मत की समीक्षा :- भट्टनायक ने सामाजिकगत रसानुभूति का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु उनका मत सिद्धान्त रूप से विद्वानों के द्वारा मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। क्योंकि इसमें भी रसभोग रामादिगत होता है या नटगत या सामाजिकगत इसका कोई भी स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं होता। इनके मत का सबसे बड़ा दोष यह है कि जिन शब्दगत भावकत्व तथा भोजकत्व रूप वृत्तियों की इन्होंने उद्भावना की वे सर्वथा कल्पित हैं। अर्थात् अनुभूति सिद्ध नहीं है। अतएव इन अप्रामाणिक भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार पर आश्रित सिद्धान्त भी प्रामाणिक नहीं बन सका। इन सबको दृष्टि में रखते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने रस सूत्र का व्याख्यान प्रस्तुत किया जिसको आचार्यों ने सिद्धान्त रूप में ग्रहण किया।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त :- भरतमुनि के रससूत्र के प्रमुख व्याख्याकार आचार्य अभिनव गुप्त हैं। इनका मत काव्यशास्त्र में अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनके व्याख्यान का आधार आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक है। अभिनवगुप्त के मत को स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि स्थायी भाव का विभावादि के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध होता। रस-सूत्र में संयोगात् पद से यही अभिप्राय है

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) सत्वगुणस्य उद्रेकेण रजस्तमसी अभिभूताविर्भावितेन यः प्रकाशः स एव आनन्दात्मिका संवित्-ज्ञानं, तस्य विश्रान्तिर्वेद्यान्तरसम्पर्करहित्येनावस्थानम्, तस्य च च वृद्धि-भिन्नभावकतया अवस्थित ताद्रूप्यं विदिति फलतार्थः तत्स्वेन तत्स्वरूपेण (भोगेन भुज्यते)। विवरण- पृष्ठ-४३।

और निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति ।[1]

ज्ञातव्य है कि अभिनवगुप्त का रस विवेचन दो स्थलों पर प्राप्त होता है । भरत के नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में अभिनवगुप्त ने रससूत्र पर विचार किया है । वहाँ पर भट्टलोल्लट, श्री शंकुक तथा भट्टनायक के मतों की समीक्षा के पश्चात् उनके अपने मत का विवेचन प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोक लोचन में भी रस सिद्धान्त पर पर्याप्त विचार किया गया है । आचार्य मम्मट ने इस सन्दर्भ में प्राय: दोनों स्थलों का सार काव्यप्रकाश में ग्रहण किया है । इनकी शब्दावली भी अभिनवगुप्त की अपेक्षा जटिल हो गई है । क्योंकि अपने सूत्रगुण के फलस्वरूप कतिपय सारगर्भित शब्दों में अधिक से अधिक तथ्य कह देने का प्रयास किया है । यही कारण है कि इनकी शब्दावली के स्पष्टीकरण में अनेक स्थलों पर टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद हो गया है । मम्मट द्वारा प्रस्तुत अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का स्वरूप इस प्रकार है --- लोक में प्रमदादि कारणों के द्वारा रत्यादि का अनुमान करने में कुशल सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव हैं जो काव्य-नाट्य में उन्हीं प्रमदादि के द्वारा अभिव्यक्त हो जाते हैं । काव्य-नाट्य में कारणत्वादि के स्थान पर विभावना इत्यादि व्यापार के कारण वे अलौकिक विभावादि शब्द के द्वारा व्यवहार किए जाते हैं । साथ ही ये विभावादि मेरे ही हैं, ये शत्रु के हैं अथवा ये उदासीन के हैं - इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष की स्वीकृति और ये मेरे नहीं है, ये शत्रु के नहीं हैं अथवा ये उदासीन के नहीं हैं - इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध के निषेध इन दोनों प्रकार की व्यवस्था का निर्णय न होने के कारण सामान्यरूप से प्रतीत होते हैं ।

यद्यपि वे स्थायीभाव उस सामाजिक के हृदय में व्यक्तिगत प्रमाता के रूप में ही रहते हैं तथापि साधारण उपायों के फलस्वरूप उस क्षण में सीमित प्रमातृभाव के समाप्त हो जाने के कारण प्रमाता में अन्यवेद्य के सम्पर्क से शून्य प्रमातृभाव आविर्भूत होता है । इस स्थिति में रत्यादि स्थायी भाव अपने आकार के समान तथा अपृथक् रूप से अनुभव का विषय बनता है । चर्वणीयता (आस्वाद्यमानता) ही इसका प्राण (सार) है । विभावादि की स्थिति ही इसके जीवन की अवधि है । इस प्रकार

का रत्यादि स्थायीभाव पानकरस के समान आस्वाद्यमान होता है। अतएव पुरःवत स्फुरित होते हुए के समान, हृदय में प्रवेश होते हुए के समान मानो अंग प्रत्यंग में व्याप्त होता हुआ तथा अन्य सबको आच्छादित करता हुआ, ब्रह्मानन्द का सा अनुभव कराता हुआ अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादि रस होता है।१

वासनात्मतया स्थितः स्थायी :- टीकाकारों ने मम्मट की इस पंक्ति पर पर्याप्त विचार किया है। विवरणकार के अनुसार सामाजिक के हृदय में संस्काररूप में, सूक्ष्मरूप से स्थित रत्यादि स्थायी भाव होते हैं। विभावादि के साधारणीकृत होने पर उन्हीं का आविर्भावमात्र होता है। जिनके हृदय में ये संस्कार जितना अधिक जागृत रहते हैं, उस सहृदय सामाजिक को उतना ही अधिक रसानुभूति होती है। अतएव वेदाभ्यास में सतत प्रयत्नशील एवं वैयाकरणों में उस संस्कार की जागरूकता के अभाव में उनको रसास्वाद नहीं हो पाता।२ किन्तु विवेककार श्रीधर का कथन है कि वासनारहित व्यक्ति को रसचर्वणा हो ही नहीं सकती। श्रोत्रियमत्स्यमीमांसकादि नाट्यमंडप में प्रविष्ट होते हुए भी चमत्कार की संवेदना ग्रहण न कर पाने के कारण कीलक के सदृश होते हैं। प्रशान्त ब्रह्मचारी शृंगाररसानुभव में बहिरंग होते हैं। अनुरागक्षोभित हृदय वाले व्यक्ति के लिए शान्तरस व्यर्थ है। जिसने शोक का लेशमात्र अनुभव न किया हो उसके लिए करुण रस पाषाण के सदृश है। अतएव वासना का आभास ही रसचर्वणा है।३ इस प्रसंग में अनेक टीकाकारों ने 'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः।' इस पद्य को उद्धृत किया है। चण्डीदास कृत काव्यप्रकाश की दीपिका टीका की पाद टिप्पणी में यह धर्मदत्त का पद्य बताया गया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है-काव्य प्रकाश पृष्ठ- ९३ ।

(२) सामाजिकानां संस्काररूपेण सूक्ष्मतया पूर्वमेवावस्थितः अधुना साधारणीकृतविभावादिभिस्तस्यैवाविर्भावमात्रम्। अतएव वेदाभ्यासजडानां वैयाकरणादीनाञ्च तादृक्संस्काराभावात् तेषां रसास्वादोऽपि न भवति। विवरण पृष्ठ- ४६ ।

(३) तथा हि निर्वासनस्य रसचर्वणा नास्ति। श्रोत्रियमत्स्यमीमांसकादयो हि नाट्यमण्डपान्तः प्रविष्टा अपि चमत्काराभावात् कीलकप्राया एव। प्रशान्तब्रह्मचारिप्रभृतयश्च शृंगाररसास्वादे बहिरङ्गाः। गाढरागाणाञ्च करुणास्वादावसरे पाषाणप्रायत्वम्। तदेवं वासना अवभास एवं रस अभिव्यक्तत्वम्। विवेक- पृष्ठ- ७० ।

**रस प्रतीति में पूर्व अनुमान::-** केवल उन्हीं सहृदयों में रत्यादि स्थायी भाव अभिव्यक्त हो सकते हैं, जिन्होंने लोकजीवन में बहुश: ललना, उद्यान तथा कटाक्षादि के द्वारा रति की अनुमिति की है, जिसको काव्य-नाट्य के पूर्व रत्यादि की अभिव्यक्ति का अनुमान नहीं है, उसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। धूम और अग्नि की व्याप्ति अर्थात् जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, इस प्रकार के सम्बन्ध का निश्चय सर्वप्रथम किसी को होता है। तदनन्तर कहीं पर धूम को देखकर अग्नि का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार विभावादि की प्रतीति के पश्चात् ही रत्यादि का अनुमान तभी होता है जब कि सामाजिक को लोक-जीवन में रत्यादि की अनुमिति हुई रहती है। संकेतकार ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है।1 यद्यपि यहाँ पर अनुमान प्रयुक्त नहीं है, तथापि अनुमान विषयिणी व्याप्ति के द्वारा ही यहाँ पर व्यंजना का आविर्भाव होता है। केवल इसी को स्पष्ट करने के लिए रसप्रसंग में अनुमान का उल्लेख किया गया है।2

**विभावादि शब्दों की सार्थकता::-** अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यादि में प्रमदादि से ही सामाजिक निष्ठ रत्यादि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु काव्य और नाट्य की अलौकिक शक्ति के द्वारा ये प्रमदादि कारण, कार्य तथा सहकारी नहीं कहे जाते, बल्कि उनको अलौकिक विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव की संज्ञा प्राप्त होती है। विभावादि का नाम लेकर मम्मट मौन हो जाते हैं, किन्तु उनके आशय को टीकाकारों ने स्पष्ट किया है। यद्यपि विभावादि के पृथक् निरूपण में पहले अनेक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं, तथापि अभिनवगुप्त के विवेचन का रहस्योद्घाटन करते समय कुछ टीकाकारों का मत द्रष्टव्य है। संकेतकार माणिक्यचन्द्र विभावयन्ति साक्षात्कारयन्ति कह कर रत्यादि स्थायीभाव का साक्षात्कार किंवा अनुभूति कराने से इसे विभाव समझते हैं। विवरणकार 3 के मत से वासनारूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) यथा लोके धूमदर्शनानन्तरमेव वह्न्यनुमानम् ----- यत्राग्निस्तत्र धूम इति व्याप्ति निश्चयस्तथा विभावादिदर्शनानन्तरमेव रत्याद्यनुमानमप्यवगन्तव्यम् यत्र विभावादिस्तत्र रत्यादिरिति व्याप्तिग्रहो प्रयोजनम् [illegible]: । संकेत पृष्ठ-४८-९

(2) द्रष्टव्य है उद्योत - पृष्ठ-९६।

(3) अतिसूक्ष्मरूपेणावस्थितानां रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतापादनरूपस्य विभावनं तेषां च अनुभवविषयीकरणम् अनुभावनं कार्यविशेषेण व्यक्ति: रत्यादीनां संचारणं व्यभिचारणं च एव व्यापारा: । विवरण-पृष्ठ-४४

स्थिर इत्यादि स्थायीभावों में आस्वाद-योग्यता का आविर्भाव विभावन कहलाता है। इस प्रकार के व्यापार के कारण ही ललनादि काव्य में कारण के स्थान पर विभाव कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्थायी भावों को अनुभव का विषय बनाने के कारण अनुभावन तथा उसे कार्य के स्थान पर अनुभाव संज्ञा दी जाती है। शरीर में विशेष रूप से इत्यादि स्थायी भावों का संचारण व्यभिचारण है और इसे व्यभिचारिभाव की संज्ञा प्राप्त होती है। सार यह कि विभावन, अनुभावन तथा व्यभिचारण रूप व्यापार के कारण इन्हें विभावादि शब्दों से व्यक्त किया जाता है।

ये विभावादि अलौकिक हैं। क्योंकि लोक में हर्ष शोकादि कारणों से हर्ष शोकादि का उत्पन्न होता है। किन्तु काव्य में हर्ष, शोकादि एकमात्र सुख देने वाले होते हैं। वहाँ पर दुःख का अंश भी नहीं है। इसी विलक्षणता के कारण विभावादि को अलौकिक कहा जाता है।

<u>विभावादि का साधारण्य प्रतीति</u> ::- विभावादि 'न मेरे हो हैं (न ममैते) इत्यादि कथन से तात्पर्य यह है कि विभावादि का सम्बन्ध विशेष से स्वीकार या परित्याग के नियम का निश्चय न होने के कारण उनकी साधारण्य प्रतीति होती है। भाव यह है कि लोक-जीवन में वस्तुएं तीन प्रकार की होती हैं- कुछ अपनी, कुछ शत्रु की तथा कुछ तटस्थ की होती हैं। काव्य में विभावादि के साथ इन तीनों सम्बन्धों में किसी एक की भी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि यदि विभावादि स्वकीय प्रतीत होंगे, तब तो अन्यों के समक्ष अपनी रति इत्यादि के प्रकट होने में लज्जा का अनुभव होगा। यदि ये विभावादि 'शत्रु के हैं, ऐसी प्रतीति होगी तब द्वेषभाव जागृत होगा। रसास्वाद नहीं। इन्हें उदासीन से सम्बद्ध जानने पर उपेक्षा का ही भाव होगा। अतएव विभावादि किसी एक से सम्बद्ध हैं, इस स्वीकार का निर्णय नहीं हो पाता, और ऐसा होने पर ये किसी के भी नहीं रह जायेंगे। अस्तु। काव्य-नाट्य में विभावादि का स्वकीयत्व, परकीयत्व तथा उपेक्षणीयत्व इत्यादि की स्वीकृति या उसकी निवृत्ति नहीं रहती, अपितु कला की विलक्षणता के कारण

सामान्यरूप से यह कामिनी है, इत्यादि रूप में प्रतीति होती है। इसी से सामाजिकों के हृदय में रत्यादि की अभिव्यक्ति होती है।१

एक मत यह भी है कि राम सीतादि विशिष्ट की प्रथम प्रतीति होती है। तदनु व्यंजना से उनकी साधारणीकृत उपस्थिति होती है और सामाजिक की स्वनिष्ठ रत्यादि की चर्वणा होती है। यदि काव्य में यह राम है, यह सीता है, इस प्रकार की प्रतीति होने लगे तब किसी चमत्कार का ही अनुभव न होगा। इस विषय में सहृदय ही प्रमाण है। अतएव काव्य-श्रवणादि की अवस्था में स्व-पर-विभागानुभव उत्पन्न ही नहीं होता।२

नियत-प्रमाता (गोचरीकृत:) ::- एक पूर्वपक्ष यह है कि सामान्यरूप से प्रतीत होने वाले विभावादि, प्रत्येक सहृदय के रत्यादिभाव को उद्बुद्ध कैसे कर सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक के रत्यादिभाव व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध रखते हैं। प्रमदादि कारण-सामग्री भिन्न-भिन्न व्यक्ति के अनुकूल होने पर ही उनके रत्यादि स्थायी भाव को अभिव्यक्त कर सकती है। अतएव कारण-सामग्री की भिन्नता भी आवश्यक है न कि एक ही कारण-सामग्री की सामान्य प्रतीति। इस शंका का समाधान मम्मट की पंक्तियों में नियत से लेकर प्रमाता तक ढूंढा जा सकता है। प्रमाता का अन्वय-गोचरीकृत: से है।३

वस्तुत: काव्य-नाट्य के क्षेत्र में रत्यादि स्थायी-भाव को अभिव्यक्त करने के साधन विभावादि हैं। इन विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। साथ ही प्रमाता (सामाजिक) भी नियत सीमित तथा परिमित नहीं रह जाता। अर्थात् ये विभावादि मेरे हैं अथवा मैं ही आस्वादयिता हूं, इस प्रकार की अनुभूति प्रमाता को

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) तस्मात् तद्भावावधारणविरहेण सामान्यत: कामिनीयम् इतिरूपा-कामित्वादिना प्रतीतिरिति- विवरण-पृष्ठ-४६।

(२) द्रष्टव्य है - उद्योत पृष्ठ-६८।

(३) नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितो अपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृत--- काव्यप्रकाश -

नहीं होती ।१ साहित्यचूड़ामणिकार भट्ट गोपाल के अनुसार प्रमातृत्व दो प्रकार का होता है । परिमित तथा अपरिमित । इनमें से प्रथम अर्थात् परिमित प्रमातृत्व "अहम्", "इदम्" इस प्रकार के स्वकाभ्य परकीयत्व विकल्पों से युक्त होता है । द्वितीय अर्थात् अपरिमित प्रमातृत्व स्वात्मस्फुरण के साथ ही निखिलव्यवहार को क्रोडीभूत करता है । उससमय परिमित प्रमातृभाव का तिरोधान होता है और अपरिमित प्रमातृभाव का स्फुरण ।२ चूड़ामणिकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है, कि रस के स्फुरण की अवस्था में "यथा चैत्र (नामविशेष) की चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही मैत्र की भी । अतएव सभी सहृदयों का एकहृदयत्व कहा जा सकता है ।३ इसीलिए मम्मट ने भी "सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन" कहा है ।

विवरणकार का व्याख्यान यह है कि अपरिमित प्रमातृत्व की अवस्था में हृदय में एक विशेष प्रकार कीचित्तवृत्ति जागृत होती है जिसमें, किसी भी अन्य वेद्यवस्तु का सम्पर्क नहीं रहता । मम्मट "वेद्यान्तर सम्पर्कशून्यापरिमितभावेन," कहते हैं । आशय यह है कि लौकिकघट पटादि वेद्यान्तर वस्तु हैं । चित्तवृत्ति विशेष में तत्क्षण इन लौकिक वस्तुओं का ज्ञान नहीं रह जाता ।४ और वह असीम प्रमाता हो जाता है। सभी कामिनी विषयक रत्यादि का साधारणीकरण है, उसे स्वरूप (साकार) के समान अभिन्न रूप में अनुभव करता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) ममैवैते अथवा अस्यैव रसास्वादयिता इत्येवं रीत्या अननुभूयमानो यो व्यक्तिविशेष सम्बन्धः स एवैनोन्मिषितः प्रादुर्भूतः। विवरण पृष्ठ-४६ ।

(२) द्विविधं हि प्रमातृत्वं परिमितमपरिमितञ्च । तत्र प्रथममहमिदमिति स्वपरविकल्पोपकल्पितम् अपरन्तु स्वात्मस्फुरणमात्रक्रोडीकृतनिखिलव्यवहारम् । तत्र परिमितं कदाचित् तिरोधाय अन्यत्तु अपरिमितं परिस्फुरति ।-- साहित्य चूड़ामणि पृष्ठ- ११५ ।

(३) रसस्फुरणावस्थायां यथा चैत्रस्य चित्तवृत्तिः तथा मैत्रस्यापि इति सर्वेषामेकहृदयत्वा न्महत्वात् सकलेति । साहित्य चूड़ामणि - वही पृष्ठ-

(४) एवं वेद्यान्तरस्य लौकिकघटादिविषयस्य सम्पर्केण ज्ञानरूपसम्बन्धेन शून्यो परिमितो भावो चित्तवृत्ति विशेषो यस्मिन प्रमाता रसास्वादयिता ।

विवरण पृष्ठ- ३८ ।

**स्वाकार इव चर्व्यमाणः:-** एक शंका सम्भव है कि रत्यादि स्थायी भाव आस्वादरूप (रसरूप) में तथा अपने से भिन्न अनुभूत होते हैं। लोक में आस्वाद्य तथा आस्वाद भिन्न होते हैं। तब रस को आस्वाद्यमान क्यों कहा जाता है। रत्यादि आस्वाद का ही स्वरूप है कैसे आस्वाद्य हो सकता है। इसका स्पष्टीकरण माणिक्यचन्द्र, भट्टगोपाल, महेशचन्द्र आदि, इत्यादि टीकाकारों ने प्रस्तुत किया है। माणिक्यचन्द्र के अनुसार जैसे मैं अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा जानता हूं। इस कथन में ज्ञाता और ज्ञेय के रूप का वस्तु या स्वाकार हैं। यद्यपि यहाँ ग्राह्य और ग्राहकता में भेद होता है किन्तु यहाँ अभेद है।[1] भट्ट गोपाल इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं --" यथाऽऽत्मन: स्वरूपं स्वस्मादभिन्नमपि स्वेन विषयी क्रियते। यथोक्तम् आत्मानमात्मनावलोकयन्तु इति। यथाहुराचार्या:-

"आत्मानमात्मना वेत्ति ज्ञेयो भूत्वा पृथक् स्थितम् ।
ज्ञेयं न तु ज्ञातृत्वात् अत्रैकात्म्य स्वाकारा ॥

इति स्वं स्वाकारोऽपि।" इसे अन्य प्रकार से भी समझाया गया है। जैसे योगाचार बौद्ध दार्शनिक के मत से ज्ञान का आकार तथा उससे अभिन्न बाह्यवस्तु होता है, तथापि वह बाह्यवस्तु ज्ञेय कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार रत्यादि के आस्वादरूप होते हुए भी रस आस्वाद्यमान कहा जाता है।[2]

रसचर्वणा का पूर्वापर सीमा विभावादि हैं। अर्थात् - रस का आस्वाद तभी तक होता है जब तक कि विभावादि रहते हैं।[3] इसी मम्मट रस प्रतीति को "विभावादिजीवितावधि" कहते हैं। ये विभावादि पृथक् रूप से प्रतीत नहीं होते। मम्मट इनकी प्रतीति पानक-रस-न्याय से स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार इलायची,

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) यथा स्वात्मानमात्मना आत्मना जानामीत्यत्राभिन्नोऽपि स्वाकार:। ग्राह्यग्राहकता पि अत्र भेदे स्यादत्र एकत्वेऽपीत्यपि शब्दार्थ:। संकेत-५०।

(2) स्वस्य ज्ञानस्य आकारविशेष एव विषय: न तु ज्ञानादन्य: इति हि योगाचारमते यथा वस्तुनो ज्ञानस्वरूपस्य विषयस्य ज्ञेयत्वं, तथा आनन्दात्मकास्वादरूपस्यापि रसस्य आस्वाद्यत्वमविरुद्धमिति भाव:। विवरण - पृष्ठ-४७।

(3) विभावादिरेव जीवितस्य आस्वादस्य अवधि: पूर्वापरसीमा यस्य स: विभावादि कालमात्रावस्थायीति परमार्थ:। विवरण पृष्ठ-४७।

कालामिर्च, मिश्री, केसर तथा कपूर इत्यादि के मिश्रण से पानक रस बनता है और उसका स्वाद इलायची इत्यादि समाविष्ट द्रव्यों से भिन्न रहता है, ठीक उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण चमत्कारात्मक अलौकिक रस की प्रतीति होती है।

श्री मदभिनवगुप्त पादाचार्य का अर्थ::- श्रीधर तथा भीमसेन दीक्षित प्रभृति कुछ टीकाकारों ने अभिनवगुप्त नाम की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। विवेककार श्रीधर के अनुसार प्रकृत पद का अर्थ इस प्रकार है -- "[illegible]-ज्ञानसम्पन्न इत्यर्थः। आचार्यपदेन सम्प्रदायप्रवर्तकत्वं पादा इति गुरुगौरवातिशय प्रकर्षः अभिनवं गुप्तं गूढमर्थं सम्पादयन्तीत्यभिनवगुप्तपादाः। विवेक पृष्ठ- ७५।

सुधासागरकार के अनुसार प्राचीनकाल में कश्मीर में पढ़ने वाले अनेक ब्राह्मणबालकों की एक पाठशाला थी। उसमें पढ़ते हुए कोई गौड़ बालक अतिकुशाग्रबुद्धि एवं वाचाल होने के कारण अन्य छात्रों को आतंकित करने के कारण गुरु के द्वारा 'बालवल्लभाभुजंग' इस नाम से सम्बोधित किया गया। वही पाण्डित्य के क्षेत्र में आचार्यत्व को प्राप्त हुआ। इस सम्पूर्ण रहस्य को जानते हुए मम्मट अभिनव गोपालको गुप्तपाद इस नाम से उन्हें सम्बोधित करते हैं।१

कार्य एवं ज्ञाप्य से भिन्न रस::- अभिनवगुप्त के मत का सार प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने यह भी तय कर दिया है कि रस विभावादि का कार्य नहीं है। अन्यथा विभावादि के नष्ट होने पर उसकी सत्ता बनी रहती। वह ज्ञाप्य भी नहीं है, क्योंकि पहले से उसकी सिद्धि ही नहीं है। अर्थात् वह साध्यरूप है। अतएव रस का कार्य एवं ज्ञाप्य से विलक्षण होना ही उसका अलौकिकत्व है। इस कथन को विवेककार तथा विवरणकार ने स्पष्ट किया है। तदनुसार रस विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। अतः विभावादि रस के हेतु हैं। हेतु दो प्रकार के होते हैं-- कारक तथा ज्ञापक। कारक हेतु यथा घट के निर्माण में मिट्टी इत्यादि तथा कुम्भकार कारक हेतु हैं। घट उनका कार्य है। मिट्टी तथा घट में कारण-कार्य सम्बन्ध है। कारण के नष्ट होने पर भी कार्य घट विद्यमान रहता है। इसी प्रकार यदि रस विभावादि

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) सम्पूर्ण व्याख्यान द्रष्टव्य है सुधासागर- पृष्ठ- १२१ ।

का कार्य होता तो विभावादि के नष्ट होने पर भी रस की सत्ता रहती। किन्तु ऐसा नहीं होता अतः रस कार्य नहीं कहा जा सकता।१ यदि रस कार्य नहीं है तो उसे विभावादि द्वारा ज्ञाप्य होना चाहिए। किन्तु वह ज्ञाप्य भी नहीं हो सकता। लोक में ज्ञाप्यघटादि के ज्ञापक दीपकादि हैं। दीपक द्वारा ज्ञापित होने के पूर्व भी घटादि की सत्ता विद्यमान रहती है। किन्तु विभावादि के पूर्व रस की सत्ता नहीं रहती। अतः वह विभावादि का ज्ञाप्य भी नहीं कहा जा सकता। रस तो वस्तुतः विभावादि के द्वारा अभिव्यंजित होता है। यही उसकी विलक्षणता अथवा अलौकिकता है।

उपचार से रस कार्य या ज्ञाप्य:- लोक व्यवहार में 'उत्पन्नो रसः' 'ज्ञाप्यो रसः' इत्यादि प्रयोग सुना जाता है। फिर इसका क्या समाधान है? इसका भी अभिनवगुप्त सम्मत उत्तर मम्मट ने दिया है और विवेककार श्रीधर ने उसे सुस्पष्ट भी कर दिया है। तदनुसार रस कार्य या ज्ञाप्य नहीं होता। तथापि उपचार से उसे कार्य या ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है। वह इस प्रकार कि जब रस की चर्वणा अथवा आस्वादन होता है तभी रस की अभिव्यक्ति मानी जाती है। चर्वणा की उत्पत्ति होती है इस कारण से 'उत्पन्नो रसः' इत्यादि गौण प्रयोग देखा जाता है। यही बात रस के ज्ञाप्य होने की। उपचार से रस ज्ञाप्य भी है। लोक में तीन प्रकार के ज्ञान होते हैं। प्रथम ज्ञान वह है जो प्रत्यक्षादि से होता है। यह ज्ञान जनसाधारण अर्थात् सब को होता है। द्वितीय ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना सविकल्पक समाधि में होता है। यह ज्ञान साधना में लगे हुए युञ्जानक योगियों को होता है। सविकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है। तृतीय ज्ञान सिद्धनामक योगियों को निर्विकल्पक समाधि में होता है। इस ज्ञान में अन्य ज्ञेय का सम्पर्क नहीं रहता। केवल आत्मानुभूति मात्र होती है। आशय है कि रसानुभूति इन तीनों ज्ञानों से विलक्षण है। वह तो अलौकिक स्वसंवेदन अथवा अनुभूति का विषय होता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है विवेक टीका पृष्ठ- ७२ तथा विवरण टीका पृष्ठ- ४८।

यह लोकोत्तर अनुभूति का विषय होने के कारण इसे ज्ञेय भी कहा जा सकता है।१

<u>निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान से भिन्न रस:-</u> रस निर्विकल्पकज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान से स्वयं उभयज्ञान से भिन्न है। साथ ही कार्य एवं ज्ञाप्य की भाँति उभयज्ञान स्वरूप भी है। इसकी अलौकिकता का यह एक अन्य प्रमाण भी है। टीकाकारों की दृष्टि से इस तथ्य को देखा जा सकता है- ज्ञान दो प्रकार का होता है।(१) निर्विकल्पक (२) सविकल्पक। निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु के नाम रूप जात्यादि की योजना नहीं रहता। साथ ही विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध भी नहीं रहता। इसके विपरीत सविकल्पक ज्ञान में नामादि का उल्लेख रहता है और ज्ञाता ज्ञेय का स्पष्ट रूप से प्रतीति होती है। रसानुभव निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें विभावादि का परामर्श (सम्बन्ध) रहता है। एवं सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह तो केवल आस्वाद रूप ही है। ज्ञान से भिन्न कोई ज्ञेय वस्तु नहीं है। अतएव नाम जात्यादि के उल्लेख का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं होता।२

स्पष्ट है कि रसानुभूति निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दोनों ज्ञानों से भिन्न है। अतः यह उभयाभावरूप कहा जा सकता है। साथ ही एक तर्क से इसे उभयात्मक भी कहा जा सकता है। वह यह कि दो विरोधी वस्तुओं में एक का सद्भाव दूसरे का अभाव तथा एक का अभाव दूसरे का सद्भाव भी कहा

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) लौकिकं यत् प्रत्यक्षादिज्ञानं यच्च प्रमाणतटस्थेन प्रमाणौदासीन्येन (प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणानपेक्षेणेति यावत्) अवबोधः ज्ञानं, तटस्थं मितयोगिनां अयुक्तयोगिनां (ध्यानजन्यं) ज्ञानं यदपि च वेद्यान्तरस्य ज्ञेयान्तरस्य लौकिक विषयस्य सम्बन्धेन रहितं स्वरसात्ममात्रविषयकं परिमितेतरयोगिनां युक्तयोगिनां संवेदनं ज्ञानं तदनुभवविलक्षणम् अत एव च लोकातीतं यत् स्वात्मकं संवेदनं ज्ञानं तदनु-भवविलक्षणम् अत एव च लोकातीतं यत् स्वात्मकं संवेदनं तस्य विषय इत्यर्थः। प्रत्ययोऽयं:। विवेक पृष्ठ-४६।

~~(२) सम्पूर्ण व्याख्यान द्रष्टव्य है सुधासागर पृष्ठ-१२१~~ ।

(२) तदानीं ज्ञानाज्ञातृरसाभावात् रसमात्रनिर्विकल्प्यां चर्वणायां नामजात्युल्लेखाद्यभावान्न पुनः सविकल्पकमपीति। विवरण पृष्ठ-५०।

जाता है। रसानुभूति यदि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है तो वह सविकल्पक ज्ञान का विषय होगी। इस प्रकार से यह उभयात्मक ज्ञान का विषय भी है। किन्तु उद्योतकार इसे कुछ अन्य प्रकार से सिद्ध करते हैं। तदनुसार विभावादि का विभावत्वादि के द्वारा ज्ञान होने से इस अंश में सवि-कल्पत्व है और किसी अलौकिक आनन्दमय का साक्षात्कार ज्ञान होने से निर्विकल्पकत्व भी है।[1]

सम्मिलित विभावादि से रसाभिव्यक्ति :- एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि विभावादि में प्रत्येक से रसाभिव्यक्ति होती है? अथवा उनके सम्मेलन से, यह एक प्रश्न है क्योंकि ऐसे भी उदाहरण दृष्टिगत पड़ते हैं जिनमें केवल विभाव, केवल अनुभाव तथा केवल व्यभिचारिभाव से ही रसाभिव्यक्ति होती है। फिर मम्मट ने रससूत्र में विभावादि को समस्तरूप से रखकर विभावादि के सम्मिलित रूप से रसाभिव्यक्ति क्यों बताई गई है। साथ ही कतिपय आचार्यों ने विभावादि में प्रत्येक से रसाभिव्यक्ति स्वीकार भी किया है। अतः यहाँ पर रससूत्र का क्या रहस्य है? वस्तुतः यह पूर्व पक्ष चण्डीदास प्रभृति टीकाकारों की उद्भावना है। मम्मट ने केवल इसका समाधान पक्ष प्रस्तुत किया है। तदनुसार भयानक रस के विभाव व्याघ्रादि उक्त रस के समान वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी विभाव होते हैं। अश्रुपात इत्यादि अनुभाव शृंगारादि के समान करुण एवं भयानक रस के भी अनुभाव होते हैं। इसीप्रकार चिन्तादि व्यभिचारिभाव शृंगार के समान ही वीर, करुण और भयानक रसों के भी व्यभिचारी होते हैं। अतएव विभावादि की पृथक् व्यंजकता करना सर्वथा अनैकान्तिक तथा व्यभिचार दोष को आमंत्रित करना होगा। इस कथन को और स्पष्ट करते हुए साहित्य चूड़ामणिकार भट्ट गोपाल के अनुसार व्याघ्रादि हिंसक पशु को देखकर जिस प्रकार कोई कातर भयभीत होता है, उसी प्रकार कोई अन्य अपने पराक्रम के कारण उत्साहित भी होता है। जिसने व्याघ्र को नहीं देखा वह कुतूहलवश विस्मित होता है। दूसरा कोई उसकी क्रूरता के कारण क्रुद्ध होता है। व्याघ्रादि विभाव का यही अनैकान्तिकत्व व्यभिचार है।[2] ठीक वैसा ही

---

(१) विभावादेर्विभावत्वादिना भानादंशे सविकल्पकत्वम्। अनाकलितान्यस्य निर्वि-कल्पस्य स्वरूपतो भानादंशे निर्विकल्पकत्वम् च तस्याखण्डतोऽपि भाव इति दिक्। उद्योत - पृष्ठ - १०२।

(२) साहित्य चूडामणि पृष्ठ १२२

व्यभिचार अश्रुपातादि अनुभावों में भी होता है। कोई रति का अनुभव करता हुआ रतिविषयक अभिलाषा से रोता है, तो दूसरा पर दुःख से चिन्तित होकर और अन्य ईर्ष्यादि के कारण से रोता है। यहाँ अनुभाव का व्यभिचारित्व है।१ सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि चिन्तादि व्यभिचारिभाव शृंगार में मानादि के कारण, करुण में भय के कारण उत्पन्न होता है। अतः व्यभिचारिभाव भी अनैकान्तिक होता है।२

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभावादि सम्मिलित रूप से रस की अभिव्यक्ति करते हैं। किन्तु जहाँ पर विभावादि पृथक् एवं स्वतंत्र रूप से रसाभिव्यक्ति करते हैं, उन स्थलों पर उक्त विभावादि का अनैकान्तिकत्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है? मम्मट ने तीन ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें केवल विभाव, केवल अनुभाव तथा केवल व्यभिचारी भाव के सन्निवेश से रसाभिव्यक्ति होती है। किन्तु वहाँ पर उन्होंने यह भी निर्णय दिया है कि वस्तुतः विभावादि का पृथक्-पृथक् उदाहरण अवश्य है, किन्तु ऐसे उदाहरणों में भी विभावादि के सम्मिलित रूप होने पर ही रस निष्पत्ति होती है। इस कथन में व्यभिचार नहीं आ सका। विभावादि की मुख्यता (असाधारणत्व) के ही कारण उनकी स्वतन्त्र प्रतीति होती है। वस्तुतः मुख्य अंग से जिसकी प्रतीति होती है, वह अन्यों की प्रतीति (आक्षेप) भी कराता है।

<u>रस के भेद</u> :- रसों के भेद पर आचार्य मम्मट का कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है। भेदों की गणनाविषयक कारिका तो उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र से अविकल ग्रहण कर लिया है, जो इस प्रकार है --

---

(१) द्रष्टव्य है साहित्य चूड़ामणि वही पृष्ठ।

(२) चिन्तादयः यथा। शृंगारे मानादिना, वीरे मनोरथादिना करुणे दुःखेन भयानके भयेन चिन्तादयाविभावः। सम्प्रदाय प्रकाशिनी पृष्ठ-१२२।

"शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।"

मम्मट ने केवल इन आठों भेदों को नामनिर्देशपूर्वक सोदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। टीकाकारों ने भी उसका समुचित व्याख्यानमात्र ही किया है। उनके द्वारा भी किसी नवीन कल्पना की उद्भावना नहीं की गई है। तथापि जितना भी मौलिक अंश मम्मट ने अथवा उनके टीकाकारों ने प्रस्तुत किया है अथवा विषयप्रतिपादन की दृष्टि से जितना अपेक्ष्य है केवल उतने मात्र को हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण का ग्रहण केवल लिप्यानुवाद मात्र हो होगा।

**शृंगाररस:-** शृंगाररस की कोई परिभाषा मम्मट नहीं देते। वे केवल परम्परा से प्राप्त संभोग एवं विप्रलम्भ इन दो शृंगार रस के भेदों का संकेत करके उनके उपभेदों के साथ उदाहरण प्रस्तुत कर देते हैं। किन्तु टीकाकारों ने उसके पारिभाषिक स्वरूप को देने का प्रयास किया है। प्रदीपकार के अनुसार शृंगारादि रस, रत्यादि प्रकृतिक होते हैं। मनोनुकूल अर्थों में सुख की अनुभूति ही रति है और रतिप्रकृतिक रस शृंगार रस कहा जाता है।१ इसी तथ्य को विवेककार श्रीधर कुछ भिन्नप्रकार से प्रस्तुत करते हैं -- तत्र शृंगारोनाम परस्पर लोकसर्वस्वाभिमाना मकरतिस्थायिभावप्रभा स्त्रीपुंहेतुक-उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेशात्मक आमरस्त्रीग्रयुगुप्सा-आलस्य व्यभिचारि रतिः श्यामवर्णो विष्णु देवत:।।" विवेक पृष्ठ- ७६।

सुधासागरकार ने उक्त प्रदीपकार तथा रविभट्टाचार्य के मत को प्रस्तुत कर अन्त में अपना मत दिया है। रवि भट्टाचार्य के अनुसार रतिनिष्पाद्यत्व ही शृंगारत्व या शृंगाररस है।२ सुधासागरकार के मत से कामोद्रेकोपहित अन्तःकरण से युक्त स्त्री एवं पुरुष की परस्पर रिरंसा ही रति है। मम्मट की

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) शृंगारादीनां च सर्वेषाम् रतिप्रकृतिकत्वम्। तत्र मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रति तत्प्रकृतिको रसः शृंगारः। प्रदीप पृष्ठ- १०६।

(२) तत्र रतिनिष्पाद्यत्वं शृंगारत्वमिति रविभट्टाचार्याः। सुधासागर पृष्ठ- १३७।

भाव निरूपण विषयक 'रतिर्देवादि विषया' इत्यादि कारिका में 'रति' पद का प्रयोग लाक्षणिक है ।१

कुछ टीकाकारों के अनुसार श्रृंगार पद की व्युत्पत्ति है - श्रृंगस्य आगमनम् (अरम्) हेतुर्यस्य स श्रृंगारो रसः । साहित्यशास्त्र में श्रृंगार पद कामोद्रेक के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।२ श्रृंगार रस का स्थायिभाव रति है । इसके दो भेद- सम्भोग श्रृंगार तथा विप्रलम्भश्रृंगार होते हैं । मम्मट के अनुसार नायक तथा नायिका के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन, इत्यादि की अनन्तता के कारण सम्भोग-श्रृंगार अगणित प्रकार का होता है, किन्तु वह एक सम्भोग श्रृंगार ही गिना जाता है । संभोग से क्या आशय है, इसका कोई स्पष्टीकरण मम्मट नहीं देते । टीकाकारों के अनुसार (नायक-नायिका का) मिलकर (संयुक्त रूप से) उपभोग करना सम्भोगश्रृंगार कहा जाता है ।३ प्रदीपकार इसे इस प्रकार समझाते हैं-- 'अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।

दर्शन-स्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ।।

संभोग श्रृंगार भी दो प्रकार का होता है-- नायिकारब्ध तथा नायकारब्ध । दोनों के पृथक् उदाहरण मम्मट ने दिया है । इसी प्रकार विप्रलम्भ श्रृंगार को भी टीकाकारों ने स्पष्ट किया है । संकेतकार के अनुसार वियुक्त नायक एवं नायिका में सम्भोगास्वाद के लोभ से मिलनोत्सुकता का उद्रेक होता है ।४ प्रदीपकार का कथन है कि रतिनामक स्थायीभाव, अभीष्ट की अप्राप्ति के फलस्वरूप जब प्रकृष्टता को प्राप्त होता है, तब विप्रलम्भश्रृंगार होता है ।५ मम्मट इसके अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शापहेतुक ये पांच भेद मानते हैं । जहाँ पर नायक एवं नायिका को समागम का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, वहाँ

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) यत्तु स्मरकेलिजिज्ञासान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसोः परस्परं रिरंसा रतिरिति । रतिर्देवादि- विषया इत्यादौ तु रतिशब्दप्रयोगो भाक्त इति प्राहुः । सुधासागर पृष्ठ-१३७ ।

(२) श्रृंगं हि मन्मथोद्भेदः तदागमनहेतुकः । बालबोधिनी पृष्ठ-१०० ।

(३) संयुक्ताभ्याम् भुज्यते इति सम्भोगः । संकेत पृष्ठ-५४ ।

(४) सम्भोगास्वादलोभेन वियुक्ताभ्याम् प्रलम्भः आरभ्यते च । संकेत पृष्ठ-५४ ।

(५) भावो यदा रतिनामा प्रकर्षमधिगच्छति । नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदो- च्यते ।

हास्यरस के निरूपण में भी मम्मट केवल उदाहरण देकर मौन हो जाते हैं। किन्तु टीकाकारों ने इसके स्वरूप को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। तदनुसार इसका स्थायीभाव हास है। हास्य स्मितवर्ण एवं प्रमथदैवत होता है। रति स्थायीभाव के सदृश उभयाधिष्ठानत्व के अभाव के कारण यह हासप्रकृतिक होता है। इसमें हास उपनिबद्ध न होने पर भी विभावादि की महिमा से हास की प्रतीति होती है।१ वस्तुतः व्यंग्य-क्रीडादि के द्वारा चित्तवृत्ति का विकास ही हास कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने भी इसी सरणि में बताया है कि वागादि वैकृतजन्य चित्तविकास हास कहलाता है।२

स्पष्ट है कि विकृत आकार एवं चेष्टादि के माध्यम से हास्य रस की निष्पत्ति कराई जाती है। यही हास्यरस का आलम्बन है। व्यक्ति की चेष्टाएं उद्दीपन तथा नेत्रसंकोचादि अनुभाव हैं। द्रष्टा का चापल्यादि व्यभिचारिभाव है।३

करुणरस का स्थायिभाव शोक है। दर्पणकार तथा प्रदीपकार के अनुसार किसी प्रियवस्तु के नष्ट हो जाने पर जो चित्त में व्याकुलता जागृत होती है, उसे शोक कहते हैं।४ इसमें शोच्यवस्तु आलम्बन, उसकी दाह क्रियादि उद्दीपन तथा भाग्यनिन्दा, क्रन्दन इत्यादि व्यभिचारिभाव हैं। यह कपोतवर्ण है तथा यम इसके अधिदेवता हैं। बालटीकाकार ने इसे स्पष्ट किया है।५

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। शत्रुओं के प्रति जो हृदय में प्रतिशोध की भावना जागृत होती है वही क्रोध है।६ इसका आलम्बन शत्रु होता

---

(१) तत्र हास्यः सितः प्रमथदैवतः। --- अयञ्च हासो रतिवदुभयाधिष्ठानत्वाभावेन हासकनिष्ठ एव। स भावानुपनिबद्धोऽपि हासो विभावमाहात्म्यात् प्रतीयते। विवेक पृष्ठ-८२।

(२) वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते। साहित्यदर्पण ३।१७५।

(३) द्रष्टव्य है बालटीका पृष्ठ-८४।

(४) इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्। (साहित्य दर्पण पृ०१७७ प्रदो०पृ०

(५) बालटीका-पृष्ठ-८५।

(६) प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध इष्यते। प्रदीप पृष्ठ-११६

चित्त का एक विकास सा होता है, वही विस्मय है ।(१) इसका आलम्बन विभाव विलक्षण वस्तु है । वस्तु का गुणवर्णन उद्दीपन विभाव है । स्तुति इत्यादि अनुभाव, धृति, इत्यादि व्यभिचारीभाव हैं । इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है--

"चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

वामन को लक्ष्य करके यह बलि की उक्ति है । इसमें वामन आलम्बन तथा कान्ति आदि उद्दीपन हैं । स्तुति आदि अनुभाव तथा धृति, इत्यादि व्यभिचारिभाव हैं । सहृदयों में विस्मयप्रकृतिक अद्भुत रस की प्रतीति होती है।

**स्थायिभाव:-** शृंगारादि आठों रसों के स्थायी भावों का भी निरूपण इन रसों के विवेचन के साथ बताया जा चुका है । मम्मट ने एक कारिका में आठों स्थायीभावों को रसों के विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है--

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥

ज्ञातव्य है कि यह कारिका भी मम्मट ने भरत के नाट्यशास्त्र से यथावत् ग्रहण कर लिया है । किन्तु स्थायिभावों के स्वरूप पर कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किया । किन्तु कुछ टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में भी विचार किया है, जिसका स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है ।

प्रदीपकार ने परम्परा के आश्रय पर यह स्पष्ट किया है कि जिस भाव को अनुकूल भाव अथवा प्रतिकूल भाव तिरोहित करने में समर्थ नहीं होते वह वर्णांकुर

---

(१) विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात् । प्रदीप पृष्ठ-११८ ।

का मूलरूप भाव स्थायिभाव कहा जाता है।१ इन स्थायिभावों की स्थिति एक सूत्रन्याय से रहती है। जब कि फेनबुद्बुदन्याय से व्यभिचारिभावों की स्थिति होती है। दोनों में यही भेद है। आठ ही स्थायिभाव होते हैं, अतएव न्यूनाधिक्यावबोधिनी आशंका निरस्त हो जाती है।२

कुछ टीकाकारों ने दशरूपककार के विचार स्थायीभावों की संख्या के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। तदनुसार रस नामक आनन्द चार प्रकार का होता है। रसानुभूति के समय चित्तवृत्ति की विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप ये चार अवस्थाएं होती हैं। अतएव केवल चार ही रस मुख्य माने जाने चाहिए। इन्हीं के शृंगार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र ये चार रस प्रतीत होते हैं। शेष हास्य अद्भुत, भयानक तथा करुण रस में भी चित्त की ये ही अवस्थाएं रहती हैं।३ भाव यह है कि उक्त शृंगारादि चार ही मौलिक रस होते हैं। इनसे हास्यादि की उत्पत्ति होती है। दशरूपककार ने इसे इस प्रकार बताया है --

"शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

इस विवेचन को दृष्टि में रखते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वस्तुतः आठ ही स्थायिभाव तथा आठ ही रस होते हैं।

**व्यभिचारिभाव:-** स्थायिभावों के समान मम्मट ने व्यभिचारिभावों का भी नाम-निर्देशमात्र किया है। चार कारिकाओं में तैंतीस व्यभिचारिभाव गिनाए

---

(१) अवस्थितिश्चैषां सूत्रन्यायेन फेनबुद्बुदन्यायेन तु व्यभिचारिणाम् इत्यनयोर्भेदः।
----- अष्टावेव के स्थायिनोऽतो न्यूनाधिक्यशंका इति निरस्ता।
--- प्रदीप पृष्ठ- ११६ ।

(२) स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः ॥
विकासविस्तारविक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥
शृंगारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ दशरूपक ४।४३,४४ ।

गए हैं। ज्ञातव्य है कि ये कारिकाएं भी रसतरंगिणी में भरतसूत्र के रूप में ग्रहण की गई हैं। नाम निर्देश के अतिरिक्त मम्मट ने कोई भी विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। टीकाकारों ने इनके लक्षण व उदाहरण देने का प्रयास अवश्य किया है, तथापि उनका इस सम्बन्ध में कोई मौलिक योगदान नहीं है। केवल साहित्यदर्पणादि से लक्षण अक्षरशः उद्धृत कर दिया है।

शान्त रस::- भरत सूत्र में तैंतीस व्यभिचारिभावों की गणना में "निर्वेद" नामक व्यभिचारिभाव सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है। जब कि निर्वेद अमंगलप्राय होने के कारण उसका प्रथम निर्देश अनुपादेय है। इसके कारण की गवेषणा में मम्मट का मत है कि वास्तव में निर्वेद व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव दोनों के अन्तर्गत आता है। शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद है। संकेतकार के अनुसार शान्तरस के विभाव वैराग्यतत्त्वज्ञान, सर्वज्ञ अनुग्रहादि हैं। अनुभाव यम-नियम, अध्यात्मशास्त्र इत्यादि तथा व्यभिचारिभाव धृति स्मृति इत्यादि हैं। उसका स्थायीभाव निर्वेद है।1 विवेककार निर्वेद को तत्त्वज्ञानस्वरूप ही मानते हैं।2 किन्तु जो अन्य चित्तवृत्तियों के प्रशम को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानते हैं, उनका कथन ठीक नहीं है। क्योंकि चित्तवृत्तित्व के ही अभाव में पुनः किसी प्रकार के भावत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। विवेककार ने लोचन का वाक्य ग्रहण कर इस तथ्य को प्रकाशित किया है।3

प्रदीपकार शम को ही शान्तरस का स्थायिभाव मानते हैं। उनके कथन का सार इस प्रकार है-- यद्यपि शान्त रस का कोई स्थायिभाव अवश्य है किन्तु

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) वैराग्यतत्त्वज्ञानसर्वज्ञानुग्रहादिविभावो यमनियमाध्यात्मशास्त्रचिन्तनाद्यनुभावो धृतिस्मृत्यादिव्यभिचारी निर्वेदस्थायिभावः शान्तः। संकेत- पृष्ठ-८३।

(२) तत्त्वज्ञानरूपो निर्वेदः स्थायी। विवेक पृष्ठ- ८०।

(३) यत्तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति तदसत् अभावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात् पर्युदासत्वे अस्मत्पक्ष एव (ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ- १७७)। एवं विधस्य निर्वेदो वीतरागस्यैव भवतीति तदाख्यानः। विवेक पृष्ठ- ६०।

वह निर्वेद नहीं हो सकता। क्योंकि निर्वेद समस्त चित्तवृत्तियों का अभावरूप होता है। और अभावरूप होने से उसे स्थायिभाव नहीं कहा जा सकता। अतः शम को ही शान्तरस का स्थायिभाव मानना चाहिए। क्योंकि निरोधावस्था में आत्मलीन होने के कारण जो विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, उसे ही शम कहते हैं। वह शम अथवा भावरूप है। अतः उसे ही शान्तरस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं आता। निर्वेद को केवल व्यभिचारिभाव माना जा सकता है।[१]

वस्तुतः उक्त मत समीचीन नहीं है। परवर्ती अनेक व्याख्याकारों ने इनके मत को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। इन व्याख्याकारों में प्रमुख उद्योतकार तथा सुधासागरकार हैं। वे निर्वेद को ही शान्तरस का स्थायिभाव मानते हैं। आचार्य मम्मट शान्तरस का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं--

'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः ।
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव - शिव शिवेति प्रलपतः ।।

यह पद्य आचार्य अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलराज का है। क्षेमेन्द्र के औचित्यविचार चर्चा में इसका उल्लेख किया गया है। इसमें मिथ्यारूप से संसार आलम्बन तथा तपोवन उद्दीपन विभाव है। सर्पादि में समदृष्टि अनुभाव है। मति, धृति आदि व्यभिचारी हैं। इन सबों से निर्वेद प्रकृतिक शान्तरस की अभिव्यक्ति होती है।

शान्तरस की मान्यता में आलंकारिकों में मतभेद चला आ रहा है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में "अथ शान्तः" कहकर शान्तरस को एक अतिरिक्त रस स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में शान्तरस की मान्यता का भलीभाँति समर्थन किया है। मोक्षरूप पुरुषार्थ में शान्तरस को मानना

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ- १२४ ।

अभिनवगुप्त की दृष्टि में भिन्न आवश्यक है। इसप्रकार धनञ्जय नाट्य में शान्तरस नहीं स्वीकार करते, किन्तु उसका सत्ता काव्य में अवश्य मानते हैं। आचार्य मम्मट "शान्तोऽपि नवमो रसः" कहकर भरतमुनि के समान शान्तरस की अतिरिक्त रसता मानते हैं, किन्तु जहाँ भरतमुनि उसका स्थायिभाव शम मानते हैं वहाँ मम्मट निर्वेद। यही कारण है कि काव्यप्रकाश के टीकाकारों में भी कुछ ने इसके स्थायिभाव के रूप में "शम" को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया है और कुछ ने मम्मट का अन्धानुकरण करते हुए निर्वेद को ही। शोधकर्त्री की दृष्टि में यदि मम्मट ने "शम" को ही माना होता तो अच्छा था। कारण यह कि निर्वेद की स्थिति में जिस रस के प्रति आकर्षण सम्भव है, वह काव्य और नाट्य से प्राप्त ही नहीं हो सकता। फलस्वरूप उसका क्षेत्र निर्विषय भी हो सकता है।

<u>भाव ध्वनि:</u>:- "रसभावतदाभास" अर्थात् कथन में रस का सांगोपांग विवेचन करने के पश्चात् भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावशान्त्यादि का निरूपण मम्मट ने किया है। भाव ध्वनि विषयक मम्मट की पंक्तियां इस प्रकार हैं--

> "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥
> भावः प्रोक्तः - - - -"

अर्थात् देवादि विषयक रति तथा प्रधानता से अंजित व्यभिचारी को भावध्वनि के अन्तर्गत आते हैं। आदि शब्द से मुनि, गुरु, नृप तथा पुत्रादि का ग्रहण होता है। विभावादि के द्वारा पुष्ट कान्ता विषयक रति शृंगाररस के ही अन्तर्गत आता है। मम्मट के इस व्याख्यान पर कुछ प्रमुख टीकाकारों का योगदान द्रष्टव्य है।

मम्मट की उक्त कारिका में रति का प्रयोग उपलक्षणरूप से ग्रहण किया गया है। अर्थात् इसे सभी स्थायिभावों के साथ समझना चाहिए। विवेककार ने जुगुप्सा स्थायिभाव का एक उदाहरण देकर अपने कथन को पुष्ट किया है।[1]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) रतिग्रहणम् उपलक्षणत्वेन व्याख्येयम्। भिक्षु साधुं कूरपरिं पिंगजारज्जुमित्यादौ जुगुप्सादीनामपि भावत्वोपलम्भात्। विवेक- ८२ ।

प्रदीपकार का मत है कि रसावस्था को प्राप्त न होने वाला रत्यादि स्थायिभाव जहाँ पर सहृदयों के आस्वादन का कारण बनता है, वहाँ रसादि की भाव माना जाता है। यह प्रक्रिया दो अवस्थाओं में सम्भव है। एक तो देवादिविषयक मुनिविषयक इत्यादि रतिभाव का वर्णन भाव ध्वनि के क्षेत्र में आता है और जब कि कान्ता विषयक वह रति जो विभावादि के द्वारा भली भाँति पुष्ट नहीं होती, मात्र उद्बुद्ध होकर रह जाती है, वह भी भाव-ध्वनि के अन्तर्गत आती है। जहाँ पर कान्ताविषयक रतिभाव विभावादि से पुष्ट होकर वर्णना का विषय बनता है, वहाँ निस्सन्देह शृंगार रस का ही अनुभव किया होता है। निष्कर्ष यह कि रसावस्था को न प्राप्त करने वाला रत्यादि स्थायिभाव भी भावध्वनि के अन्तर्गत माना जायेगा।

एक अन्य प्रकार से भी भाव-ध्वनि का उदाहरण प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख मम्मट "व्यभिचारी तथाञ्जितः" के द्वारा करते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ व्यभिचारी भाव ही प्रधान रूप से व्यंग्य होते हों और विभावादि उनकी ही पुष्टि करते हों, वहाँ पर व्यभिचारी भावों की भाव एवं काव्य को भावध्वनि काव्य कहा जाता है। अतः भावध्वनि के कुलमिलाकर दो भेद होते हैं। (क) देवादि विषयक रत्यादि (ख) विभावादि के द्वारा पुष्ट न हुए तथापि उद्बुद्धमात्र कान्तादिविषयक रत्यादि (ग) विभावादि से व्यंजित व्यभिचारिभाव मम्मट ने इन भेदों का सोदाहरण निरूपण किया है। इनमें भी देवादिविषयक रतिभाव का उदाहरण विवादास्पद होने के कारण यहाँ द्रष्टव्य है—

"कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

यह पद्य श्री महोत्पलाचार्य द्वारा रचित परमेश्वर स्तोत्रावली से लिया गया है। इसमें महादेव आलम्बन, ईश पद से गृहीत ऐश्वर्य उद्दीपन है।

---

(१) द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ- १२६ ।

स्तुति अनुभाव तथा धृति, स्मृति इत्यादि व्यभिचारिभाव हैं। भगवान शंकर सम्बन्धी रतिभाव की अभिव्यक्ति होती है। यहाँपर उद्योतकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इसमें सहृदयों को केवल भावध्वनि की ही प्रतीति होती है। यह रस का उदाहरण नहीं हो सकता। क्योंकि कान्तासम्भोगिनी रति से सहृदय को जिस उत्कृष्ट आनन्द की अनुभूति होती, वह यहाँ पर देवादि-विषयक रति में नहीं।[1] कुछ टीकाकार कान्ताविषयक अनुरागरति, जो केवल उद्बुध्यमान होती है, उसका उदाहरण यह पद्य देते हैं :-

"हरस्तु किंचित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

ज्ञातव्य है कि मम्मट ने उक्त उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। देव विषयक रतिभाव के उदाहरण के पश्चात् उन्होंने मुनिविषयक रतिभाव के तथा अभिव्यक्तव्यभिचारी के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

<u>रसाभास एवं भावाभास ::-</u> मम्मट के अनुसार रस एवं भाव की अनुचित प्रवृत्ति को रसाभास एवं भावाभास है। अनौचित्य की क्या परिधि है, इस प्रश्न पर काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने पर्याप्त विचार किया है। उनमें प्रस्तुत प्रसंग की दो व्याख्यान यहाँ द्रष्टव्य हैं,

<u>मर्यादा का अतिक्रमण ::-</u> परम्परा के काव्य-नाट्य मर्मज्ञों ने रस एवं भावके ~~विषय में~~ कतिपय आवश्यक नियम निर्धारित कर दिये हैं। ये नियम लोकमर्यादा एवं शास्त्रमर्यादा को दृष्टि में रखकर बनाए गए हैं। इन नियमों का अतिक्रमण करके जिस काव्य में रस या भाव का वर्णन किया जाता है, वहाँ उसको रसाभास या भावाभास की संज्ञा प्राप्त होती है। विवरण एवं साहित्य चूड़ामणि इत्यादि टीकाओं में यह व्याख्यान प्राप्त होता है।

---

१- विवरण पृष्ठ - ६१

परम्परा से प्रचलित तदाभासत्व को टीकाकारों ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है - उपनायक निष्ठ रति, मुनि एवं गुरुपत्नीगत रति, बहुनायक विषयक रति, अनुभयनिष्ठा रति, तथा तिर्यगादिगत रति का वर्णन रसभावादि से भिन्न तदाभासत्व की श्रेणी में गिना जाता है।१ भाव यह है कि लोक मर्यादा के अनुसार गुरुपत्नी सम्बन्धिनी रति का वर्णन अनुचित माना गया है। तथापि यदि काव्य में इस मान्यता का अतिक्रमण करके वर्णन किया जाता है, तब काव्य रसाभासत्व की कोटि में आ जाता है। इस सम्बन्ध में रसाभास में [illegible] एवं सूक्तिरत्नहार का भी उल्लेख जानना चाहिए।२

<u>प्रदीप एवं प्रभाकर का मत</u> :- प्रदीपकार के अनुसार अनौचित्य का अभिप्राय है प्रकर्ष - विरोध। काव्य में जिन तत्त्वों से रसध्वनि एवं भावध्वनि की प्रकृष्टता मानी जाती है, ठीक उनके अविरोधी तत्त्वों से उनकी संयोजना करने पर काव्य तदाभासत्व की संज्ञा प्राप्त करता है। तदाभास का अभिप्राय है रसाभास एवं भावाभास। प्रदीपकार की दृष्टि में तीन स्थल ऐसे हैं, जहाँ पर रसादि का आभास माना जाता है। उनमें प्रथम है अनायकत्व। ऐसे भी वर्णन पाये जाते हैं, जहाँ एक निष्ठरति का वर्णन रहता है। जैसे नायक की रतिचेष्टा किसी ऐसी नायिका के प्रति वर्णित हो जो उस नायक के प्रति उदासीन हो, अथवा उससे घृणा भी करती हो। ऐसे स्थलों पर रतिचेष्टा एकाश्रय कही जायेगी और तन्निष्ठ काव्य में रसाभास माना जायेगा। इसी प्रकार बहुनायक विषयक रतिवर्णन भी रसाभास ही कहा जायेगा।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) उपनायक संस्थायाम् मुनिगुरुपत्नीगतायाम् च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।
आभासत्वं कथितं तथैव तिर्यगादिविषयायाम्, उद्योत पृ० १२८(दर्पण ३।२२३

(२) द्रष्टव्य है साहित्य चूड़ामणि - पृष्ठ - १४५।

(३) अनौचित्येन प्रकर्षविरोधोपनायकेणोक्तः यद्: एकैकात्मकत्वे तिर्यगादिविषयायाम् बहुविषयकत्वे व्यभिचारिणाम् आभासं गतायाम् वा द्रष्टव्यम्। प्रदीप पृ० १२८।

प्रभाकर वैद्यनाथ ने प्रकर्षविरोध अथवा अनुचित प्रयोग का आशय स्पष्ट किया है। तदनुसार गुरु आदि को आलम्बन बनाकर हास्यरस का प्रयोग, वीतराग को आलम्बन बनाकर करुणादि का प्रयोग, माता-पिता, सम्बन्धी रौद्र तथा वीररस का प्रयोग, वीरपुरुषगत भयानक का वर्णन, यज्ञीय पशु को आलम्बन बनाकर बीभत्स रस का वर्णन, ऐन्द्रजालिक आलम्बन से रहित अद्भुतरस एवं चाण्डालादिविषयक शान्तरस का प्रयोग सर्वथा अनुचित है। अतः ये सब वर्णन रसाभास के अन्तर्गत आ जायेंगे।१

<u>भीमसेन दीक्षित द्वारा खण्डन:-</u> प्रदीपकार तथा प्रभाकर के कथन का सुधासागरकार भीमसेन दीक्षित ने खण्डन किया है। तदनुसार प्रदीपकार ने परम्परा के अनुसरण पर ही अपने कथन को पुष्ट किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण के विवेचन के अनुसार तुच्छ पात्रों में, पशुपक्षी में, नायक के प्रतियोगियों में और अप्रधानपदार्थों में रस भावादि वर्णन तदाभास है। प्रदीपकार के विवेचन का यही आधार है। वस्तुतः इन स्थलों पर रस है या रसाभास इसका प्रमाण सहृदय-हृदय ही है। तिर्यगादि में अनौचित्य का अभाव होने से वहाँ रस ही मानना चाहिए। क्योंकि स्वयं काव्यप्रकाशकार ने 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' इत्यादि में भयानक रस माना है। इसी प्रकार 'मित्रे क्वापि गते' इत्यादि उदाहरण में तिर्यक्सम्बन्ध से ही विप्रलम्भ शृंगार माना गया है। अतः यह कथन भ्रान्त है कि पशुपक्षी विषयक रस वर्णन रसाभास होता है। इसी प्रकार अनेक कामुक विषयक रति के आभासित होने पर भी पाण्डवों में द्रौपदी की रतिचेष्टा का वर्णन रसाभास नहीं कहा जा सकता। साथ ही कोपादि अवस्था में स्वकान्ता विषयक रतिवर्णन रसप्रतीति न कराकर रसाभास की ही प्रतीति कराता है।[2] अतः मन से अनुभूत अनौचित्य ही इन वस्तुओं के आभासत्व का प्रयोजक है।[3]

---

१- प्रभा टीका पृष्ठ ६३-४ (निर्णय सागर से प्रकाशित)

२- सुधासागर टीका पृष्ठ १६८ (चौखम्बा से प्रकाशित).

३- वस्तुतस्त्वनौचित्यमेवामीषां रसाभासप्रयोजकम्। सुधासागर पृष्ठ १६८

सुधासागरकार ने वास्तव में उद्योतकार के कथन की परिपुष्टि का किया है । क्योंकि सहृदय सामाजिक के व्यवहार से ही कोई वस्तु उचित है या अनुचित यह ज्ञात होता है । अतः ऐसे स्थलों पर सहृदयों को ही प्रमाण मानना चाहिये ।[१]

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि काव्यादिश्रवण के पश्चात् सर्व प्रथम रस की ही प्रतीति होती है । तदनु व्यंग्यरूप रस के औचित्य का अनुसन्धान करने पर रसाभास का अनुभव होता है । यदि यह क्रम न होता तो रसाभास नाम की कोई वस्तु न होकर उसके स्थान पर रसदोष की ही गणना की जाती । यद्यपि पाश्चात्य साहित्य-मीमांसकों की दृष्टि में रस और रसाभास दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं । क्योंकि उनके यहाँ - POETRY FOR THE SAKE OF POETRY है जब कि भारतीय सिद्धान्त के अनुसार काव्य जीवन का आदर्श है । उससे चतुर्वर्ग फल प्राप्ति सम्भव है । अतएव उसे लोकमर्यादा एवं शास्त्र मर्यादा के नियन्त्रण में रहना ही होगा । जहाँ पर उक्त मर्यादा का उल्लंघन करके कवि काव्यरचना करता है वहाँ पर उसका काव्य अभीष्ट रसादि का बोध न कराकर तदाभास ही कहा जायेगा । आचार्य मम्मट ने रसाभास तथा भावाभास के उदाहरण प्रस्तुत किया है । उनमें रसाभास का उदाहरण इस प्रकार है -

"स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बलात् ।
तपः श्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥

यह किसी कामुक की वेश्या या परकीया नायिका के प्रति उक्ति है । नायिका के अनेक कामुक विषयक रमण, अन्वेषण इत्यादि क्रियाओं का वर्णन किया गया है । अतः नायिका की अनेककामिविषयक वासना अभिव्यक्त होती है । यहाँ पर बहुनायक विषयक रति का वर्णन है । अतः यह रसाभास का उदाहरण है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१ - अनौचित्यम् च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् । यत्र तेषामनुचितमिति धीः ;उद्योत १२८

**भावशान्त्यादि :-** आचार्य मम्मट ने असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद को जो 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः' इस कारिकार्ध में प्रदर्शित किया था। इनमें रस भाव एवं तदाभास के विवेचन के पश्चात् भावशान्त्यादि को भी मम्मट ने सोदाहरण प्रस्तुत किया है। ये वास्तव में व्यभिचारिभावों की चार दशायें हैं जो भावशान्ति भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता नाम से काव्यशास्त्र में प्रयुक्त होती आई है। शान्ति का अर्थ आदर्शकार नाश ग्रहण करते हैं, जब कि अन्य टीकाकार प्रशम।[1] मम्मट ने स्वतः कोई भी स्पष्टीकरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः शान्ति पद के स्वारस्य से प्रशम अर्थ ग्रहण करना अधिक उचित प्रतीत होता है। भावशान्ति में किसी व्यभिचारिभाव की प्रशमावस्था में सहृदय को चमत्कार की प्रतीति होती है। भावोदय में किसी व्यभिचारिभाव की उत्पत्ति में आनन्द विद्यमान रहता है। भावसन्धि वहाँ होती है जहाँ पर दो तुल्यबल के व्यभिचारिभावों के सम्मिश्रण का चमत्कार रहता है। कुछ टीकाओं के अनुसार विरोधी किन्तु तुल्य बल वाले दो व्यभिचारिभाव जहाँ समकाल में ही उपस्थित हों वहाँ भाव सन्धि नामक ध्वनिकाव्य होता है।[2] चारों के एक एक उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है।

जिस काव्य में किसी व्यभिचारिभाव को दबाकर दूसरा भाव उदित हो और दूसरे को दबाकर तीसरा, तीसरे को चौथा इत्यादि क्रम से व्यभिचारिभावों की उपमर्द्योपमर्दकता व्यक्त हो, वहाँ भावशबलता नामक ध्वनिकाव्य होता है - यथा -

' क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१ - आदर्श टीका पृष्ठ १२०

२ - विवरण पृष्ठ ६२ तथा आदर्श पृष्ठ १२०

इसका समाधान स्वत: मम्मट ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि यद्यपि मुख्य रूप से रस प्रधान अवश्य रहता है, तथापि कहीं-कहीं भावाभासादि अंगों के रूप में रहते हैं। ऐसे स्थल पर रस उन भावादि का उपकरण करता हुआ प्रतीत होता है। यह ऐसे ही जैसे भृत्य के विवाह में पीछे चलता हुआ राजा, भृत्य के ही उत्कर्ष को बढ़ाता है।

## :: संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनिकाव्य ::

पहले बताया जा चुका है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिकाव्य के दो भेद- असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य - होते हैं। इनमें प्रथम का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। प्रस्तुत संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनिकाव्य का विवेचन मम्मट एवं उनके टीकाकारों की दृष्टि से यहाँ विवेच्य है। तदभिधायक मम्मट की कारिका इस प्रकार है -

> अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु यः।
> शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः॥

इस कारिका के आशय के स्पष्टीकरण में टीकाकारों में मतभेद नहीं है, तथापि विभिन्न टीकाकारों में कतिपय व्याख्यान्तर अवश्य परिलक्षित होता है। अनुस्वान का अर्थ है अनुरणन। संकेतकार के अनुसार घण्टा अनुस्वान करता है और व्यंग्य अनुरणन। इस स्थिति में अनुरणन रूप में व्यंग्य प्रतीत होता है।[1]

यद्यपि संकेतकारका व्याख्यान अधिक स्पष्ट नहीं है। तथापि भावी अनेक व्याख्याओं का पथ प्रदर्शक अवश्य है। इसी दिशा में विवेककार ने

---

१- घण्टानुस्वानाभावो व्यंग्यस्त्वनुरणनाभावो इति स्थित्या व्यंग्यम् अनुरणनरूपम्। संकेत पृष्ठ ६६

अनुसार अनुस्वान का अर्थ है, अनुरणन और आभ का अर्थ है सदृश। अनुस्वान से क्रम की प्रतीति के सदृश, उक्त ध्वनिकाव्य में व्यंग्य का क्रम संलक्ष्य रहता है। अत: यह अनुस्वान के सदृश है।१ सुस्पष्ट व्याख्यान का श्रेय प्रदीपकार एवं अनुगामी व्याख्याकारों को है। तदनुसार घण्टा बजाने के पश्चात् जो मुख्य नाद के श्रवण के अनन्तर एक अत्यन्त मधुर व सूक्ष्मध्वनि सुनाई पड़ती है, वही अनुस्वान या अनुरणन है। यहाँ मुख्यनाद तथा अनुरणन का क्रम स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की भी स्थिति होती है।

उपरोक्त को स्पष्ट करते हुए उद्योतकार का कथन है कि व्यंजक के साथ, व्यंग्य का क्रम, जिस काव्य में संलक्ष्य रहता है, वह संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि काव्य है।२ काव्यप्रकाश की बालचित्तानुरंजनी चूड़ामणि नामक टीका में इसके प्रतिपद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है-- "प्रथमस्वनपृष्ठभावी स्वनोऽनुस्वान तदात्मं तत्सदृशं कृत्वा य: संलक्ष्यक्रमो व्यंग्यस्तस्य स्थिति: यत्रेति।"

<u>संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनिकाव्य के भेद::-</u> इसके तीन भेद होते हैं। मम्मट ने इनका उल्लेख शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनि: इत्यादि रूप में किया है। अर्थात् (१) शब्द शक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य (२) अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य तथा (३) उभयशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य, ये तीन भेद संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि काव्य के होते हैं। इनका क्रमश: स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है:-

<u>शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य::-</u> इसे शब्दशक्तिमूला केवल इसलिए कहा जाता है, कि जिस शब्द के प्रयोग से जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह व्यंग्यार्थ न प्रतीत होगा, यदि उस शब्द का पर्याय वहाँ रख दिया जाय। अर्थात् इस भेद में शब्दपरिवर्तन से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती।३ इसे शब्दपरिवृत्यसहत्व भी कहा जाता है। मम्मट इसके उपभेद अलंकार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि करते हैं। अलंकारध्वनि में शाब्दी व्यंजना के

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) घण्टायां हन्यमानायां मुख्यशब्दानन्तरं यथा अन्योऽयानपरो नुरणनरूप: शब्द: प्रतीयते तद्वत् संलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य स्थिति:-- प्रदीप पृष्ठ-१३४।

(२) व्यंजकेन सह संलक्ष्यक्रमो यस्य तादृशव्यंग्यकस्य अर्थ: - उद्योत पृष्ठ-१३४।

(३) शब्दशक्तिमूलत्वं चैतदेव यत्तेनैव शब्देन तदर्थप्रतीतिर्न तु पर्यायान्तरेण - प्रदीप पृष्ठ-१३४।

के द्वारा अलंकार रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यही सहृदय सामाजिकों के प्रति चमत्कारधायक है। यथा ---

"उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन ।।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ।।

प्रस्तुत पद्य में प्रकरणवश राज प्रताप के वर्णन में अभिधाशक्ति नियमित हो जाती है। तदनु इन्द्र सम्बन्धी अन्यार्थ की प्रतीति होती है। अतएव प्राकरणिक राज-प्रताप वर्णन यहाँ वाच्यार्थ है और अप्राकरणिक इन्द्र-प्रताप वर्णन व्यंग्यार्थ है। यदि इन दोनों अर्थों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध न माना जाय तो वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधायक होने लगेगा। अथवा "करवाल-उल्लास्य" इन पदों से ही प्राकरणिक अर्थ उपपन्न हो जाता है और "काल" यह पद व्यर्थ हो जाता है और वाक्य असम्बद्धार्थ का परिचायक होने लगेगा। वस्तुतः यहाँ पर राजा तथा इन्द्र में सादृश्य सम्बन्ध का बोध होता है। अतएव इसमें प्रधानरूप से उपमालंकार ही व्यंग्य है। ज्ञातव्य है कि यदि यहाँ पर "देवेन" पद के स्थान पर उसके पर्यायवाची "नृपेन" पद का प्रयोग कर दिया जाय तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो सकेगी। अतः यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप अलंकार ध्वनि है।१

दूसरा उपभेद शब्दशक्तिमूलक-अनुरणन रूप वस्तु ध्वनि है। इसमें जिस ध्वनि की प्रतीति होती है वह अलंकार रहित वस्तुमात्र होती है। यद्यपि अलंकार वस्तु के ही क्षेत्र में आते हैं तथापि अलंकार रूप व्यंग्य तथा अलंकार भिन्न व्यंग्य (वस्तुमात्र) को गोबलीवर्दन्याय से भिन्न-भिन्न प्रदर्शित किया गया है।२ मम्मट इसके दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनमें से दूसरे उदाहरण में टीकाकारों

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ- १३८ ।

(२) अलंकारमिति अलंकार भिन्नमित्यर्थः । एवं च गोबलीवर्दन्यायेन वस्त्वलंकारयोः भेद इति भावः । बालबोधिनी पृष्ठ- १२८ ।

का कुछ मौलिक चिन्तन प्रकट होने के कारण यहाँ विवेच्य है । उदाहरण इस प्रकार है --

"शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥

यहाँ पर शनि तथा अशनि परस्पर विरुद्ध हैं । तथापि राजा की आज्ञा पालन करने के हेतु वे एक ही (हननरूप) कार्य करते हैं । इस प्रकार का वस्तुमात्र व्यंग्य हो रहा है । विवरण टीका के अनुसार शनि का अर्थ शनिग्रह और अशनि का वज्र है । इसी प्रकार उदार का अर्थ महान् तथा अनुदार का अर्थ अनुकूल पत्नी वाला है ।१ आपाततः अशनि का अर्थ शनि भिन्न तथा अनुदार का अर्थ उदारभिन्न प्रतीत होता है । प्रदीपकारादि टीकाकारों के अनुसार पद्य के पूर्वार्द्ध में ही वस्तु ध्वनि है । क्योंकि शनि तथा अशनि (न + शनि) परस्पर विरोधी हैं । तथापि हननरूप एक कार्य करने में प्रवृत्त हैं, पद्य के उत्तरार्द्ध में वस्तुतः एक कार्य करने की प्रतीति भी होती नहीं, अपितु विरोध व्यञ्जित होता है । अतः उत्तरार्द्ध में विरोधालंकार व्यंग्य मानना चाहिए । कुछ व्याख्याकारों के मत से सम्भवतः मम्मट एक ही उदाहरण में वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि का स्वरूप एक साथ प्रदर्शित करना चाहते थे । इसी दृष्टि से उक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

मम्मट के विवेचन का आधार ध्वन्यालोक तथा लोचन कहा जा सकता है । अन्तर इतना ही है ध्वनिकार ने स्पष्टरूप से केवल अलंकारध्वनि का ही निरूपण किया है। तदनुसार शब्दशक्त्युद्भव वह ध्वनिप्रकार है, जहाँ एक ऐसा अलंकार रूप अर्थ व्यंग्य रहता है जिसका अभिधान शब्द से नहीं रहता । अपितु वह आक्षिप्त (अभिव्यक्त) रहता है ।२

---

(१) शनिः शनिग्रहः अशनिर्वज्रम्, उदारो महान् अनुकूला दारा वनिता यस्य इति कुत्सया अनुदारः [illegible] । विवरण - पृष्ठ - ६८ ।

(२) आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ ध्वन्यालोक २।२१ ।

लोचनकार ने उपमाव्यतिरेकादिध्वनि की व्याख्या करते हुए कहा है कि उपमाध्वनि का अभिप्राय औपम्य है । व्यतिरेकध्वनि का व्यतिरेक और अपह्नुति ध्वनि का अभिप्राय है । 'निह्नुत्य' इत्यादि । वाच्यालंकार रूप उपमादि में 'औपम्य' का नामाकार का आधार नहीं अपितु परिनिष्ठित फल दृष्टिपथ पर आता है ।

<u>अर्थशक्तिमूलानुरणन रूप व्यंग्य ध्वनिभेद::-</u> इस भेद में अनुरणन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है । अर्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीति का अभिप्राय यह है कि इसमें शब्दपरावृत्ति सहत्व होता है । आचार्य मम्मट ने दो कारिकाओं में इसके बारह भेद स्वीकार किया है। सर्वप्रथम वे इसके तीन भेद स्वीकार करते हैं ।

(१) स्वतः सम्भवी (२) कविप्रौढोक्ति सिद्ध (३) कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ।
तीनों भेद वस्तुरूप एवं अलंकार रूप होकर इसके छः भेद हो जाते हैं । पुनश्च ये छः भेद प्रत्येक वस्तु या अलंकार को व्यंजित करते हैं, अर्थात् इनसे वस्तु या अलंकार व्यंग्य होता है । कुल मिलाकर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद हो जाते हैं ।१

वृत्तिभाग में इसे और स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है कि प्रथम प्रकार का अर्थ स्वतः सम्भवी इसलिए कहा जाता है कि उसका लोकजीवन में भी व्यवहार होता है और वह अर्थ भलीभाँति अनुभव किया जाता है । वह केवल कविकल्पनागम्य नहीं होता । द्वितीयप्रकार का अर्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध है, जिसमें कवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा द्वारा ही उस अर्थ की कल्पना करता है । वह कवि

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यंजकः सम्भवी स्वतः ।।
प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वालंकृतिर्वेति षड्भेदो सौ व्यनक्ति यत् ।।
वस्त्वलंकारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः । -- काव्यप्रकाश ४।३९,४०,४१ ।

ग्रहण करते हुए भी उसमें कुछ मौलिकता का सन्निवेश करते हैं। ध्वन्यालोक के अनुसार अर्थशक्त्युद्भव व्यंग्य अर्थ के दो भेद होते हैं। (१) कवि अथवा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ (२) स्वतः सम्भवी अर्थ। पुनः प्रत्येक में (१) वस्तुरूप व्यंग्य अर्थ और (२) अलंकार रूप व्यंग्य अर्थ, ये दो भेद हो जाते हैं।[१] किन्तु मम्मट कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ का पृथक् निर्देश करते हैं। इस प्रकार जहाँ ध्वनिकार का अस्पष्ट भेद विवेचन है वहीं मम्मट वैज्ञानिक विश्लेषण करके इसके सुस्पष्ट बारह भेद प्रस्तुत करते हैं, परवर्ती प्रायः सभी अलंकारिकों ने मम्मट को ही आदर्श का अनुमोदन किया है।

शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनिकाव्य केवल एक प्रकार का होता है। क्योंकि इसमें वाक्य व्यंजक होते हैं। इस भेद की पदव्यंजकता नहीं होती। मम्मट इसे 'वाक्येद्व्युत्थः' रूप में प्रस्तुत करते हैं। उसका आशय का पूर्व पक्ष के साथ प्रदीपकार स्पष्ट करते हैं। तदनुसार शब्दार्थोभयशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य केवल वाक्यगत ही होता है। किन्तु ऐसे भी स्थल दृष्टिपथ पर आते हैं, जहाँ उक्त सिद्धान्त व्याप्त नहीं होता। शिशुपालवध नामक महाकाव्य के १६वें सर्ग में शिशुपाल के दूत की कृष्ण के प्रति कथन रूप प्रबन्ध में भी उभयशक्तिमूलत्व है। 'दमघोषसुतेन कश्चन प्रतिशिष्टः प्रतिभावानथ' यहाँ से प्रारम्भ कर 'उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते' यहाँ तक प्रबन्ध में सन्धि वाक्यार्थ रूप में, विग्रह व्यंग्यार्थ रूप में प्रतिपादित किया गया है। अतः प्रबन्ध में भी शब्दार्थोभयमूलक ध्वनि सम्भव है, न कि वाक्य में ही।

इस पूर्वपक्ष के समाधान में प्रदीपकार का मत है कि उक्त प्रबन्ध स्थल पर भले ही प्रबन्धगत उभयशक्तिमूलत्व है, तथापि वहाँ ध्वनि का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि उक्त स्थल पर भले ही उभयशक्तिमूलध्वनि नहीं है, फिर भी अन्यत्र वाक्यभिन्न स्थल पर इसकी सम्भावना है तो ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा एक

---

(१) द्रष्टव्य है ध्वन्यालोक २।२२,२४,२५।

**ध्वनिभेदों का विस्तार:-** ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मुख्य रूप से आचार्यों ने ध्वनिकाव्य के अठारह भेद किए हैं। इन भेदों का और भी विस्तार मम्मट ने प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार कि शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनिकाव्य केवल एक प्रकार (वाक्यगत) होता है। शेष सत्रह भेद वाक्यगत एवं पदगत होकर चौंतीस भेद हो जाते हैं। वाक्यगत इस भेद को मिलाने से इनकी संख्या पैंतीस होती है। पुन: अर्थशक्त्युद्भव के बारहों भेद, प्रबन्ध में भी होने के कारण बारह भेद और हो जाते हैं। इन्हें मिलाकर ध्वनिकाव्य के सैंतालीस (४७) भेद होते हैं। इनमें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के (१) पदांश (२) वर्ण (३) रचना (४) प्रबन्धगत, ये चार भेद मिलाने से कुल संख्या ५१ (इक्यावन) हो जाती है।

**पद एवं वाक्यव्यंजकता:-** आचार्य मम्मट "पदे अप्यन्ये" इस कारिकांश से यह स्पष्ट किया है कि उभयशक्तिमूलध्वनि के अतिरिक्त शेष सत्रह भेदों की पदगतव्यंजकता भी होती है। 'अपि' का अभिप्राय है कि इनकी वाक्य व्यंजकता तो होती ही है, साथ ही पदों की स्वतंत्र व्यंजकता भी काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाती है। इसका अपना वैशिष्ट्य होता है। जैसे किसी सुन्दरी के नासिकादि अवयव विशेष में स्थित आभूषणविशेष उसके लावण्य को बढ़ाते हैं, ठीक उसी प्रकार पदप्रकाश्य व्यंग्य से वाक्य द्वारा व्यंग्यवाणी की शोभा बढ़ती है।१ ज्ञातव्य है कि इस विवेचन में भी मम्मट ध्वनिकार से अनुप्राणित हैं।२ इस प्रसंग में इन्होंने अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि से प्रारम्भ कर सत्रह भेदों के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिनमें पद की व्यंजकता से काव्य, ध्वनिकाव्य की कोटि को प्राप्त करता है। इनमें से कुछ पर टीकाकारों का विशेष योगदान है, अत: उनका विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है।

**पदव्यंग्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण:-**

"यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यंग्येन वाक्यव्यंग्यापि भारती भासते। काव्यप्रकाश पृष्ठ- १४६ ।

(२) एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥ ध्वन्यालोक ।

इस उदाहरण में माननीय मित्र, शत्रु तथा अनुकम्प्य शब्द क्रमशः आश्वस्त (विश्वासपात्र) नियन्त्रण के योग्य और स्नेहपात्र रूप अर्थों में संक्रान्त हो जाते हैं। यहाँ पर उद्योतकार का मत है कि अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य मित्रादि शब्द के द्वारा नायक का दृढ़ प्रकृतित्व व्यंग्य होता है।१ विवरणकार का कथन है कि विशिष्ट मित्रादि शब्द वस्त्वानुरणन होकर व्यंजक होता है। पूर्वलिखित अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के "वादमिस्वचिद" इत्यादि उदाहरण से, प्रस्तुत उदाहरण का भेद यह है कि प्रथम में एक वाक्यस्थ सभी पदों से व्यंग्य की प्रतीति होती है, अतः वह वाक्यव्यंजकता का उदाहरण है। किन्तु "वत्स मित्राणि" इत्यादि उदाहरण में, मित्रादि प्रत्येक पद व्यंजक होकर नायक के उचित व्यवहारादि को प्रकाशित करते हैं।२

संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि भेद का पद प्रकाश्यता:-

"भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः॥

उक्त पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है-- स्वर्गादि भोग तथा मोक्ष को दिलाने में समर्थ, नियमपूर्वक भलीभाँति उपदेश करने में तत्पर जो वेदशास्त्र (श्रेष्ठ आगम, सदागम) है, वह किसके मन में आनन्द प्रवाहित नहीं करता?

इसका व्यंग्यार्थ इस प्रकार है-- रत्यादि भोग तथा विरहादि दुःख का त्याग कराने में समर्थ, संकेतस्थान को भलीभाँति बताने में तत्पर जो प्रियतम का आगमन है, वह किस रमणी के हृदय में आनन्द का संचार नहीं करता?

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यैर्मित्रादिशब्दैराश्वासादियोग्यावस्थाविशिष्टलक्षणया व्यंजन द्वारा नायकस्य दृढप्रकृतिकत्वं व्यंग्यमिति। उ० १५४।

(२) अत्र हि मित्रादि प्रत्येकमेव पदं तत्तत्कं सत् नायकस्य उचितव्यवहारादिकं प्रकाशयतीति पदप्रकाश्योदाहरणत्वम्। एवमस्मादादौ तु व्यंग्यार्थोपस्थितिः सर्वैरेव पदैरिति तत्र वाक्यप्रकाशकत्वम्। -

-- विवरण पृष्ठ- ७८ ।

पर द्वितीय अर्थ भी कवि को मुख्यतया ही विवक्षित है। किन्तु उसका गोपन करने के लिए उसे अप्राकरणिक बना दिया गया है। और अप्रस्तुत अर्थ भी प्राकरणिक। इस तरह वाच्यार्थ का अप्राकरणिक हो जाने के कारण वह व्यंग्य बन गया है। "मुखना कुचा" का अभिप्राय है व्यंजनावृत्ति द्वारा।1

सुधासागरकार ने कतिपय पूर्वाचार्यों की आलोचना के साथ प्रसंग स्वाभिमत प्रस्तुत किया है। उनके विवेचन का संक्षेप इस प्रकार है-- प्रदीपकार ने "मुखना कुचा" को "अर्थव्यंजना" ग्रहण किया है जो ठीक नहीं है। क्योंकि "तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते" इस कारिका से अभिधा व्यापार का ही मुख्यत्व प्रतिपादित किया गया है। यह कथन प्रकृत व्यंजना का, अभिधामूला व्यंजना के सदृश परम्परया प्राधान्य की दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया है।2

वस्तुत: उद्योतकारादि टीकाकारों का व्याख्यान समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि अभिधावृत्ति से नायिका प्रकट कर नहीं सकती। अन्यथा रहस्य प्रकाशित हो जायेगा। गोपनीय वस्तु को उसी प्रकार रखने के लिए वाच्यार्थ भी अप्राकरणिक के समान हो गया है। केवल व्यंजनावृत्ति के द्वारा ही नायिका उपनायक के प्रति हर्ष प्रकट कर सकती है। उदाहरण में सदागम पद से ध्वनि की प्रतीति होती है। शब्द परिवृत्यसहत्व के कारण यह शब्दशक्तिमूलक ध्वनि है।

<u>प्रबन्धप्रकाश्यध्वनि::-</u> अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के कारक भेद प्रबन्ध प्रकाश्य भी होते हैं। इसे मम्मट "प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभू:" कहते हैं। प्रबन्ध का अभिप्राय काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों ने तथा अन्य आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है। प्रदीपकार के अनुसार प्रबन्ध से तात्पर्य है- परस्पर सम्बन्धित अनेक वाक्यों का समुदाय। यह समुदाय ग्रन्थरूप में भी हो सकता है और अवान्तर प्रकरण रूप में भी।3

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) उद्योत पृष्ठ- 120।

(2) सुधासागर पृष्ठ- 205।

(3) प्रबन्धश्च संगतिमानावाक्यसमुदाय:। स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तर प्रकरणरूपश्चेति। प्रदीप पृष्ठ- 158।

प्रदीपकार का यह व्याख्यान आचार्य अभिनवगुप्त के 'संगतिवाक्यसमुदाय: प्रबन्ध:' इस कथन का अनुसरण करता है। चक्रवर्ती के अनुसार वृत्तप्रकाशकवाक्य ही प्रबन्ध है।[१] कुछ आलंकारिक वाक्यविस्तार को ही प्रबन्ध कहते हैं।

प्रबन्ध प्रकाश्यता का जो निरूपण मम्मट ने किया है, उसका आधार ध्वनिकार का यह कारिका है --

'यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ।। ध्वन्यालोक ३।२

अर्थशक्तिमूलक प्रबन्धप्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण ध्वनिकार तथा मम्मट प्रभृति आचार्यों ने महाभारत के शान्ति पर्व गृध्रगोमायुसंवाद विषयक पद्य प्रस्तुत किया है। यहाँ 'अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् इत्यादि तथा ' न चेह जीवित: इत्यादि दो पद्यों में सर्वप्रथम गृध्र का कथन उन लोगों के प्रति है, जो मृत बालक को लेकर श्मशान आये हैं। गृध्र तर्क देकर यह प्रयत्न करता है कि बालक को छोड़कर अन्य लोग सूर्यास्त के पूर्व ही चले जायँ, जिससे कि वह बालक का भक्षण कर सके। यह सुनकर समागत रात्रि में अपनेको शृगाल कहता है कि अन्य लोग श्मशान से सूर्यास्त के बाद जायँ। टीकाकारों ने स्पष्ट किया है कि प्रथम दो पद्यों से गृध्र के वचन से स्वत: सम्भवी वाच्यार्थरूप वस्तु द्वारा पुरुषविसर्जन रूप वस्तु की व्यंजना होती है। द्वितीय पद्य द्वयात्मक गोमायुकृत प्रबन्ध में जनव्यावर्तनरूप वस्तु व्यंग्य होता है।

ज्ञातव्य है कि मम्मट ने प्रबन्ध विषयक अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के केवल एक भेद का उदाहरण प्रस्तुत किया है। शेष ११ भेदों का उदाहरण ग्रन्थगौरव के भय से नहीं प्रस्तुत किए गये। इस प्रकार प्रबन्धगत अर्थशक्ति मूलक ध्वनि के इन १२ भेदों को पूर्व विवेचित ३५ भेदों में मिलाकर अब तक मम्मट ने ४७ भेदों का कुल निरूपण किया है।

**रसादिध्वनि के चार अन्य भेद:-** मम्मट ने 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादय:'

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) वृत्तप्रकाशकं वाक्यं प्रबन्ध: ।' --- चक्रवर्ती ।

इस कारिकांश में चार और ध्वनिभेदों का समुन्मीलन किया है । तात्पर्य है कि रस, भाव, तदाभास, तथा भावशान्त्यादि असंलक्ष्यक्रमध्वनियाँ पदैकदेश, रचना वर्ण तथा प्रबन्ध में होती हैं । टीकाकारों ने इनमें से प्रत्येक को सुस्पष्ट किया है । पदैकदेश का अर्थ है, प्रकृति, प्रत्यय तथा उपसर्ग रूप अवयव में किसी के द्वारा भी ध्वनि का स्फुरण होना । बालबोधिनीकार का मत है कि यहाँ पर पदैकदेश उपलक्षणमात्र है। इससे पुरुष, प्रत्यय पूर्वनिपातादि का भी संग्रह हो जाता है । क्योंकि इसी के अन्तर्गत इन सब का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।१ प्रदीप तथा प्रभा टीका के अनुसार पुरुषप्रत्यय, पूर्वनिपातादि पदैकदेश के रूप होने के कारण उनकी गणना पदैकदेश से भिन्न नहीं की जाती । इसी दिशा में उद्योतकार ने कुछ और विचार किया है । तदनुसार प्रकृति भी धातुरूप तथा नामरूप दो प्रकार की होती है । उपसर्ग स्वतंत्र होकर अर्थद्योतक नहीं हो सकते । अतः इनकी गणना पदैकदेश में की जाती है ।२ प्रदीपकार के अनुसार रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि रूप पदैकदेश, रचना तथा वर्णों में भी होता है । कारिकागत 'अपि' का अभिप्राय है कि यह प्रबन्ध में भी होता है । पदगत तथा वाक्यगत ध्वनिभेद पदेऽप्यन्ये इस कारिकांश में मम्मट ने प्रतिपादित कर दिया है । पद द्विविध होता है सुबन्त तथा तिङन्त पदैकदेश अर्थात् नामधातु रूप प्रकृतिभाग, प्रत्ययैकदेश, सुप्तिङ् रूप विभक्तिभाग और उपसर्गादिरूप ।३

स्पष्ट है कि पदैकदेश की रसाभिव्यक्ति में अनेक अवान्तर भेद हो जाते हैं, जिनकी गणना भी मम्मट तथा उनके व्याख्याकारों ने एक ही माना है । ध्वनिकार तथा लोचनकार का भी यही मत था । विषयक्रम इस प्रकार है--

(१) रस की तिङन्त प्रत्ययरूप पदैकदेशव्यंग्यता ।

(२) रस की ,, ,, ,, ।

---

(१) पदैकदेशेत्युपलक्षणम् । पुरुषप्रत्ययपूर्वनिपातादयोऽपि गृहीतव्या इति लक्ष्यदर्शी वक्ष्यते इति बालबोधिन्याम् स्पष्टम् । बालबोधिनी- पृष्ठ- १६८ ।

(२) उद्योत पृष्ठ- १६६ ।

(३) प्रदीप पृष्ठ- १६६ ।

(३) रस का तिङ्सुप् प्रत्ययरूप पदैकदेशव्यंग्यता ।

(४) रस की ,, ,, ,, ।

(५) पदैकदेश रूप कर्मोविभक्ति प्रत्यय से रस की अभिव्यक्ति ।

(६) पदैकदेशभूत वचनात्मक प्रत्यय से रस की अभिव्यक्ति ।

(७) पदैकदेशभूत पुरुषविशेष के प्रयोग की रसाभिव्यंजकता ।

(८) पूर्वनिपात का भाव व्यंजकता ।

(९) विभक्तिविशेष की भावध्वनि व्यंजकता ।

(१०) प्रत्ययरूप पदैकदेश की रसाभिव्यंजकता ।

(११) उपसर्ग की रसाभिव्यंजकता ।

(१२) निपात की रसाभिव्यंजकता ।

(१३) उपर्युक्त व्यंजकों के समुदाय में रसाभिव्यंजकता ।

(१४) व्यंजक सामग्री की रसाभिव्यंजकता ।

उक्त १४ उदाहरणों में पहला तथा ग्यारहवाँ उदाहरण यहाँ विवेच्य है । क्योंकि इनमें टीकाकारों का कुछ मौलिक योगदान प्राप्त होता है ।

<u>रस की पदैकदेशरूप प्रकृतिव्यंग्यता का उदाहरण :-</u>

"रइकेलि हिअणिअंसणकरकिसलयरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥"[1]

छाया (रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥

इस उदाहरण में (जि धातु रूप प्रकृति) जयति का प्रयोग किया गया है, न कि शोभते इत्यादि का । यद्यपि शंकर के तीनों नेत्र मूंदने का कार्य समान है, तथापि चुम्बनरूप लौकिक व्यापार से जो तृतीय नेत्र बन्द किया गया है, उसके कारण तृतीय नेत्र की उत्कृष्टता व्यंग्य है ।

---

(१) काव्यप्रकाश पृष्ठ- १६६ ।

प्रस्तुत उदाहरण की संस्कृतछाया में टीकाकारों में मतभेद है। अधिकांश टीकाकार 'रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलय' इत्यादि छाया प्रस्तुत करते हैं। प्राय: इन सबके अनुसार विग्रह- 'रतिकेलौ हृतं निवसनं येन स चासौ' इत्यादि होगा। किन्तु चण्डीदास के अनुसार विग्रह 'रतिकेलिहृतनिवसनया (पार्वत्या) करकिसलयाभ्यां रुद्धं नयनकिसलयं यस्येति' - होगा। यह समासविग्रह तभी हो सकता है, जब कि छाया निवसन के स्थान पर निवसना हो। विवरणकार ने निवसना ही मानते हुए बताया है कि प्राकृत में समास के कारण निवसना का ह्रस्व होगया है।[1] किन्तु उद्योतकार तथा सुधासागरकार उक्त मत से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार निवसन छाया ही उचित है।[2] जहाँ तक उक्त पद्य में व्यंग्यार्थ का प्रश्न है, उसमें टीकाकारों में कोई उल्लेखनीय मतभेद नहीं है। प्राय: सभी मम्मट की उक्ति को एक ही रूप में स्पष्ट करते हैं। विवरणकार के अनुसार इस उदाहरण में जयति पद के प्रयोग से तृतीय नेत्र की उत्कृष्टता अभिव्यक्त होती है। चुम्बन के द्वारा नेत्रों का बन्द किया जाना रसाभिव्यक्ति का कारण है। यदि इसमें '[illegible]' पद का प्रयोग होता तो वह उत्कृष्टता सर्वथा वाच्य ही रहजाती।

<u>प्रत्यय प्रकृत्येकदेश की रसाभिव्यंजकता :-</u>

'भूयो भूय: सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं,
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंगवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्,
गाढोत्कण्ठाललितलुलितै रंगकैस्ताम्यतीति ॥

यह पद्य के तद्धितप्रत्यय रूप प्रकृति एकदेश द्वारा विप्रलम्भ श्रृंगार रस की व्यंजकता का उदाहरण है। 'अंगकै:' पद में अनुकम्पा अर्थ में 'क' तद्धित प्रत्यय है। इस प्रत्यय के द्वारा अनुकम्पा का आधिक्य अभिव्यक्त होता है। टीकाकारों ने यह भी स्पष्ट किया है कि अनुकम्पातिशय से मालती के अंगों की सुकुमारता प्रतीत होती है। सुकुमारता से दु:ख असहिष्णुता की व्यंजना होकर, विप्रलम्भ की उत्कृष्टता व्यंग्य होती है। अधिकांश टीकाकारों का यही मत है। मधुमतीकार अनुकम्पार्थ 'क' प्रत्यय न मानकर अल्पार्थ 'कन्' प्रत्यय मानते हैं।

---

१- प्राकृते समासेन निवसनेत्यस्य ह्रस्व:। विवरण पृष्ठ-८७
२- द्रष्टव्य है उद्योत पृष्ठ-२७० तथा सुधासागर पृष्ठ-२१८

प्रदीपकार का भी यही मत है। किन्तु उद्योत, सुधासागर आदि टीकाओं में इसका विरोध कर कहा गया है कि यदि उक्त व्याख्यान को स्वीकार किया जाय तो मम्मट के "अत्रानुकम्पापूर्व: कस्यचित्" इस कथन का स्वारस्य ही समाप्त हो जायेगा।

पदैकदेश प्रकाश्य व्यंग्य के उदाहरण के पश्चात् मम्मट ने वर्ण, रचना तथा प्रबन्ध, नाटकादि का व्यंजकत्व का कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। कारण यह कि वर्ण तथा रचना का व्यंजकत्व उन्होंने आगे गुणस्वरूप के निरूपण के अवसर पर किया है। इस प्रकार से पहले गिनाये गये ४७ भेदों के साथ, ध्वनिकाव्य के ये चार भेद मिलकर कुल ५१ भेद हो जाते हैं। इसी को मम्मट "भेदास्तदेकपंचाशत्" कहते हैं।

ध्वनि के उक्त ५१ भेद शुद्ध ध्वनि भेद हैं। उनमें प्रत्येक का दूसरे सभी भेदों के साथ सम्मिश्रण होता है और संख्या बढ़कर ५१ गुणित ५१ हो जाती है। पुन: प्रत्येक के संशयास्पदत्व संकर, अनुग्राह्यानुग्राहक रूप संकर, व्यंजकानुप्रवेश रूप संकर तथा संसृष्टि ये चार और भेद हो जाते हैं तथा कुल संख्या ५१ गुणित ५१ गुणित ४ बराबर-१०४०४ हो जाती है। शुद्ध ५१ भेदों को मिला देने से ध्वनि-भेदों की कुल संख्या १०४०४ धन ५१ बराबर-१०४५५ है।

ध्वनिभेदों की गणना पर विचार ध्वनिकार से ही चला आ रहा है। किन्तु वे ध्वनिभेदों के प्रभेद तथा प्रभेद के भी भेदों की संख्या की गणना सामर्थ्य से परे बताते हैं।१ लोचनकार इस दिशा में और भी प्रयास करते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम ३५ ध्वनिभेदों को गिनाया, जो इस प्रकार हैं-- अविवक्षित वाच्यध्वनि के चार भेद, विवक्षितान्यपरवाच्य-असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के वर्ण, पद, वाक्य, संघटना, प्रबन्ध प्रकाश्य पाँच भेद। संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य-ध्वनि के शब्दशक्तिमूलक पद प्रकाश्य २ भेद और अर्थशक्ति मूलक के २४ भेद। ये सब मिलकर ३५ भेद हो जाते हैं।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) एवं ध्वने: प्रभेदा: प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभि:।। ध्वन्यालोक ३।४४।

# तृतीय - अध्याय

-- [illegible] अध्याय ::-

## -: गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन ::-

**गुणीभूत व्यंग्यकाव्य ::-** प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है कि मम्मट ने काव्य के तीन भेद उत्तम, मध्यम तथा अवर [illegible] माना है। उत्तम काव्य ध्वनिकाव्य है, जिसका विवेचन पिछले अध्याय में किया गया है। मध्यमकाव्य गुणीभूत व्यंग्यकाव्य है, जिसके लक्षण में बताया जा चुका है कि जहाँ पर व्यंग्यार्थ का वैशिष्ट्य उत्कृष्ट न हो वहाँ गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है। [illegible] के पंचम उल्लास में मम्मट ने उदाहरण सहित गुणीभूत व्यंग्य के भेदों का मामांसा [illegible] है। [illegible] व्यंजना प्रतिष्ठापना हेतु [illegible] विचार किया है। [illegible] प्रस्तुत अध्याय में उक्त दोनों [illegible] का स्वरूप मम्मट व उनके टीकाकारों की दृष्टि से विवेच्य है।

**गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद ::-** आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्यकाव्य के आठ भेदों का गणना [illegible] कारिका में किया है जिनका क्रम इस प्रकार है --
(१) अगूढ़ (२) अपरस्यांग (३) वाच्यासिद्ध्यंग (४) अस्फुट (५) संदिग्धप्राधान्य (६) तुल्यप्राधान्य (७) काक्वाक्षिप्त (८) असुन्दर। इन आठों भेदों का स्वरूप प्रस्तुत व्यंग्य पर आश्रित है। आठों को अगूढ़व्यंग्य इत्यादि रूप से पढ़ना चाहिए। स्पष्ट है कि व्यंग्य कहीं पर अगूढ़ रूप में कहीं पर अपरांग इत्यादि रूप में रहता है, जिससे कि उसका वाच्य की अपेक्षा गुणीभाव रहता है। उक्त भेदों का यही रहस्य है।

इन भेदों का मम्मट के पूर्व ध्वनिकार ने तथा लोचनकार ने यत्र-तत्र निर्देश किया है। किन्तु उनका विवेचनात्मक [illegible] अस्त-व्यस्त रूप में है। यह श्रेय मम्मट को है कि उन्होंने उक्त भेदों को संगृहीत कर सुसम्बद्ध एवं सुसंगठित वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया। मम्मट की सरणि पर ही परवर्ती विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों

कुछ व्याख्याकारों के अनुसार अगूढव्यंग्य रूप गुणीभूत व्यंग्य का स्फुरण ध्वनिकार की उन पंक्तियों में है, जिनमें कि वे व्यंग्यार्थ को समझाने के लिए "मंचाः क्रोशन्ति", "गिरिः शाश्वतिकः" इत्यादि उदाहरणों का स्वरूप बताते हैं। तदनुसार इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थकृत चारुत्व न होने पर भी प्रसिद्धिवश उनका प्रयोग कवि करते आये हैं।[1] इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लोचनकार का कथन है कि प्रसिद्धि से तात्पर्य है प्रयोजन की अनिगूढता।[2]

अगूढव्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य के मम्मट तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनमें से प्रथम उदाहरण इस प्रकार है--

"यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि,
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥

इसके सन्दर्भ के विषय में टीकाकारों में मतभेद है। एक मत के अनुसार कीचक के द्वारा किये गये तिरस्कार का निवेदन करने वाली द्रौपदी के प्रति बृहन्नला रूपधारी अर्जुन की यह उक्ति है।[3] अन्यमत के अनुसार बृहन्नलारूपधारी अर्जुन से किसी ने यह कहा कि तुम अपनी उन्नति के प्रति प्रयत्नशील क्यों नहीं हो? इसके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है।[4] प्रथम सन्दर्भ के अनुसार अर्थ द्रौपदी से कीचकविषयक पराभव का निवेदन अर्जुन के कानों में तप्त सुई के समान प्रविष्ट हुआ और दूसरे के अनुसार अर्जुन से पराजित उनके शत्रु अपने कानों में स्वर्णशलाका डाल लिया करते थे। अधिकांश टीकाकार प्रथम अर्थ का ही समर्थन करते हैं।

---

(१) यत्रापि व्यंग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तित-व्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। ध्वन्यालोक १.१४.

(२) प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यार्थः उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं प्रकाशमनिगूढतां निस्स्पन्दव्य-पदेशात् इति भावः। ध्वन्यालोक १.१४.

(३) सुधासागर पृष्ठ-२३६।

(४) उद्योत - पृष्ठ- १८८।

इस उदाहरण में "जीवन्" इस अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य पद का व्यंग्य अगूढ है। क्योंकि जीवित व्यक्ति में जीवनाभाव नहीं हो सकता । अत: जीवनपद श्लाघ्य जीवनरूप अर्थान्तर में संक्रमित होता है। अत्यधिक अनुताप यहाँ व्यंग्य है, जो वाच्य के समान ही अत्यन्त स्फुट है । ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत भेद के अन्तर्गत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की अगूढता तथा अर्थशक्तिमूल अनुरणरूप व्यंग्य की अगूढता का एक-एक उदाहरण मम्मट ने और दिया है ।

(२) अपरांगव्यंग्य गुणीभूतव्यंग्य::- अपरांग का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है कि जहाँ रसादि या अनुरणनरूप व्यंग्य अन्य वाक्यतात्पर्यभूत प्रधानरूप से स्थित रसादि के या वाच्यार्थ के उपकारकरूप में स्थित हो, वहाँ व्यंग्य के अपरांग होने के कारण काव्य गुणीभूतव्यंग्य की कोटि में आ जाता है ।१ इसे स्पष्ट करते हुए अनेक टीकाकारों का कथन है कि रसादि शब्द में 'आदि' से भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का भी ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार से यहाँ अपरशब्द का अर्थ यहाँ असंलक्ष्यक्रम, संलक्ष्यक्रम तथा वाच्यवस्तुरूप त्रिविध है ।

मम्मट के कथन को टीकाकारों ने दो प्रकारसे स्पष्ट किया है । दोनों का सार उद्योतकार इस प्रकार बताते हैं-- प्राचीनों के अनुसार रसादि का अलक्ष्यक्रम तथा वाच्य का लक्ष्यक्रम व्यंग्य उपस्कारक होता है, इस यथासंख्य से मम्मट की उक्ति का अन्वय करना चाहिए ।२ दूसरे आचार्यों के अनुसार दोनों, दोनों के प्रति गुणीभाव में हो सकते हैं । जैसे रसादि, रसादि एवं वाच्य दोनों का उपस्करण कर सकता है। क्योंकि तदिदमरण्यं यत्र दशरथवचनानुपालनव्यसनी रामो रक्षांसि जिगाय " इत्यादि में रामगतवीररस का वाच्यारण्योत्कर्षकत्व रूप में सन्निवेश सम्भव है । अत: 'महतां चोपलक्षणम्' इत्यादि द उदात्तालंकार के लक्षण में प्रधान

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

~~(१) प्रसिद्धिर्वा प्रभाजनस्येत्यर्थ: उदात्तेनादिरूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निमूढतां विधानवद- वैकल्प इति भाव: । ध्वन्यालोक १.१४ ।~~

१- काव्यप्रकाश पृष्ठ १२८

~~(२) रसादेरलक्ष्यक्रमो वाच्यस्य लक्ष्यक्रम इति यथासंख्येनान्वय इति प्रांच: - उद्योत पृष्ठ-१६० ।~~

२- काव्यप्रकाश पृष्ठ १२८

रसादि के भी उपलक्षण (वर्णनीय वस्तु) का अंगभाव सम्भव है ।१

वस्तुतः यह मत समीचीन नहीं है। क्योंकि उक्त उदात्तालंकार के उदाहरण में वीररस अंगरूप में नहीं है । इसको स्वतः मम्मट ने उक्त सन्दर्भ में कहा दिया है । यदि मम्मट को किसी प्रकार से भी रस वाच्यांग रूप से स्वीकृत होता तो उक्त अपरांग व्यंग्य के अनेक उदाहरणों में से इसका भी एक उदाहरण अवश्य देते । किन्तु ऐसा न करने के कारण उद्योतकारादि के मत से उपर्युक्त यथासंख्य अन्वयरूप अर्थ-समीचीन है ।

अपरांगव्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य के मम्मट ने आठ उदाहरण प्रस्तुत किया है । सभी एक विशेष अभिप्राय की दृष्टि में रखकर दिये गये हैं । इनका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा । यहाँ एक रस की अन्यरस के प्रति उपस्करण रूप उदाहरण द्रष्टव्य है --

> अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
> नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ।।

प्राचीनों के अनुसार यह रसवदलंकार का उदाहरण है । क्योंकि इसका प्रधान रस करुण है । शृंगाररस उसका उपस्करण करता प्रतीत हो रहा है । यहाँ सिद्धान्ततः मम्मट के गुणीभूत व्यंग्य के उक्त भेद का है । अतः इनके अनुसार यह अपरांगव्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है । उद्योतकार का कथन है कि करुणरस की दृष्टि से तो इस काव्य में ध्वनि है किन्तु शृंगार की दृष्टि से यह गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है । शोक के आवेश के कारण शृंगार यहाँ अपुष्ट रहता है ।२

---

(१) अन्ये तु उदात्तमिदमव्यंग्यम् । न च रसस्य वाच्यांगत्वासम्भवः । तदिदमरण्यं यत्र दशरथस्यापी रामभद्रोऽस्य वाच्यारण्योत्कर्षकत्वेन तत्सम्भवात् । अतएव महतां चोपलक्षणम् इत्युदात्तालंकारे महतां रसादीनाम् अप्युपलक्षणांगभाव इति व्याचख्युः । उद्योत पृष्ठ- १६१ ।

(२) एवं च करुणरसाश्रयस्य काव्यस्य ध्वनित्वम् । शृंगारस्याभिप्रायेण गुणीभूतव्यंग्यत्वमिति बोध्यम्। शोकावेशादेव शृंगारोऽपुष्टः पृष्ठ १६१ ।

इस भेद के सात और उदाहरण मम्मट ने दिया है, जिनका विषयक्रम इस प्रकार है --

(१) रस का भाव के प्रति अंगत्व । यह भी प्राचीनों का रसवदलंकार है । "कैलासालयभाललोचनरुचा" इत्यादि इसका उदाहरण मम्मट ने दिया है । ध्वनिकार अथवा परवर्ती विश्वनाथ इत्यादि आचार्यों ने इस उदाहरण का उल्लेख नहीं किया है ।

(२) एक भाव का अन्य भाव के प्रति अंगत्व । यही प्राचीनों का प्रेयस् अलंकार है ।

(३) रसाभास एवं भावाभास का एक भाव के प्रति अंगत्व में स्थिति । यह प्राचीन आलंकारिकों का 'ऊर्जस्वि' अलंकार है ।

(४) भावशान्ति का भाव के प्रति अंगत्व । यही प्राचीनों का समाहित अलंकार है ।

(५) भावोदय का भाव के प्रति अंगत्व जिसे प्राचीन आलंकारिक भावोदय अलंकार मानते आये हैं ।

(६) भावसन्धि का भाव के प्रति अंगत्व । यही प्राचीनों का भावसन्धि अलंकार है ।

(७) भावशबलता की भाव के प्रति अंगत्व में स्थिति यह प्राचीनों का भावशबलता अलंकार है । "पश्येत् कश्चित् चल चपल रे" इत्यादि इसका उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है जिसे विश्वनाथ ने भी ग्रहण किया है ।

इन आठ उपभेदों के उदाहरणों में केवल प्रथम उदाहरण ध्वन्यालोक में प्राप्त होता है । किन्तु परवर्ती विश्वनाथ अप्पयदीक्षित इत्यादि आचार्यों ने मम्मट द्वारा स्वीकृत उदाहरणों को यथावसर ग्रहण किया है ।

आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत भेद के अन्तर्गत इतने उदाहरण क्यों प्रस्तुत किया यह एक विचारणीय विषय है । तथ्य यह है कि प्राचीनों ने रसादि के गुणीभाव की दशा में 'रसवदादि' चार अलंकार माना है । साथ ही भावसन्धि भावोदय, तथा भावशबलत्व इन तीनों की अलंकारता किसी ने प्रस्फुटित नहीं किया था, तथापि रसवदादि के समान इनका भी अस्तित्व हो सकता है । इसी दृष्टि से

मम्मट ने इन तीनों की भी उद्भावना की ।[1] अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने इन तीनों को अलंकारता स्वीकार की किया ।[2]

मम्मट के टीकाकारों का कथन है कि प्राचीनों के अनुरोध से ही यहाँ रसवदादि अलंकारों का नाम निर्देश किया गया है । अन्यथा मम्मट की दृष्टि में रसवदादि अलंकार की कोई सत्ता नहीं है । वे तो व्यंग्य की प्रधानता में ध्वनिकाव्य तथा उसके गुणीभाव होनेपर गुणीभूत व्यंग्य स्वीकार करते हैं ।

यहाँ पर मम्मट यह भी कह देते हैं कि ऐसे स्थल सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं, जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य दोनों संकर या संसृष्टि रूप में विद्यमान रहते हैं । काव्य में कहीं दोनों के भेद-प्रभेद में से कोई न कोई अवश्य आ जाता है । इस दशा में "प्राधान्येन व्यपदेशा: भवन्ति" इस सिद्धान्त से उस काव्य में जिसके चमत्कार का आधिक्य सहृदयों को प्रतीत हो उसी का भेद मानना चाहिए ।[3] इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारों का कथन है कि "अयं स रशनोत्कर्षी" इत्यादि उदाहरण करुण रस का है । श्रृंगाररस करुण रस का ही उपस्करण कर रहा है और इसी उपस्करण में ही चमत्कार का आतिशय्य विद्यमान होने के कारण उक्त उदाहरण भी गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के अन्तर्गत मानना चाहिए ।

अपरांगव्यंग्य के आठ उदाहरणों में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के गुणीभाव मुख्यरूप से स्वरूप प्रदर्शित किये गये हैं । इनके अतिरिक्त मम्मट ने दो और उदाहरणों से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य को वाच्य के प्रति अंगता दिखाई है ।

**वाच्यसिद्ध्यंग :-** गुणीभूत व्यंग्य का यह तीसरा भेद है । इसका विग्रह टीकाकार इस प्रकार करते हैं-- 'वाच्यार्थस्य सिद्धेः अंगम् निदानम्' अर्थात् जहाँ पर वाच्यार्थ की

---

(१) इमे च रसवदाद्यलंकाराः । यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालंकारतया उक्तानि, तथापि कश्चिद्ब्रूयात् इत्येवमुक्तम् । काव्य प्रकाश- पृष्ठ-२०१ ।

(२) रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धने रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि समाहितानि भावोदयो भावसन्धिभावशबलता च पृथगलंकाराः । अलंकारसर्वस्व ।

(३) काव्यप्रकाश पृष्ठ-२०२ ।

की सिद्धि व्यंग्य पर आश्रित रहता है, वहाँ उक्त भेद होता है। इसके दो भेद मम्मट ने दिये हैं एक वक्तृगतपदवाच्यसिद्ध्यङ्ग (२) भिन्नवक्तृगतपदवाच्यसिद्ध्यंग। प्रथम का उदाहरण इस प्रकार है --

"भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥"

यहाँ पर विषशब्द का व्यंग्यार्थ हलाहल, भुजगरूप वाच्यार्थ की सिद्धि करता है - यह मम्मट का कथन है। उद्योतकार के स्पष्टीकरण के अनुसार विष पद के जल, गरल इत्यादि अनेक अर्थ हैं। प्रकरणादिवश उसका अभिधा जल अर्थ में नियंत्रित हो जाने पर उसके द्वारा गरल अर्थ व्यंग्य होता है। विष से गरलरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के साथ जल से उसका अभेद ग्रहण होता है और अपत्य से अभिन्न जल है, ऐसा बोध होने लगता है। इस ज्ञान से वह भुजग से अभिन्न जलद से ही उत्पन्न हो सकता है - इस प्रकार "जलद एव भुजगः" इस वाच्यार्थरूपक की सिद्धि हो जाती है। तभी भ्रमि, अरति इत्यादि कार्य उत्पन्न हो सकते हैं। यदि यहाँ विष का व्यंग्यार्थ गरल न होता तो भुजगरूप जलद से उत्पन्न जल यह अर्थ होता और भ्रमि इत्यादि कार्य इससे सिद्ध हो न हो पाते।

अन्यभेद:-

गुणीभूत व्यंग्य का चौथा भेद अस्फुट व्यंग्य है। जहाँ पर व्यंग्यार्थ इतना क्लिष्ट हो कि उसकी प्रतीति सहृदयों को भी कठिनाई से हो तो वह काव्य भी गुणीभूतव्यंग्य के क्षेत्र में आ जाता है। ध्वनिकार का कथन है कि जहाँ पर व्यंग्य की प्रतीति स्फुट नहीं होती वह ध्वनिकाव्य का विषय नहीं है।[१] लोचनकार इसे ही गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं और यही मम्मट के विवेचन का आधार है।

सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य वहाँ होता है, जहाँ पर यह सन्देह हो कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ। जैसे —

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येन अप्रतीतिः स नाम माभूत् ध्वनेर्विषयः - - - - व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति।

"हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

इसमें चूमना चाहा, इस रूप में व्यंग्यार्थ प्रधान है मैंने चूमा था इस रूप में वाच्यार्थ - इसका सन्देह सहृदय को बना रहता है। क्योंकि दोनों अपने स्थल पर उत्कर्षाधायक हैं। अतिशयविच्छित्ति व्यंग्यार्थ में है अथवा वाच्यार्थ में इसका निर्णय नहीं हो पाता।

विच्छित्ति के स्फुरण में जहाँ पर वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों का समकक्ष सामर्थ्य विद्यमान रहता है, वहाँ पर तुल्यप्राधान्यरूप गुणीभूत व्यंग्य होता है। इस भेद का संकेत ध्वनिकार तथा लोचनकार भी करते हैं।[१] जहाँ पर काकु नामक ध्वनि-विकार के द्वारा व्यंग्यार्थ का झटिति प्रतीति हो जाता है, वहाँ काक्वाक्षिप्तव्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य होता है। टीकाकारों के अनुसार जहाँ काकु के द्वारा अविलम्ब व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है किन्तु जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति विलम्ब से होती है वहाँ ध्वनिकाव्य ही माना जायेगा। इसी प्रकार असुन्दर व्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य का भेद वहाँ होता है जहाँ पर व्यंग्यार्थ स्वरूप से ही वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारी होता है। यथा--

"वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥

इसमें संकेत देने वाला कोई उपनायक लताकुंज में प्रविष्ट हुआ है। इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा 'अंगव्याकुल हो रहे हैं' यह वाच्यार्थ ही अधिक विच्छित्तिशाली है टीकाकार भी और स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि यद्यपि यहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है तथापि वाच्यार्थ से ही विप्रलम्भ शृंगार पुष्ट हो जाता है। क्योंकि अंगों की व्याकुलता

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) - - - -हेतु काकुप्रकारेषु न ध्वनि व्यवहारः। सद्भावेऽपि व्यंग्यस्य अप्राधान्ये विलम्बप्रतीतौ, वाच्येन समप्राधान्ये अस्फुटप्राधान्ये च। लोचन - १

उत्कण्ठादिविषय का बोध कराता है। अतः चमत्कार वाच्यार्थ में ही आश्रित है।

गुणीभूतव्यंग्य के कुल भेद::- आचार्य मम्मट का कथन है कि ध्वनि के भेद प्रभेदों के समान ही इसके भी भेद प्रभेदों की संख्या यथायोग जानना चाहिए। यथायोग से अभिप्राय है कि जहाँ पर वस्तुमात्र के द्वारा अलंकार व्यंजित होता है, वहाँ ध्वनि ही माना जायेगा न कि गुणीभूतव्यंग्य। प्रमाण में मम्मट ध्वनिकार का यह कारिका उद्धृत करते हैं —

> "व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ।
> ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ।।

मम्मट इतना ही कहकर मौन हो जाते हैं। ध्वनि के विविध भेदों के समान इसके भी भेदों की संख्या जानना आवश्यक था। विवरणकार ने इस दिशा में कुछ प्रयास किया है। उनके भेदगणना विषयक विवेचन का संक्षेप इस प्रकार है - गुणीभूतव्यंग्य के केवल आठ भेद ही न मानना चाहिए। यथासम्भव रसादिक वाच्यार्थ की दृष्टि से भी इसके भेद प्रभेद होते जाते हैं। ध्वनिकार की मान्यता के अनुसार जहाँ वस्तुमात्र से अलंकार व्यंजित होता है केवल वहाँ गुणीभूतव्यंग्य नहीं होता। क्यों कि वहाँपर काव्य का व्यवहार केवल अलंकार पर ही आश्रित रहता है। इस प्रकार से ध्वनि के कुल ५१ भेदों में से वस्तु द्वारा व्यंजित अलंकारवत ६ भेद स्वतः सम्भवी कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु व्यंग्य तथा अलंकारों के पद वाक्य तथा प्रबन्धगत ये छै तान तीन भेद कम हो जाते हैं, तथा गुणीभूतव्यंग्य अष्टविधि होने के कारण ४२-६ = ४२ तथा ४२ गुणित ८ = ३३६ कुल भेद होते हैं। संसृष्टि तथा संकरादि चार भेद होने से ३३६ गुणित ३३६ गुणित ४ = ४५१५८४ और इनमें ३३६ कुल भेद जोड़ने से ४५१९२० भेद हो जाते हैं।

गुणीभूतव्यंग्य तथा ध्वनि के परस्पर मिश्रण से भेद-प्रभेद::- पिछले अध्याय में गिनाये गये ध्वनि के समस्त भेद-प्रभेद, रसवदादि अलंकार तथा उपमादि वाच्यालंकार से युक्त

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है विवरण - पृष्ठ- १०८-९ ।

गुणीभूतव्यंग्य के भेदप्रभेद के साथ संसृष्टि एवं तीन प्रकार के संकर के साथ मिलकर भेदों की संख्या और भी बढ़ जाती है। मम्मट की एतद्विषयक कारिका इस प्रकार है —

"सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः"

"सालंकारैः" पद का स्पष्टीकरण वृत्तिभाग में इस प्रकार है - "तैरेवालंकारैः अलंकारयुक्तैश्च तैः।" टीकाकारों ने मम्मट का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहाँ पर दो भिन्न अर्थवाले सालंकार पदों का एकशेष है - सालंकाराश्च सालंकाराश्चेति सालंकाराः तैः। एक सालंकार में अलंकार शब्द का भाव अर्थात् अलंकृत (शोभा) रहित अर्थात् रसवदादि अलंकार रूप में विद्यमान जो गुणीभूतव्यंग्य है। द्वितीयसालंकार शब्द से अभिप्राय है उपमादि अर्थात् उपमादि वाच्यालंकारों सहित। इसमें उन गुणीभूत व्यंग्यों का ग्रहण होता है जिनमें उपमादि अलंकार वाच्य है।

यहाँ मम्मट का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि का रसवदादि अलंकार रूप में स्थित तथा उपमादि वाच्यालंकारों सहित वस्तुरूप गुणीभूतव्यंग्य के साथ संसृष्टि (एक प्रकार) तथा संकर (तीन प्रकार) रूप में मिश्रण होता है। अपनी मान्यता की मम्मट ने ध्वनिकार की "स गुणीभूतव्यंग्यैः" इत्यादि कारिका से पुष्ट किया है।

उक्त विवेचन का सार प्रस्तुत करते हुए मम्मट स्वयं कह देते हैं कि इस प्रकार ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण से इन भेदों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। जैसे केवल शृंगार के ही भेद तथा उसके अवान्तर भेदों की गणना करने पर अनन्त संख्या हो जाती है। फिर तो सब रसादिकों के भेद-प्रभेद की गणना करना असम्भव सा हो है। वस्तुतः मम्मट का यह कथन भी ध्वनिकार की ही दिशा-निर्देश के अनुसार है। स्वयं ध्वनिकार ने इन पंक्तियों में ध्वनि भेदों का बाहुल्य स्वीकार किया है। —

"तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यंग्येन वाच्यालंकारैश्च संकरसंसृष्टिव्यवस्थायां बहुप्रभेदता दृश्यते। ध्व० ३-४४।

<u>संकलन प्रक्रिया से ध्वनि विस्तार::-</u> ऊपर गुणनप्रक्रिया से ध्वनिविस्तार प्रस्तुत किया गया है, जिसका फलितार्थ यह रहा कि ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य के भेद अनन्त हैं। व्यंजना की प्रतिष्ठापना के पूर्व मम्मट ने संकलन प्रक्रिया से भी इनके भेदों का स्वरूप प्रस्तुत किया है। तदनुसार व्यंग्य के त्रिरूप होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य एवं ध्वनि के तीन भेद होते हैं। तीनों का भेद प्रदर्शकतत्व व्यंग्य का वाच्यसह होना या न होना है। अर्थात् एक कोटि के व्यंग्य वाच्यसह होते हैं और दूसरी कोटि के व्यंग्य वाच्य सह नहीं होते। वाच्यसह से अभिप्राय है कि कुछ व्यंग्य शब्दाभिधेय अर्थात् वाच्य भी हो सकते हैं। वाच्यसह व्यंग्य द्विविध होता है (१) अविच्छित्र और (२) विच्छित्र। इनमें प्रथम को वस्तुमात्र तथा द्वितीय को अलंकार रूप कहा जाता है। वाच्यासह व्यंग्य रसादि है, जो कि कभी भी वाच्य नहीं हो सकते। जिसे अलंकार रूप व्यंग्य से सम्बोधित किया गया है, वह वस्तुत: अलंकार्य है। किन्तु ब्राह्मणश्रमणन्याय से उसे अलंकाररूप कहा गया है।

मम्मट के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए विभिन्न व्याख्याकारों ने बताया है कि वस्तुत: काव्य का मुख्य तत्व आस्वाद है, जिसके कारण सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। अलंकारादि केवल उसके शोभावर्धक तत्व हैं। अलंकार का अर्थ ही है - अलंक्रियते अनेन इति अलंकार: अर्थात् जिसके द्वारा उसकी शोभा बढ़ती है वे ही अलंकार हैं और मुख्यतत्व अलंकार्य। वह प्रधान है तथा अलंकार गौण। स्पष्ट है कि जहाँ व्यंजना से प्रतीत होने वाले उपमादि अलंकार प्रधान होते हैं। चाहे वे इस स्थिति में अलंकार्य हैं, उन्हें अलंकार कहना उचित नहीं है। वस्तुत: वहाँपर उन्हें जो अलंकार कहा गया है वह केवल लोकव्यवहार सिद्ध ब्राह्मण श्रमणन्याय से। जैसे कोई ब्राह्मण बाद में श्रमण (बौद्धसन्यासी) हो जाता है तो वह उस समय ब्राह्मण नहीं रहता। तथापि भूतदृष्टि से उसे ब्राह्मण श्रमण कह दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार उपमादि अलंकार व्यंग्यावस्था में अलंकार्य हैं तथापि भूतदृष्टि से उन्हें अलंकार कह दिया जाता है।

सुधासागरकार ने इस सम्बन्ध में कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किया है। तदनुसार अनन्त ध्वनिव्यापारयोगी ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य रूप काव्य में दो को

अनुगत उपाधि से संकलन करने पर केवल तीन भेद होते हैं। संकलन का अर्थ है संग्रह या संक्षेप। संकलन तथा व्यवकलन का व्यवहार वेदान्तियों के समष्टि-व्यष्टि व्यवहार के समान ज्योतिष शास्त्र के गणित ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। यहाँ केवल तीन भेदों में जो विभाजन है, वह व्यंजना का इतना प्रतिपादन के लिए है। यदि अधिकतर संक्षिप्त किया जाय तो अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य रूप दो भेद हो सकते हैं। यदि इन्हें अधिकतम संक्षिप्त किया जाय तो एक ही भेद रह जा सकता है। जिसका स्वरूप है 'सर्वोत्तम निर्विकल्प स्फोटात्मक व्यंग्य'। यही सर्वोत्तम अद्वितीय ब्रह्मवादियों के मत में श्रुतिप्रतिपाद्य सच्चिदानन्द रूप सगुण तथा निर्गुण से विलक्षण वस्तु है। इसी दृष्टि से मम्मट ने संकलन से विराट् रूप में व्यंग्य इत्यादि व्यंजना द्वारा स्फुरित किया है।(१)

<u>रसभावादि की अवाच्यता:-</u> उपर्युक्त व्याख्या आदि से अभिप्राय है कि रस भावादि कभी भी वाच्य अथवा अभिधावृत्ति प्रतिपाद्य नहीं हो सकते। 'स्वप्नेऽपि न वाच्यः' इस कथन से मम्मट इसकी अवाच्यता प्रदर्शित करते हैं। अन्वय-व्यतिरेक से ज्ञात होगा कि रसादि अभिधया प्रतिपाद्य नहीं होते। यदि अभिधा प्रतिपाद्य होते तो श्रृंगारादि पदों के उच्चारण से रसानुभूति अवश्य होती। किन्तु विभावादि के अभाव में रसचर्वणा कदापि नहीं होता। अपितु विभावादि की संयोजना में रस श्रृंगारादि पदों का प्रयोग न होने पर भी अनुभूत होता है। इससे स्पष्ट है कि विभावादि के प्रयोग से रसानुभव होता है और उसके अप्रयोग से नहीं। इस सन्दर्भ में यही अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त है। अतः विभावादि संयोजना ही रसाभिव्यक्ति का साधन है। तथा रस व्यंजनावृत्ति से ही अभिव्यक्त होता है।

इसी प्रकार रसादि लक्षणावृत्ति द्वारा भी प्रतीत नहीं हो सकता। क्योंकि लक्षणा के तीन हेतु हैं - मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़िया प्रयोजन। इसमें विभावादि मुख्यार्थ का बाध नहीं होता। विभावादि का रसादि के साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भावरूप सम्बन्ध भी सम्भव नहीं। साथ ही रूढ़ि या प्रयोजन भी नहीं

---

(१) द्रष्टव्य है सुधासागर पृष्ठ-२६०।

रहेगा। क्योंकि रसानुभव ही परम प्रयोजन है। निष्कर्ष यह कि व्यंग्यार्थ लक्षणावृत्ति प्रतिपाद्य भी नहीं होगा।

ज्ञातव्य है कि मम्मट का यह कथन ध्वनिकार तथा लोचनकार के विचारों का एक विस्तार मात्र है। ध्वनिकार ने मुख्यार्थबाधादिशब्दव्यापार विषय इति वाच्यात् विभिन्न एवं – कहते हैं। जब कि लोचनकार 'वस्तु स्वप्नेऽपि न शब्दवाच्यः' इत्यादि रूप से प्रदर्शित करते हैं। इन दोनों के उल्लेख को मम्मट ने विस्तार प्रदान किया है।

लक्षणामूलध्वनि में व्यंजना अनिवार्य :- मम्मट ने पूरी आस्था के साथ सभी ध्वनिभेदों में व्यंजना को अपरिहार्य बताया है। ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृत रूप लक्षणामूलक व्यंग्य में व्यंजना व्यापार अनिवार्य है इसी तथ्य को पुष्ट करना यहाँ पर मम्मट का प्रधान लक्ष्य है। क्योंकि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की व्यंजना प्रतिपादकता बता ही चुके हैं। शेष तीन में अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृत ये दो भेद लक्षणामूलक हैं। मम्मट का कथन है कि इनमें जो वस्तुमात्र व्यंग्य होता है। उसके बिना लक्षणा सम्भव ही नहीं है। इसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। मम्मट के इस कथन की संगति प्रकट करते हुए बताया गया है कि 'त्वामस्मि वच्मि विदुषाम्' इत्यादि पूर्व विवेचित उदाहरण में वचनादि उपदेशादि रूप अर्थान्तर में संक्रमित होता है। 'उपकृतं बहुतत्र' इत्यादि उदाहरण में अपकारातिशय रूप व्यंग्यार्थ में वाच्य अत्यन्त तिरस्कृत है। इन दोनों लक्षणामूल वस्तुमात्र व्यंग्य के उदाहरण में बिना व्यंग्यार्थ के लक्षणा सम्भव ही नहीं है। क्योंकि व्यंग्य लक्षणा के प्रयोजन के रूप में है। यदि उस व्यंग्य में भी लक्षणा स्वीकार की जाय तो किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार से अनवस्था दोष आ जायेगा। इसके लिए मम्मट पहले ही 'एवमप्यनवस्था स्यात् या मूलक्षयकारिणी' कह चुके हैं।[१] सुधासागरकार ने उक्त तर्क की पुष्टि करते हुए बताया है कि

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) बालबोधिनी — पृष्ठ– २९८ ।

'प्राक्प्रतिपादितम्' से मम्मट ने 'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते' इत्यादि द्वितीय उल्लास की कारिका की ओर संकेत किया है।[1] भट्टगोपालकृत साहित्य-चूडामणि के अनुसार 'प्राक्प्रतिपादितम्' का अर्थ है द्वितीय तथा तृतीय उल्लासान्तर्गत व्याख्यान अभीष्ट है। इसमें अविवक्षित वाच्य के भेद अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत हैं। अनुपयुक्ति तथा अनुपपत्ति में दोनों अविवक्षा के मूल हैं। उनके द्वारा मुख्यार्थबाधादि सामग्री है कोई फल अपेक्षित है और वह फल एकमात्र व्यंजना द्वारा ही गम्य है।[2]

<u>अभिधामूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में व्यंजना की अनिवार्यता:-</u> जहाँ अभिधा के नियंत्रित हो जाने पर भी अनभिधेय अर्थ तथा उसके द्वारा उपमादि अलंकार प्रतीत होता है उसकी व्यंग्यता निर्विवाद है। टीकाकारों के अनुसार अनेकार्थक शब्दों में प्रकरणादि के द्वारा एक अर्थ में अभिधावृत्ति नियंत्रित हो जाती है। एक अर्थ में अभिधा के नियंत्रित हो जाने पर उसी से अन्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। तब उस शब्द से जिस अन्यार्थ की प्रतीति होती है वह सर्वथा अनभिधेय होता है और केवल व्यंजनाव्यापार द्वारा प्राप्त होता है। उससे जो उपमाप्रभृति अलंकारों की प्रतीति होती है वह भी व्यंजना द्वारा ही हो सकती है।[3]

<u>अर्थशक्तिमूलध्वनि एवं अभिहितान्वयवाद:-</u> अभिधामूला ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भववस्तु तथा अलंकार रूप ध्वनियों में व्यंजना की अनिवार्यता बताने के पश्चात् मम्मट ने

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) सुधासागर पृष्ठ-२६२ ।

(२) प्रागिति। द्वितीयतृतीयोल्लासयोः। यस्मादविवक्षितवाच्यभेदावर्थान्तर-संक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ, अविवक्षायास्त्वनुपयुक्तिरनुपपत्तिश्चेति द्वे मूले, तद्द्वारा मुख्यार्थबाधादिसामग्री, तत्र फलावश्यं भावः। तच्च व्यंजनैक गम्यमिति। (साहित्य चूडामणि त्रावनकोर से प्रकाशित)।

(३) अभिधामूलेऽपि प्रकरणादिना अभिधायाः प्रथमेऽर्थे नियंत्रणात्तया बोधयितुमशक्या-र्थान्तरस्य वस्तुनस्तस्योपमादेरलंकारस्य चाभिधावृत्तिविषयस्य व्यंग्यत्वमेव। शब्दबोध्यस्य वृत्तिविषयत्वनियमात् -- उद्योत पृष्ठ-२०६ ।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि की व्यंजना प्रतिपादकता पर विचार किया है। इसमें वस्तुतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति के पूर्व वाच्यार्थ की प्रतीति अवश्यम्भावी है। अतः यहाँ पर वाच्यार्थ का वैशिष्ट्य रहता है। वाच्यार्थ बोध किस प्रकार होता है इस पर व्याकरण, न्याय, मीमांसा प्रभृति अनेक शास्त्रों में विचार किया गया है। तथापि वाच्यार्थ पर विशेष विचार मीमांसकों का है। उनके यहाँ दो सिद्धान्त प्रचलित हैं-- (१) अभिहितान्वयवाद (२) अन्विताभिधानवाद। इन दोनों सिद्धान्तों में व्यंग्यार्थ अभिधेयार्थ नहीं हो सकता। अर्थात् यहाँ भी व्यंजना अनिवार्य है। दोनों का क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है।

अभिहितान्वयवादी मीमांसक कुमारिलभट्ट के अनुसार सर्वप्रथम पदों का सामान्य प्रतीति होती है। उससे आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिवश विशेषरूप वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही यहाँ अभिधेयार्थ नहीं है फिर तृतीय सोपानस्थ व्यंग्यार्थ अभिधेयार्थ कैसे हो सकता है?

मम्मट के इस कथन को टीकाकारों ने सुस्पष्ट करते हुए बताया है कि वस्तुतः पद, वाक्य तथा व्यंग्य ये तीन क्रमिक सोपान हैं। सर्वप्रथम पद प्रयुक्त होता है। उसका सामान्यरूप में संकेत ग्रह होता है। शास्त्रदीपिकाकार के अनुसार सामान्य का अभिप्राय है जाति रूप। यथा 'गौ' पद से गोत्व जाति में संकेत ग्रहण होता है। अभिधा केवल प्रतिपदों के जातिरूप अर्थ को प्रस्तुत कर समाप्त हो जाती है। तदनु आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से सभी पदार्थ अन्वित होकर विशेष रूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। यह वाक्यार्थ अभिहितान्वयवादियों के मत से अभिधेयार्थ नहीं हो सकता। जहाँ तक व्यंग्य प्रतीति का सम्बन्ध है वह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वाच्यार्थ बोध के पश्चात् ही व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। अतएव अभिहितान्वयवादियों के यहाँ जब वाच्यार्थ ही अभिधावृत्ति के द्वारा प्रतीत नहीं होता तब व्यंग्यार्थ का जो कि उसके भी पश्चात् प्रतीत होता है, बोध कैसे हो सकता है। अर्थात् वह तो कभी भी अभिधावृत्ति के द्वारा बोधगम्य नहीं हो सकता। अतः अभिहितान्वयवादी मीमांसकों को भी अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है प्रदीप तथा उद्योत पृष्ठ-२०६, प्रभा पृष्ठ-१४७ ।

<u>अन्विताभिधानवाद::-</u> ज्ञातव्य है कि अभिहितान्वयवादियों को पदार्थ से वाक्यार्थ की प्रतीति में तात्पर्य नामक वृत्ति मानना पड़ता है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर गुरु ने उक्त मत का खण्डन कर "अन्वित पदार्थ वाक्यार्थ होता है" इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। मम्मट ने इस प्रसंग में अन्विताभिधान वाद का उपपादन भली-भाँति प्रस्तुत कर अपने प्रतिपाद्य विषय व्यंजना की अपरिहार्यता को पुष्ट किया है। यहाँ पर निःसन्देह मम्मट की शैली क्लिष्ट हो गई है। साथ ही इस सिद्धान्त का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने के कारण विषय कुछ प्रसंग से पृथक् प्रतीत होने लगता है। यदि यहाँ पर केवल अन्विताभिधानवाद का संकेत कर अपने विषय पर चले जाते तो सम्भवतः विषय पाठकों की अरुचि का कारण न बनता। अस्तु। एतद्विषयक मम्मट के विवेचन का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

<u>संकेतग्रह का आधार::-</u> संकेतग्रह के साधन के रूप में व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य इत्यादि अनेक गिनाये गये हैं। किन्तु इन व्याकरणादि में व्यवहार से संकेतग्रह प्रमुख माना जाता है। क्योंकि व्याकरणादि से संकेतग्रह केवल व्युत्पन्न व्यक्ति को ही हो सकता है। व्यवहार से अव्युत्पन्न व्यक्ति भी संकेतग्रहण कर लेता है। इसके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति ये तीन प्रमाण प्रमु मुख्य साधन हैं। मम्मट के अनुसार उत्तमवृद्ध के 'गामानय' इत्यादि वाक्य कहने पर मध्यमवृद्ध या प्रयोज्य को गाय लाने में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् वह सास्नादिमान् वस्तु (गाय) को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। उसे देखने वाले बालक "मध्यमवृद्ध ने इस वाक्य से इस प्रकार का अर्थ ज्ञात किया" इस प्रकार से उसकी चेष्टा द्वारा अनुमान कर लेता है और अर्थापत्ति द्वारा सम्पूर्ण वाक्य तथा वाक्यार्थ के वाच्य वाचक रूप संबंध का निश्चय करके वाक्य का ज्ञान उसे हो जाता है। मम्मट ने संक्षेप में तीनों उक्त प्रमाणों का स्वरूप प्रस्तुत किया है। टीकाकारों ने इसके सुस्पष्ट व्याख्यान को प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त किया है। तदनुसार कुछ विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है -

<u>प्रत्यक्ष प्रमाण::-</u> प्रभाकार का कथन है कि यहाँ पर प्रत्यक्ष पद से चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा श्रावणप्रत्यक्ष दोनों अभिप्रेत हैं। बालक व्यवहार में उत्तमवृद्ध तथा

मध्यमवृद्ध दोनों का अवलोकन करता है। यह उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष है। तदनु उत्तमवृद्ध के कहे हुए वाक्य को सुनता है। यह श्रावण प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। मध्यमवृद्ध के द्वारा गाय लाये जाने पर उसे भी बालक चक्षु से देखता है। और इसे आभिधेय अर्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। सार यह कि अभिधेय अर्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष से और 'शब्द' का श्रावण प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है।[१]

**अनुमान प्रमाण ::-** प्रत्यक्ष से शब्द, वृद्ध और आभिधेय का ग्रहण होने के पश्चात् बालक अनुमान प्रमाणका आश्रय लेता है। मध्यम वृद्ध जब गवानयन में प्रवृत्त होता है तो उसकी चेष्टा को देखकर बालक यह अनुमान करता है कि यह चेष्टा वाक्य के अर्थ को समझकर की जा रही है। अस्तु, चेष्टा रूप लिंग से बालक मध्यमवृद्ध के प्रतिपन्नत्व अर्थात् ज्ञान का अनुमान कर लेता है। अतः शक्तिग्रह में अनुमान प्रमाण का रूप भी सिद्ध हो जाता है। 'सोऽयं प्रतिपन्नत्वम् अनुमानेन चेष्टया' इत्यादि मम्मट के कथन का यही आशय है। परवर्ती अनुमान का स्वरूप [illegible] इस प्रकार कहते हैं --

'अयमेतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरज्ञानवान् । एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात् इत्यनुमानाकारः' ।

**अर्थापत्तिप्रमाण ::-** शक्तिग्रहण में सहायक तीसरा प्रमाण अर्थापत्ति है। इसका लक्षण है -- 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' अर्थात् अनुपपद्यमानार्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना वाक्य एवं उसके अर्थ का जो वाच्यवाचकसम्बन्ध है उसका ग्रहण अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा हो सकता है। यदि वाक्य में वाचकता धर्म और अर्थ में वाच्यता धर्म न होता तो कभी भी वाक्य से अर्थावबोध नहीं हो सकता। प्रस्तुत विषय में अर्थावबोध अनुपपद्यमान अर्थ है। वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध उसका उपपादक है। अनुपपद्यमान अर्थावबोध को देखने पर उसकी उपपादकीभूत वाच्यवाचकभाव की कल्पना अर्थापत्ति के द्वारा होती है। अतः

---

(१) प्रत्यक्षपदम् करणपदम् । तत्र श्रोत्रेण शब्दं पश्यति । साक्षात्करोतीत्यर्थः । तथा चक्षुषा वृद्धमभिधेयान् गवानयनादींश्च साक्षात्करोतीत्यर्थः ।

प्रभा पृष्ठ- १४७-१४८ ।

अर्थापत्ति प्रमाण शाब्दबोध में सहायक है ।१

उक्त तीनों प्रमाणों से बालक शब्द का ग्रहण कर लेता है । यद्यपि वह अनुमानादि की प्रक्रिया से परिचित नहीं रहता तथापि ये प्रमाण उसके ज्ञान में सहायक होते हैं ।

अन्विताभिधानवाद का उपपादन::- उक्त प्रमाणत्रय के सहयोग से संकेतग्रह होने के पश्चात् 'चैत्र गाय को लाओ', 'देवदत्त घोड़े को लाओ', इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होने पर बालक तत्तद् शब्द का तत्तद् अर्थ निश्चय करता है । अतएव उक्त प्रकार से अन्वय व्यतिरेक से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति करने वाला वाक्य ही प्रयोग योग्य होता है । अतः वाक्यान्तर्गत अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेत ग्रह होता है । इसलिए अन्वय विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ है न कि वहाँ पर अनन्वित पदार्थों का वैशिष्ट्य है । इसी को मम्मट 'विशिष्टा: एवं पदार्था: वाक्यार्थ: न तु पदार्थानाम् वैशिष्ट्यम्' से प्रस्तुत करते हैं ।

इसके व्याख्यान में टीकाकारों का कथन है कि 'विशिष्टा एवं पदार्था: वाक्यार्थ:' तथा 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' ये दोनों वाक्य क्रमशः अन्विताभिधानवाद एवम् अभिहितान्वयवाद की ओर संकेत करते हैं । भाव यह है कि अन्विताभिधानवाद में परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में प्रकट होते हैं । अभिहितान्वयवाद में सर्वप्रथम वाक्यान्तर्गत पदों से पदार्थ की उपस्थिति होती है । तदनु उनका परस्पर अन्वय होता है और वाक्यार्थबोध होता है । 'विशिष्टा पदार्थाः' से अभिप्राय है अन्वित पदार्थ और 'पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' का अर्थ केवल अन्वित पदार्थों का पश्चात् होने वाला अन्वय है । अतः अन्विताभिधानवाद का सारांश यह है कि अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में प्रस्तुत होते हैं । केवल पदार्थों की उपस्थिति के पश्चात् उनका अन्वय नहीं होता ।२

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रभा पृष्ठ- १४८ ।

(२) प्रदीप पृष्ठ- २११ ।

यहाँ पर शंका तथा उसका समाधान मम्मट ने अन्विताभिधानवादियों के अनुसार प्रस्तुत किया है। विवेचन का सार इस प्रकार है- गामानय, अश्वमानय इत्यादि वाक्यों में आनय पद उभयनिष्ठ है। अनुभव के आधार पर यह कहा जाता है कि दोनों स्थलों पर आनय पद एक ही है। फिर भी गोसम्बन्धी आनयन 'अथवा' अश्वसम्बन्धी आनयन' का कोई भी अर्थ न होना चाहिए। केवल यह तभी सम्भव है जब कि अन्विताभिधानवादी तात्पर्याख्य वृत्ति स्वीकार करें। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार नैयायिकों के सिद्धान्त में 'गोत्व' रूप से सामान्यतया शक्तिग्रह होने पर भी 'गौः' शब्द से 'सदेव' गौ विशेष' की प्रतीति होती है क्योंकि 'निर्विशेषं न सामान्यम्' के सिद्धान्त से सामान्यावच्छिन्न विशेष की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ में शक्तिग्रह होता है तथापि सामान्यप्रकारक होकर भी वह विशेष का अनुभव कराता है। क्योंकि परस्परान्वित पदार्थ वैसे अर्थात् विशेष रूप का ज्ञान कराते हैं।१

<u>अन्विताभिधानवाद में व्यंजना अनिवार्य:</u>:- अन्विताभिधानवाद के सर्वांगीण स्वरूप को प्रस्तुत करने के पश्चात् मम्मट अपने अभीष्ट व्यंजना प्रतिष्ठापना पर आ जाते हैं। उनका लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि अन्विताभिधानवादी को भी व्यंजना माननी पड़ेगी। क्योंकि उनके सिद्धान्त में भी सामान्य-विशेष रूप पदार्थ ही संकेतग्रह का विषय होता है। अतएव वाक्यार्थ के अन्तर्गत अतिविशेष रूप अर्थ असंकेतित होने से वाच्यार्थ न होते हुए भी जहाँ पर पदार्थ रूप में अवभासित होता है वहाँ 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि में वाच्य निषेध से व्यंग्य विध्यादि के वाच्य होने की बात दूर हो है।२

मम्मट के कथन को टीकाकारों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है - यहाँ पर दो पद हैं (१) सामान्य विशेष (२) अतिविशेष। सामान्य विशेष का अभिप्राय है कि गामानय, अश्वमानय इत्यादि वाक्यों तथा आनय इत्यादि पदार्थों का केवल सामान्यरूप से अन्वित पदार्थ में नहीं अपितु कर्मत्वादि रूप सामान्यविशेष रूप से अन्वित अर्थ में ही संकेतग्रह होता है। गामानय इस वाक्य में कर्मत्व से विशिष्ट

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) काव्यप्रकाश- पृष्ठ- २२३।

(२) काव्यप्रकाश- पृष्ठ- २२३-२२४ ।

गौ पद सामान्यविशेष है। अतः आनय पदउक्त सामान्य विशेष से अन्वित होकर अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार अश्वमानय कहने पर 'आनय' पद अन्यभूत अश्व से अन्वित आनय का बोध कराता है। क्योंकि यहाँ पर अश्वेन अन्वित अश्व सामान्य विशेष है।

कुछ टीकाकारों के अनुसार सामान्यविशेष संज्ञा केवल इसलिए प्राप्त हुई कि 'गामानय' 'अश्वम् आनय' इत्यादि वाक्यों में यद्यपि आनय क्रिया का सम्बन्ध गाम्, अश्वम् इत्यादि विशेष के साथ ही है। तथापि दोनों में समान वस्तु कर्मत्व है जो आनय क्रिया के साथ अन्वित होता है। यहाँ पर गाम्, अश्वम् इत्यादि पद विशेष होते हुए भी केवल कर्मत्व रूप से ही अन्वित होते हैं न कि अपने विशेष (व्यक्ति) रूप से। अतः इन्हें सामान्य विशेष पद से सम्बोधित किया जाता है।

ज्ञातव्य है कि गोत्व अथवा अश्वत्वादि विशेष व्यक्ति को अतिविशेष से सम्बोधित किया गया है। अतिविशेष रूप भले ही वाक्यार्थ में प्रतीत होता है तथापि उनमें संकेतग्रह नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष होगा। अतः वाक्यार्थ में प्रतीत होने पर भी अतिविशेष अनभिधात्मक अर्थ असंकेतित अर्थ होने के कारण वह वाच्यार्थ कदापि नहीं हो सकता। अर्थात् अभिधाशक्ति अतिविशेष अर्थ का भी बोध नहीं करा सकती। जब वाक्यार्थ बोध ही अन्विताभिधानवाद में अभिधेयार्थ नहीं हो सकता तो वाक्यार्थ के पश्चात् प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ अभिधेयार्थ कैसे हो सकता है?

विवरण टीकाकार उक्त कथन को एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। तदनुसार जैसे घट सामान्यरूप से वस्तु है किन्तु वस्तु लाओ इस कथन से कभी भी घट नहीं लाया जा सकता। जब कि वस्तु पद घट का भी ग्राहक है। घटानयनत्व के लिए विशेष 'घट लाओ' यह कहना ही होगा। भाव यह है कि जिस प्रकार से घट एक वस्तु रूप से वस्तु पदवाच्य है तथापि घटत्वरूप से यह कभी भी वस्तुपद वाच्य नहीं हो सकता। ठीक इसीप्रकार इतरपदार्थ अन्वित आनयनत्व रूप से घटानयन आनयन पद का वाच्य है, किन्तु घटानयनत्व (अतिविशेष) सामान्यविशेष रूप से वह कदापि आनयन पद का वाच्य नहीं हो सकता। अतः उसमें शक्तिग्रह न होने के कारण उसका

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए मम्मट का कथन है कि मीमांसक शब्द को जो निमित्त मानते हैं, उस निमित्त का स्वरूप क्या है ? या तो वह कारक निमित्त हो सकता है या ज्ञापक। शब्द कारक (उत्पादक) नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द कोई अर्थ को उत्पन्न तो करता नहीं। वह तो केवल अर्थ का प्रकाशक होता है। हाँ शब्द, अर्थ का ज्ञापक निमित्त हो सकता है किन्तु वह तभी जब कि वह उस अर्थ के बोधक के रूप में ज्ञात हो। अर्थात् ज्ञात वस्तु का ही ज्ञापकत्व हो सकता है। शब्द का यह ज्ञातता संकेत के द्वारा (अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः) ही होता है। अन्विताभिधानवादी केवल अन्वित अर्थ में ही संकेत मानते हैं अन्वित विशेष में भी नहीं। अन्ततः जब तक व्यंग्यार्थ का निमित्त रूप से किसी शब्द को निमित्त न मान लिया जाय तब तक शब्द के द्वारा नैमित्तिक (व्यंग्यार्थ) का बोध हो नहीं हो सकता। अतएव निमित्तनैमित्तिक न्याय से व्यंजना का खण्डन अविवेक पूर्ण है।१

उपर्युक्त की व्याख्या करते हुए सुधासागरकार का कथन है कि इतर व्यवहार शक्ति से व्युत्पन्न व्यक्ति के लोष्ठादि से अन्वित आनयन व्यवहार को यदि कभी भी नहीं देख सका है तो भी 'लोष्ठमानय' इस वाक्य बोध के समय लोष्ठाद्यन्वित आनयनादि विशेष की भी उपस्थिति उपस्थापकान्तराभाव के कारण शब्द से हो भी सकती है। वहाँ उसमें संकेत ग्रह होने पर शब्द से उसकी उपस्थिति होती है अथवा शब्द से उसकी उपस्थिति होने पर संकेतग्रह होता है- इत्यादि प्रकार का अन्योन्याश्रय विद्यमान रहता है। किन्तु यह दशा व्यंजना की नहीं होती। अभिधा एवं लक्षणा ज्ञात के प्रति ही उपयोगिनी होती है। धर्मिग्राहकमानसिद्धा व्यंजना अज्ञात की ही बोधिका होती है। यहाँ अतिप्रसंग भी नहीं कहा जा सकता। वक्त्रादि वैशिष्ट्य से तथा काल की कल्पना से यह सर्वथा सम्भव है। अतः नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना से व्यंजना व्यापार का अस्तित्व समाप्त नहीं किया जा सकता।२

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है काव्यप्रकाश- पृष्ठ- २२५।

(२) सुधासागर पृष्ठ- २५८।

**भट्टलोल्लट के मत का खण्डन :-** भट्टलोल्लट भी कुमारिल भट्ट के मतानुयायी मीमांसक थे। अतएव उन्हें भी व्यंजनावृत्ति मान्य नहीं थी। उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार एक ही बार छोड़ा हुआ बाण शत्रु का वर्मच्छेद, मर्मभेद करके प्राणहरण करता है, ठीक उसी प्रकार शब्द केवल अभिधानामक व्यापार से वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य नामक तीनों प्रकार के अर्थों की प्रतीति कराता है। इसी को मम्मट 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इत्यादि रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसकी पुष्टि में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस कथन को उद्धृत किया गया है। इनके मीमांसक भट्टलोल्लट का आशय है कि जिस अर्थ की प्रतीति के हेतु शब्द का प्रयोग होता है वही वास्तव में उस शब्द का अर्थ होता है। अतएव जिस स्थल पर वाच्यार्थ के लिए शब्द प्रयुक्त है वहाँ केवल उतना ही उसका अर्थ है और जहाँ लक्ष्य या व्यंग्य कहे जाने वाले अन्यार्थ के हेतु शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ पर वह अन्य अर्थ ही शब्द का वाच्यार्थ होगा। इस दृष्टि से सभी प्रकार के अर्थ अभिधा व्यापार के द्वारा ही उपस्थित होते हैं। फिर तो व्यंजना नामक भिन्न व्यापार के मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उद्योतकार ने इस पूर्वपक्ष को सुस्पष्ट कर दिया है।[1]

इस मान्यता का खण्डन करते हुए मम्मट का कथन है कि उक्त तर्क देने वाले मीमांसक सर्वथा मूर्ख हैं। क्योंकि वे अपने मीमांसा सिद्धान्त के 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस कथन का वास्तविक अभिप्राय भी नहीं समझ पाये। अतएव उन्हें 'देवानां प्रियः' (मूर्ख) कहना असमीचीन नहीं होगा।[2] इस भर्त्सना के साथ मम्मट ने उक्त कथन के वास्तविक अर्थ को समझाया है। यहाँ पर उनकी पंक्तियाँ क्लिष्ट हो गई हैं। फलस्वरूप प्रतिपाद्य विषय कुछ अस्पष्ट सा प्रतीत होता है। सर्वप्रथम उनकी पंक्तियों का भावानुवाद यहाँ द्रष्टव्य है। -- सिद्ध और

---

(१) द्रष्टव्य है उद्योत पृष्ठ-२१३।

(२) तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः' काव्यप्रकाश-पृष्ठ-२१४।

साध्य के सहोच्चारण होने पर सिद्ध का उपदेश साध्य के लिए होता है। जैसे 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' रूप में कहा गया है। तदनुसार क्रिया पदार्थ के साथ अन्वित होने वाले कारक पदार्थ प्रधान क्रिया की निष्पादक अपनी क्रिया के साथ साध्य बन जाते हैं। दग्धदहनन्याय से जितना अप्राप्त होता है उतने का ही विधान होता है। यथा 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्य में ऋत्विक् लोगों का प्रचरण अन्य प्रमाण से ही सिद्ध होता है। अतः यहाँ लोहितोष्णीषत्वमात्र ही विधेय है। इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' इस विधिवाक्य में हवन का विधान अन्य वाक्यों से सिद्ध है। यहाँ केवल दधि की साधनता ही विधेय है।[1]

इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारों का कथन है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अभिप्राय यह है कि वैदिकवाक्यों में जैसे— 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' में केवल होम क्रिया का विधान अभीष्ट है। किन्तु 'दध्ना जुहोति' इत्यादि वाक्यों में केवल दधि-साधन द्रव्य ही अभिप्रेत है। क्योंकि होम क्रिया पूर्ववाक्य से ही प्राप्त है। इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' इत्यादि वाक्यों में होम और याग दोनों ही पूर्व वाक्य से अप्राप्त होने के कारण दोनों का विधान अभिप्रेत है। यहीं पर 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादि में लोहित्य का विधान ही अभिप्रेत है।

स्पष्ट है कि वैदिक विधि वाक्यों में जहाँ पर जितना अंश किसी अन्य प्रमाण से अप्राप्त होता केवल उतने ही अंश का विधान अभीष्ट होता है। उदाहरणार्थ अग्नि केवल उसी का दहन कर सकता है जो अदग्ध हो। दग्धवस्तु का दहन वह कैसे कर सकता है। ठीक इसी प्रकार वैदिक विधिवाक्य प्राप्त भी ज्ञान का ज्ञापन नहीं करते बल्कि अप्राप्त का ही वहाँ पर विधान होता है। अस्तु। जिस अप्राप्त अंश की प्रतीति में वाक्य का तात्पर्य रहता है वही उस वाक्य का विधेय अंश होता है। 'यत्परः शब्दः' इत्यादि का यही अभिप्राय है। इसका यह अर्थ कदापि

---

(१) काव्यप्रकाश - पृष्ठ-२२६-२७ ।

पूर्व उसकी बनने की क्रिया है। घट की इस निर्माण क्रिया की दृष्टि से घट (सिद्ध) भी साध्य के सदृश प्रतीत होता है, यद्यपि घट की क्रिया गौण होकर प्रधान क्रिया की ही निर्वाहक होती है। भाव यह कि घट यों तो स्वरूपत: सिद्ध है तथापि स्पन्दात्मकत्वेन पूर्वसिद्ध नहीं है। घट में नोदन अभिघात इत्यादि क्रिया के फलस्वरूप वह स्पन्दात्मकत्वेन साध्य होता है। इसी तरह भी यहां पर प्रधान क्रिया की निर्वाहक स्वक्रिया के सम्बन्ध से सिद्ध पदार्थ भी साध्य के सदृश प्रतीत होते हैं।१

उक्त विवेचन को मम्मट ने दो उदाहरणों से स्पष्ट किया है। उनमें से प्रथम है, 'लोहितोष्णीषा: ऋत्विज: प्रचरन्ति'। इसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। तथापि विशेष रूप से इसको समझाना द्रष्टव्य है। वस्तुत: यह वाक्य श्येनयाग के प्रकरण में कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ज्योतिष्टोम याग प्रकृति याग है और उसका विकृति योग श्येनयाग है। प्रकृति और विकृति याग यहां समझ लेना आवश्यक है। जिस याग का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत किया जाय वह प्रकृतियाग होता है। यत्र समग्रांगोपदेश: सा प्रकृति:। इस दृष्टि से इसे प्रधानयाग भी कहा जा सकता है। एक प्रकृति याग के अन्तर्गत कई विकृतियाग भी सम्भव हैं। अन्तर यह है कि विकृति याग में केवल नवीन विशेष का ही वर्णन रहता है न कि समग्र अंग का। अन्य सारी प्रक्रिया प्रकृतियाग के समान ही होती है।

इस दृष्टि से ज्योतिष्टोमयाग में 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विज: प्रचरन्ति' यह वाक्य है। इससे ऋत्विक् प्रचरण तथा उष्णीषधारण प्राप्त हो जाता है। तदनु विकृतिरूप श्येन याग में 'लोहितोष्णीषा: ऋत्विज: प्रचरन्ति' यह वाक्य आता है। 'प्रकृतिवत् विकृति: कर्तव्या' इस सिद्धान्त से इसमें ऋत्विक् प्रचरण तथा उष्णीषधारण सामान्यरूप में प्रकृतियाग के वाक्य से ही प्राप्त है। यहां पर उसका विधान अभिप्रेत नहीं है। केवल लोहितत्व वस्तु है जो कि पूर्ववाक्य से अप्राप्त होने के कारण यहां अभिप्रेत है। भाव यह है कि श्येन याग में ऋत्विजों के

---

(१) घटमानय इत्यत्रानयनं समीपदेशसंयोग: समीपदेशसंयोग:। प्रधानक्रिया तस्या: निर्वर्तिकात्मनो या स्वस्य घटस्य स्वरूपत: सिद्धत्वेऽपि स्पन्दात्मकत्वेन साध्यत्वम्। विशेषो नोर्ध्वं स्पन्दरूपं तथा त्वमिति अयं प्रयोग+ इति।

बालबोधिनी पृष्ठ- २२६-२७।

उच्चारण मात्र से ही होने चाहिये 'केवल कर्म में ही तात्पर्य है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह कथन इसी बात की अभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार दध्ना जुहोति में भी केवल साधन रूप से दधि मात्र का विधान अभीष्ट है। क्योंकि हवनादि क्रिया पूर्ववाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' से प्राप्त है। यह वाक्य अग्निहोत्र के प्रकरण में आया है।१

यह आवश्यक नहीं कि एक ही का विधान वाक्य में अभिप्रेत होता है। कहीं दो का और कहीं तीन या उससे भी अधिक का विधान अभीष्ट रहता है। यथा 'रक्तं पटं वय' में आवश्यकतानुसार कभी केवल रक्त 'वर्ण' का विधान, कभी वय और पट दोनों का विधान तो कभी रक्त, वय और पट तीनों का विधान अभीष्ट होता है। अस्तु, जहाँ पर जो विधेय होता है उसी में तात्पर्य रहता है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का यही आशय है।२

व्यंजनावादी के पक्ष में यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वाक्य में जो शब्द प्रयुक्त रहते हैं उनमें से ही किसी में तात्पर्य हो सकता है न कि अनुपात्त शब्द में भी। व्यंजनावादी जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं उसका वाचक वाक्य में कोई शब्द प्रयुक्त नहीं रहता। अतः उसमें तात्पर्य नहीं रहता। इसी तर्क के आधार पर भट्टलोल्लट का व्यंजनाविरोध निराधार सिद्ध किया जा सकता है। यदि उपात्तशब्द से प्रतीत हो जाने वाले अर्थ में तात्पर्य माना जाय तब तो 'पूर्वो धावति' का उच्चारण करने पर 'अपर' इत्यादि अर्थ भी ग्रहण किये जाने लगेंगे। और इष्ट अर्थ प्राप्ति के स्थान पर भयानक अनर्थ प्राप्त होने लगेगा। उल्लेख्य है कि मम्मट का यह विवेचन लोचनकार की इन पंक्तियों का अनुकरण करता है —

'यो अन्विताभिधानवादी यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, इति हृदये गृहीत्वा शरवदभि-धाव्यापारमेव दीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारः तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्न विषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) बालबोधिनी पृष्ठ-२२७।
(२) बालबोधिनी पृष्ठ-२२७।

स जानाति च कर्मो विरम्य व्यापारः शब्दबुद्धिकर्मणां पदार्थविद्भिः निषिद्धः। स सकलोऽपि वाक्यस्यैव एव। लोचन।

**विषं भक्षय में तात्पर्य निर्णय:-** व्यंजना विरोधी एक अन्य युक्ति की उद्भावना मम्मट करते हैं। 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इस वाक्य में वक्ता का अभिप्राय है कि उसके घर भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक बुरा है। यही वाच्यार्थ है। परन्तु इस अर्थ का वाचक कोई भी शब्द वाक्य में उपात्त नहीं है। व्यंजनावादी का यह तर्क कि उपात्त शब्द के ही अर्थ में तात्पर्य होता है- कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ सिद्धान्त पक्ष का यह उत्तर है कि वस्तुतः 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुंक्थाः' में चकार दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सूचित करता है। इससे विषं भक्षय का जो तात्पर्य है वह 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इस उपात्त शब्द के अर्थ में हो जाता है न कि अनुपात्त शब्द के अर्थ में। इस दशा में उसके घर में भोजन विष भक्षण से भी बुरा है यह अर्थ प्राप्त होता है। इस पर व्यंजनाविरोधी का यह तर्क हो सकता है कि दो प्रधान क्रिया से युक्त वाक्यों में अंगांगिभाव मानकर उनकी एक वाक्यता कैसे मानी जा सकती है? और स्पष्ट करते हुए टीकाकारों का कथन है कि 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः' अर्थात् दो या उससे अधिक अप्रधान पदार्थ परस्पर सम्बद्ध नहीं होते अपितु वे प्रधान के साथ सम्बद्ध रहते हैं। इस नियम से दो प्रधान अर्थों का भी अंगांगिभाव से सम्बद्ध होना सम्भव नहीं है। अतः दोनों की एक वाक्यता पर आधारित सिद्धान्त पक्ष का उक्त तर्क समाधान नहीं है।

इसके समाधान में मम्मट का यह कथन है कि यदि उक्त उदाहरण को एक वाक्यता न माना जाय तो विषं भक्षय का अर्थ ही उपपन्न न होगा। क्योंकि विषं भक्षय यह मित्र का वाक्य है। अतः विष खाने पर उसका कोई भी अभिप्राय नहीं हो सकता। इसकी संगति तभी होगी जब कि 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' के साथ इसे सम्बद्ध माना जाय। अतएव विषं भक्षय वाक्य स्वयं में अनुपपन्न होने के कारण द्वितीय वाक्य का अंग बन जाता है। अंगांगिभाव सम्बन्ध स्थापित होने पर दोनों की एक वाक्यता होती है और तब उपात्त शब्द के ही अर्थ

में तात्पर्य होता है। इस नियम की संगति बैठ जाती है।[1]

<u>व्यंजना की प्रतिष्ठापना में अन्य तर्क:-</u> ऊपर के उदाहरण में मम्मट ने मीमांसकों का व्यंजना-विरोधी उक्ति का खण्डन किया। इसके साथ ही कुछ ऐसे अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हैं जिससे मीमांसकों को भी व्यंजना व्यापार को मानना ही पड़े। उनमें प्रथम यह है कि यदि मीमांसक शब्द श्रवण के पश्चात् जितना अर्थ प्राप्त होता है वह सब अभिधा व्यापार से ही मानते हैं तो "हे ब्राह्मण! तुम्हारे पुत्र हुआ" और "हे ब्राह्मण तुम्हारी कन्या (अविवाहिता पुत्री) गर्भिणी है" इन वाक्यों के श्रवण से उत्पन्न होने वाला ब्राह्मण का हर्ष और शोक भी वाच्य क्यों न माना जाय? साथ ही मीमांसक लक्षणा नामक व्यापार मानते हैं, फिर तो क्यों नहीं अभिधा व्यापार से ही लक्ष्यार्थ को भी प्राप्त कर लें? अतः जैसे लक्ष्यार्थ को वे अभिधा से ग्रहण नहीं कर सकते वैसे ही व्यंग्यार्थ भी अभिधाप्रतिपाद्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मीमांसक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इनमें पूर्व-पूर्व श्रुति आदि को पर अर्थात् लिंग आदि की अपेक्षा बलवत्तर मानते हैं। उनका यह सिद्धान्त भी व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि सभी अर्थ यदि अभिधेय होंगे तो उनमें प्राबल्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अन्विताभिधानवादी मीमांसकों को भी व्यंजना स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

विवरण टीका में उक्त श्रुति, लिंगादि का मीमांसा के अनुसार स्वरूप एवं प्रस्तुत प्रसंग में महत्व बताया गया है। तदनुसार यह मीमांसा का सूत्र है। जो इस प्रकार है --- श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानाम् समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात् (पूर्व मीमांसा ३. ३.१४) इस सूत्र में आचार्य जैमिनि का यह अभिप्राय है कि वेद के किसी भी मन्त्र अथवा प्रोक्षणादि अंगरूप विधि का किस प्रमुख याग क्रियादि में विनियोग होता है। उसके निर्णायक श्रुति आदि छ: साधन हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व बलवान होता है। यदि शब्द श्रवणानन्तर समस्त अर्थ अभिधाव्यापार द्वारा ही प्राप्त हो जाय तो जिस प्रकार 'श्रुति' द्वारा

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश- पृष्ठ-२२८-२९ ।

सरस्वतीतीर्थादि टीकाकारों के अनुसार 'किंशु' पद लाटभाषा में योन्यन्तरकारी अंकुर का वाचक है। काव्यप्रकाश दर्पणकार विश्वनाथ के मत से कर्णाटभाषा में यह पद अश्लीलार्थबोधक है। किन्तु यहाँ पर अस्य योनिसिद्धि अंकुर का अर्थ लाभ तथा कुरु इन दोनों पदों में से किसी का भी वाच्यार्थ नहीं है और अभिधा से भिन्न कोई अर्थबोधक व्यापार नहीं होता। अतः इस असभ्यार्थ की प्रतीति कभी हो ही नहीं सकती। तब काव्यान्तर्गत ऐसे प्रयोग त्याज्य नहीं कहे जा सकते। किन्तु सहृदय हृदय प्रमाण है कि ऐसे प्रयोग असभ्यार्थ के व्यंजक माने गये हैं। काव्य में उनका प्रयोग वर्जित भी है। अतः अभिधा से भिन्न व्यंजना नामक वृत्ति माननी ही पड़ती है। विवरणकार ने इसे स्पष्ट कर दिया है।[1]

दूसरा तर्क यह है कि काव्य में नित्य और अनित्य दोष माने गये हैं। अप्रयुक्तत्वादि दोष नित्यदोष हैं, क्योंकि ये रस के अपकर्षक होते हैं। श्रुतिकटु आदि दोष अनित्य दोष हैं। क्योंकि ये केवल शृंगारादिरस में ही दोष माने जाते हैं। और, भयानक वीरादि रसों में ये ही गुण हैं। फलतः इन नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था न हो सकेगा, यदि वाच्य-वाचक सम्बन्ध से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध न स्वीकार किया जाय। व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध मानने पर ही व्यंजना वृत्ति से बोध्य कौन वस्तु किस रस के अनुकूल है या प्रतिकूल, इस प्रकार की विभाग व्यवस्था हो सकती है। अतएव व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध से भिन्न मानना ही पड़ेगा। ज्ञातव्य है कि इस विवेचन में मम्मट की पर्याप्त मौलिकता किंवा नवीनता विद्यमान है।

<u>गुणव्यवस्था के द्वारा व्यंजना की सिद्धि:-</u> मम्मट ने कालिदास रचित कुमारसम्भव के 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां, समागमप्रार्थनया कपालिनः' -- इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को उद्धृत कर बताया है कि यहाँ पर यदि व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध न माना जाय तो 'पिनाकी' आदि की अपेक्षा 'कपाली' आदि पदों के प्रयोग में

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) तत्किंचन, इत्युक्तौ स्त्रीगुह्यांगवाचक किंशुपदप्रयुक्तेन किं व्यंजनया स्त्रीगुह्यांगोपस्थित्या अश्लीलत्व दोष इति चेन्मन्यसे। सत्य, अन्यथा अर्थान्तर- अभिधानः, इत्यभिधानाभिधानमते व्यंजनाया अस्वीकारे न सम्भवति। लाटसार्थस्य केनाप्यनभिहितत्वे नानभिधेयत्वादिति। विवरण पृष्ठ-२११।

काव्यानुगुणत्व का आधिक्य नहीं माना जा सकता । टीकाकारों के अनुसार यहाँ पर कवि ने 'पिनाकी' आदि अनेक पदों के होते हुए भी 'कपाली' पद का प्रयोग किया । यह ध्वनित कि कपाली पद से जिस दरिद्रता, बीभत्सता आदि गुणों की विशेषता व्यक्त होती है वह पिनाकी आदि पदों के प्रयोग से नहीं हो सकती । औचित्यविचार की सार्थकता भी उसी आधार पर आश्रित है । यदि व्यंग्य-व्यंजक भाव न माना जाय तो भी अर्थ कपाली का है वही पिनाकी का । क्योंकि सभी शब्दों का वाचकत्व से समान है । किन्तु शब्दों के वैलक्षण्य की विच्छित्ति सहृदय-हृदय संवेद्य होने के कारण वाच्य-वाचक से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध अवश्य मानना चाहिए ।[१] स्पष्ट है कि यह तक मम्मट का प्रथम व्यंजना साधक हेतु को प्रस्तुत करने में था । आगे वे कुछ ऐसे तर्क प्रस्तुत करते हैं जिनसे कि वाच्य और व्यंग्य का परस्पर भेद स्पष्ट हो जाता है । यह प्रयत्न पहले ध्वनिकार तथा लोचनकार ने भी किया है । उसी दिशा में मम्मट का कुछ नवीन प्रयास उनके योगदान की कोटि में आता है ।

<u>संख्याभेद से वाच्य-व्यंग्य का भेद::-</u> वाच्यार्थ सदैव नियत होता है । कोई भी वक्ता हो, कोई भी श्रोता हो, उसमें कोई भी अपेक्षा नहीं रहता । किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण, वक्ता, बोधव्यादि वैशिष्ट्य से नानाप्रकार का होता है । इस उदाहरण से मम्मट ने विषय को स्पष्ट किया है । वह यह कि 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्यास्त हो गया) का वाच्यार्थ सदैव एक ही होगा । किन्तु यदि यही वाक्य कोई राजा सेनापति से कहे तो उसका व्यंग्यार्थ है--'शत्रु के प्रति आक्रमण का अवसर है', 'कोई अभिसारिका से कहे तो' अभिसरण आरम्भ कीजिए, सखी नायिका से कहे तो' तेरा प्रियतम आने ही वाला है, इत्यादि प्रकार से अनेक व्यंग्यार्थ पृथक्-पृथक वक्ता और बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य से प्रकट होते हैं । यदि यहाँ पर व्यंजना का अस्तित्व न होता तो कभी भी इतने प्रकार के अर्थ न प्राप्त होते । इस दृष्टि से भी व्यंजना की मान्यता और वाच्य से उसका भिन्नत्व अनिवार्य है । मम्मट का यह विवेचन ध्वनिकार की इन पंक्तियों से आंशिक रूप में अनुप्राणित है- वाच्य

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है बालबोधिनी टीका पृष्ठ-२४० ।

वाचकत्वं शब्दस्य विशेष: । वाचकत्वं हि तस्य विशेषस्य नियत आत्मा । व्युत्पत्ति-कालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् । स त्वनियत: औपाधिकत्वात् । प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतिरितरथा त्वप्रतीते: । (ध्वन्यालोक ३.३३) ।

वाच्य-व्यंग्य के भेद के आधार ::- ध्वन्यालोककार ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की चौथी कारिका के अन्तर्गत तथा तृतीय उद्योत की ३३वीं कारिका के अन्तर्गत वाच्य और व्यंग्य के परस्पर भेद को प्रकट किया है । उन्हीं के आधार पर मम्मट ने यहाँ दोनों के भेद का सुसम्बद्ध व सुसंगठित स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । यद्यपि अधिकांश यहाँ पर फिर भी मम्मट की वस्तुपुरक शैली के फलस्वरूप यह उनका निजी अपना सा प्रतीत होता है । उन्होंने वाच्य-व्यंग्य भेद बताने वाले आठ कारणों को प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार हैं-- (१) स्वरूपभेद (२) प्रतीति भेद (३) कालभेद (४) आश्रयभेद (५) निमित्तभेद (६) कार्यभेद (७) संख्याभेद (८) विषयभेद । इन्हीं का अनुसरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने भी वाच्य-व्यंग्य में आठ प्रकार के भेद गिनाये हैं। संख्याभेद का व्याख्यान मम्मट के अनुसार ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है । अन्यभेदों का स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है ।

स्वरूपभेद ::- व्यंग्यार्थ का स्वरूप वाच्यार्थ के स्वरूप से सर्वथा भिन्न होता है । मम्मट ने इस कथन को तीन उदाहरणों से पुष्ट किया है जो इस प्रकार हैं--

(१) 'नि:शेषच्युतचन्दनम् स्तनतटम्' इत्यादि श्लोक में वाच्यार्थ का स्वरूप निषेधपरक है जब कि व्यंग्यार्थ का विधि परक । अत: दोनों में स्पष्टरूप भेद है ।

(२) मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्या: समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बा: किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।।

इसमें वाच्यार्थ का स्वरूप संशयात्मक है जब कि व्यंग्यार्थ शान्त या शृंगार किसी एक में निश्चित हो जाता है ।

(३) इसी प्रकार "क्षआवनिपदयो" इत्यादि श्लोक में वाच्य का स्वरूप निन्दापरक तथा व्यंग्य का स्तुतिपरक है।१ अतः स्वरूप भेद के कारण भी वाच्य और व्यंग्य भिन्न-भिन्न हैं। मम्मट ने केवल दो प्रकार स्वरूप तथा संख्या गत भेद को सोदाहरण प्रस्तुत किया। शेष भेदों को टीकाकारों ने ~~टीकाकारों~~ ने विस्तार प्रदान किया जो उनका योगदान समझना चाहिए अतः उनका भी स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है।

कालभेद::- वाच्य और व्यंग्य में पूर्व पश्चात् भाव से प्रतीति होने के कारण दोनों में कालभेद होता है। प्रदीपकार ने इसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए बताया है कि सर्व प्रथम वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। तदनु व्यंग्यार्थ की। इस प्रकार से व्यंग्य वाच्य के पश्चात् प्रतीत होता है। यही दोनों में कालभेद है।२

आश्रयभेद::- वाच्य के शब्दाश्रित होने से तथा व्यंग्य के शब्द, शब्दैकदेश, अर्थ, शब्दार्थ, वर्ण तथा रचना पर आश्रित होने से दोनों में आश्रय का भेद होता है। यह मम्मट का कथन है। भाव यह है कि केवल शब्द से ही वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः केवल शब्द ही उसका आश्रय है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्द प्रकृतिप्रत्ययादिरूप शब्दैकदेश, शब्दार्थ, वर्ण तथा रचनादि अनेक आश्रयों से होती है। अतः आश्रय भेद की दृष्टि से भी दोनों में भेद होता है।३

निमित्तभेद::- वाच्यार्थ का ज्ञान व्याकरण कोशादि शब्द की शिक्षा देने वाले साधनों से होता है और वे ही वाच्यार्थ के निमित्त हैं। व्यंग्यार्थ का बोध केवल सहृदयों को होता है, वह भी उन सहृदयों को जिन्हें शब्दबोध के साथ ही प्रकरण वक्तृ बोद्धव्य आदि का ज्ञान रहता है और जिनकी प्रतिभा निर्मल होती है। अतएव व्यंग्यार्थ बोध का निमित्त है - प्रकरणादि सहित प्रतिभा की निर्मलता और शब्द का ज्ञान। यही दोनों का निमित्त भेद है। व्याख्याकार ने भी इस तथ्य को इस कारिका से प्रस्तुत किया है -

---

(१) द्रष्टव्य है काव्यप्रकाश पंचम उल्लास उदाहरण- १३५।
(२) पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य(मम्मट)। पूर्वं हि वाच्यः प्रतीयते पश्चात् व्यंग्य इति। प्रदीप पृष्ठ- २२६।
(३) वाच्यस्य शब्दमात्रं आश्रयः प्रतीयमानस्य तु पदतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनेषु आश्रयभेदः। प्रदीप पृष्ठ- २२६।

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।। ध्वन्यालोक १।७ ।

कार्यभेद::- वाच्य और व्यंग्य के कार्य या प्रभाव पृथक्-पृथक् होते हैं। जिससे वाच्यप्रतीति होती है वह बोधापदव्यपदेश्य होता है। और जिससे व्यंग्य की प्रतीति होती है वह बोधा के साथ ही सहृदय भी कहा जाता है। अतः दोनों भिन्न-भिन्न व्यापारात्म कार्य के जनक होते हैं। व दूसरे यह भी कि वाच्यार्थ से जिसका बोध होता है वह चमत्कारजनक नहीं होता जब कि व्यंग्य से चमत्कार की प्रतीति होती है।१ प्रदीपकार ने यह भी व्यक्त किया है कि वाच्य से केवल व्युत्पन्न व्याकरण को ही अर्थ की प्रतीति होती है जब कि व्यंग्य के द्वारा विदग्धपदवाच्य सहृदय को विच्छित्ति का आभास होता है।

विषयभेद::- इसको स्पष्ट करने के लिए मम्मट ने प्राकृतगाथा का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसकी छाया इस प्रकार है --

"कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।

ज्ञातव्य है कि इस उदाहरण को प्रायः सभी ध्वनिवादी आलंकारिकों ने उद्धृत किया है। उपपति के द्वारा दष्ट अधर को देखकर क्रुद्ध होने वाले पति के प्रति सखी की निर्दोषता व्यक्त करने के हेतु कोई विदग्धा सखी से कहती है। इसमें नायिका को उपालम्भ दिया जा रहा है। अतः अविनीतत्वरूप वाच्यार्थ का विषय नायिका है। इसे भ्रमर ने ही काटा है न कि अन्य किसी ने इस व्यंग्यार्थ का विषय वहोतासिन है। इसके सम्बन्ध में और कोई शंका न करनी चाहिए इस व्यंग्यार्थ का विषय सास इत्यादि है। इस प्रकार से यहाँ पर

---

(१) द्रष्टव्य है प्रदीप तथा उद्योत पृष्ठ-२२९ ।

वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का विषय भेद है।(१)

उक्त विवेचन से यह तथ्य भी आता है कि वाच्य और व्यंग्य में भेद अवश्य है। दोनों में इतना भेद प्रदर्शित करने के बाद भी यदि कोई दोनों में एकत्व बताने का दुराग्रह करे तो मम्मट का यही कहना है कि फिर तो नील और पीतादि में भी कोई भेद नहीं हो सकता। क्योंकि यह कहा भी गया है कि दो वस्तुओं में भेद तथा भेद का कारण यही है कि उनमें विरोधी धर्मों की प्रतीति हो और कारणों का भेद हो।(२)

केवल वाच्य और व्यंग्य अर्थों में ही भेद नहीं होता अपितु वाचकता और व्यंजकता भी सर्वथा भिन्न होती है। मम्मट इस सन्दर्भ में दो प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनमें से प्रथम के अनुसार वाचक पद तो सदा अर्थ की अपेक्षा रखता है। क्योंकि वाचक केवल उसी अर्थ की प्रतीति करा सकता है जिसमें उसका संकेत ग्रहण हो सके। अतएव वाचक के लिए संकेतग्रह की अपेक्षा रहती है। क्योंकि कभी-कभी अर्थ स्वयं भी व्यंजक होते हैं और निरर्थक वर्णादि भी व्यंजक हो सकते हैं। वाचक और व्यंजक के परस्पर भेद का यह एक प्रमाण है।

वाचक और व्यंजक भिन्न हैं, इस दृष्टि से भी कि जो अर्थ अभिधा-व्यापार अथवा तात्पर्य के द्वारा भी अप्राप्य रहता है उसका प्रतिपादक कौन सा व्यापार हो सकता है? यथा 'वानीरकुंजे' इत्यादि उदाहरण में कुंजप्रवेश रूप व्यंग्यार्थ अप्रधान है और अंगशिथिलता रूप वाच्यार्थ व्यंग्य की अपेक्षा अधिक विच्छित्ति दिखाता है। यहां पर व्यंग्यार्थ तात्पर्यमूल हो नहीं सकता, क्योंकि वाच्य ही

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) वाच्यस्य नायिका विषयः, इयं भ्रमरेण दष्टाधरा न तु उपपतिना, इति व्यंग्यस्य नायको विषयः आविष्कृताद् 'मर्मेव' वैदग्ध्यम्, इत्यस्य प्रतिवेशिनी विषयः इयम् मया रक्षणीया पुनरेवं स्वया न विधेयम्, इत्यस्योपपतिविषयः, भ्रमरेणास्याः अधरः खण्डितो न तु मयेति सपत्न्यो न च कार्या।काव्य०पृ० २४४

(२) काव्यप्रकाश पृष्ठ-२४४।

तात्पर्य का विषय है। इसे अभिधाप्रतिपाद्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मीमांसक "यत्परः शब्दः" इत्यादि न्याय से विधेय को ही अभिधेय मानते हैं। अस्तु। इस प्रकार के व्यंग्य की प्रतीति का हेतु अभिधा या तात्पर्यवृत्ति न होने के कारण शब्द का कोई व्यापार अवश्य मानना पड़ेगा। वही व्यापार व्यंजना है।(१)

<u>व्यंग्यार्थ की लक्षणागम्यता का निषेध:-</u> अभिधा की ही भाँति व्यंजना, लक्षणा से भी भिन्न है। मम्मट इस प्रसंग में सर्वप्रथम लक्षणावादी की ओर से पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उसका खण्डन करते हैं। पीछे के व्याख्यान में व्यंजना को अभिधा से भिन्न बताने के लिए प्रमुख प्रमाण यह दिया गया था कि वाच्यार्थ नियत रूप से एक ही होता है जब कि व्यंग्यार्थ नाना प्रकार का हो सकता है। लक्षणावादी के अनुसार जैसे व्यंग्यार्थ में व्यंजनावादी नानात्व की कल्पना करता है। वैसे लक्ष्यार्थ में भी वह अनेकत्व विद्यमान रहता है। (१) रामोऽस्मि सर्वं सहे (२) रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् (३) रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्। इन तीनों उदाहरणों में राम का वाच्यार्थ दाशरथि राम है किन्तु लक्ष्यार्थ तीनों में भिन्न-भिन्न। जैसे प्रथम उदाहरण में रामशब्द लक्षणा से अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व रामरूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है। द्वितीय में निष्करुणत्वादि धर्म लक्षणा से प्रस्तुत करता है और तृतीय उदाहरण में सद्गुणादि का निधान रामरूप धर्म लक्षणा से प्राप्त होता है। अतः व्यंग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ में भी नानात्व विद्यमान रहता है। इस आधार पर क्यों न लक्षणा के ही क्षेत्र में व्यंजना को अन्तर्भुक्त कर दिया जाय। व्यंजना नामक भिन्न व्यापार मानने की आवश्यकता ही क्या है?

इस पूर्व पक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हुए मम्मट का कथन है कि भले ही लक्ष्यार्थ में भी नानात्व होता है तथापि वह भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतसम्बन्ध ही होता है। क्योंकि मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ लक्षणा से प्रतीत नहीं हो सकता। इस दृष्टि से वह नियत सम्बन्ध वाला ही कहा जायेगा।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) काव्यप्रकाश पृष्ठ-२४५ ।

व्यंग्यार्थ कहीं पर नियत सम्बन्ध वाला, कहीं पर अनियतसम्बन्ध वाला होता है । अत: यह लक्षणा से सर्वथा भिन्न है ।१ दूसरे यह कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए मुख्यार्थबाधादि हेतुओं की अपेक्षा रहती है जब कि व्यंग्यार्थ का बोध उनके अभाव में भी हो सकता है । जैसे---

स्वश्रू अत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय ।
मा पथिक ! रात्र्यन्धक शय्यायामावयोर्निमंक्ष्यसि ।।

इसमें मुख्यार्थ बाधित हो नहीं हो रहा है फिर लक्षणा से अर्थ प्राप्त हो नहीं हो सकता । यहाँ बिना लक्षणा के ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है । अतएव लक्षणा से भिन्न व्यंजना व्यापार मानना ही पड़ेगा ।

इसी सन्दर्भ में मम्मट यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि लक्षणा में भी प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यंजना की शरण लेनी पड़ती है । यह बात द्वितीय उल्लासान्तर्गत "यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते" इत्यादि कारिका में बताई गई है । साथ ही जैसे अभिधा में संकेतग्रह आवश्यक है ठीक उसी प्रकार लक्षणा में भी मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय की अपेक्षा रहती ही है । अत: लक्षणा को अभिधा की पुच्छभूता अर्थात् पूंछ के समान पीछे चलने वाली कहा जा सकता है ।

इस प्रकार व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रकट करने के लिए मम्मट ने उक्त रूप से कई हेतु प्रस्तुत किया । तथापि इतने से ही विषय की सिद्धि नहीं हो जाती । क्योंकि अब तक के सभी तर्क प्राय: पूर्वपक्ष की उद्भावना एवं उनके खण्डनविषयक थे । सिद्धान्त रूप से मम्मट ऐसे चार और तथ्य को प्रकाशित करते हैं जो व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ को भिन्न सिद्ध करने में सक्षम हैं । प्रथम यह कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ के पश्चात् होती है । द्वितीय यह कि लक्षणा के अभाव में भी अभिधा के आधार पर भी व्यंजना का अस्तित्व होता है । अर्थात् अभिधामूलाव्यंजना में लक्षणा नहीं रहती । तृतीय - अभिधा और लक्षणा दोनों

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) काव्यप्रकाश पृष्ठ- २४६-४७ ।

के बिना भी व्यंजना होती है। आशय यह है कि इसे केवल इन दोनों अभिधा और लक्षणा की अनुगामिनी ही नहीं कहा जा सकता। वाच्यार्थ में पद वाचक होते हैं न कि वर्ण। किन्तु वर्णादि भी व्यंजक रूप में दिखाई पड़ते हैं। चतुर्थ विभाजक तत्त्व है कि अभिधा और लक्षणा केवल शब्द से ही सम्बन्धित होती हैं। किन्तु व्यंजना शब्द के साथ ही अशब्दरूप कटाक्ष भ्रूविक्षेपादि से भी सम्बन्धित है। अर्थात् इनसे भी किसी वस्तु की अभिव्यंजना होती है। इन चार भेदप्रकाशक तत्त्वों की मीमांसा से काव्यप्रकाशकार इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा इन तीनों व्यापारों से भिन्न कोई व्यापार अवश्य होता है, जिसे ध्वनन व्यंजन गमन इत्यादि नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।१

<u>नियत अनियतादि सम्बन्धकी समीक्षा :-</u> लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद बताने के अवसर पर मम्मट ने यह कहा था कि लक्ष्यार्थ सम्बन्धयुक्त होते हैं। यहाँ पर नियतादि सम्बन्धयुक्त होते हैं। यहाँ पर नियतादि का सोदाहरण स्वरूप टीकाकारों के अनुसार द्रष्टव्य है। पूर्वोक्त 'श्वश्रूरत्र शेते' इत्यादि तथा 'कस्य वा न भवति रोषो' इत्यादि उदाहरणों में व्यंग्यार्थ क्रमशः नियत सम्बन्ध तथा अनियत सम्बन्ध वाला है। मम्मट ने केवल इतना संकेत करके छोड़ दिया है। किन्तु नियत एवं अनियत पदों के अर्थ में टीकाकारों में मतभेद हो गया है। एक मत यह है कि नियत शब्द से अभिप्राय है प्रसिद्ध सम्बन्ध और अनियत से अप्रसिद्ध सम्बन्ध। प्रथम उदाहरण में शय्या प्रवेश रूप व्यंग्यार्थ है और तन्निषेधरूप वाच्यार्थ। यहाँ वाच्य और व्यंग्य में विरोध सम्बन्ध है। वह प्रसिद्धि से आपूर्ण है। और यही इसके सम्बन्ध का नियतत्व है। नायक के द्वारा यह समझ लेने पर कि भ्रमर के द्वारा ही इसका मुखदंशन है इस प्रकार के व्यंग्यार्थ के प्रतीत होने पर अविनीतत्व रूप वाच्यार्थ का कोई भी प्रसिद्ध सम्बन्ध नहीं है। इस स्थिति में किसी भी सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। यही इसका अनियत सम्बन्ध है।

प्रदीपकार ने किन्हीं दो मतों की समीक्षा कर अपने मत की स्थापना की है। तदनुसार कतिपय आचार्यों का कथन है कि नियत सम्बन्ध का अर्थ

है वाच्य और व्यंग्य का एक विषयकत्व। प्रथम उदाहरण में पथिकरूप एकविषयकत्व के कारण यहाँ नियतसम्बन्ध वाला व्यंग्य है। इसी प्रकार अनियत सम्बन्ध से अभिप्राय है वाच्य और व्यंग्य में भिन्न विषयकत्व। "कस्य वा न भवति" इत्यादि द्वितीय उदाहरण में वाच्यार्थ का विषय केवल सखी तथा व्यंग्यार्थ का नायक, प्रतिनायक, प्रतिवेशिनी, सपत्नी इत्यादि अनेक हैं। इसी कारण यहाँ व्यंग्यार्थ अनियतसम्बन्ध वाला है। प्रदीपकार के मत से वस्तुतः ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं होती जिससे लक्ष्य का नियत सम्बन्ध अथवा व्यंग्य का नियत अनियत सम्बन्ध होता हो।

दूसरे आचार्यों के अनुसार नियत सम्बन्ध में क्रम में एकत्व की प्रतीति होती है जब कि अनियत सम्बन्ध में केवल पति को ही एकत्व है एवं अन्य का अनेकत्व से प्रतीति होती है। यही नियत एवं अनियत सम्बन्ध का अभिप्राय है। यह भी मत समीचीन नहीं है। क्योंकि इस प्रकार से केवल वाच्य का ही एकत्व अनेकत्व से प्रतीति विषयकत्व रूप वैलक्षण्यमात्र कहा गया है, न कि व्यंग्य की प्रतीति का। अतः सिद्धान्त रूप से उस वाच्य के साथ आश्रयत्वरूप सम्बन्ध का नियंत्रण ही नियत सम्बन्धत्व है। यही प्रदीपकार का मत है।[2]

<u>परम्परित सम्बन्ध रूप व्यंग्यार्थ:</u>:- इसमें व्यंग्यार्थ निवाह्य निवाहकभाव से उत्पन्न होकर प्रतीत होता है।[3] जैसे--

"विपरीतरते लक्ष्मीः ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥"

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) तथाप्रत्ययरूपे व्यंग्ये तन्निमित्तभूतस्य वाच्यस्य विरोधसम्बन्धोऽस्ति। स च प्रसिद्धतयाक्लृप्त इति नियतत्वम्। - - - नायकेनावगते, भ्रमरेणास्या वास्यं दष्टं न तु पतिना, इति व्यंग्यार्थे विनीतत्वरूप वाच्यार्थस्य न कोऽपि प्रसिद्ध सम्बन्धोऽस्ति। इति कोऽपि कल्पनीय इत्यनियतत्वम्। विवरण पृष्ठ-१२४

(2) द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ-२३५।

(3) व्यंग्योऽर्थः निवाह्य-निवाहकतया सम्बन्धीभूय प्रतीयते। बालबोधिनी पृष्ठ-२५१

इसमें परम्परित सम्बन्ध वाला व्यंग्यार्थ है। हरि पद विष्णु के दक्षिण नेत्र की सूर्यात्मकता व्यक्त करता है। उसके बन्द कर देने से सूर्य का डूबना और उससे कमल का संकोच और उसमें भ्रमर का कमल में बन्द हो जाना और उनके बन्द हो जाने पर गुप्तांगों के अदर्शन से स्वच्छन्दतापूर्वक लक्ष्मी का विलास अभिव्यक्त होता है।

<u>अखण्डार्थतावाद में व्यंजना अनिवार्य:</u>:- अखण्डार्थतावाद वेदान्तियों का सिद्धान्त है अथवा वैयाकरणों का इस विषय में टीकाकारों में मतभेद है। आगे अवसर प्राप्त कर हम इसका उल्लेख करेंगे। यहाँ मम्मट की पंक्तियाँ द्रष्टव्य है।
"अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्या वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्, ये ऽप्याहुः तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षे ऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यंग्य एव।" इसमें "येऽप्याहुः" तक पूर्वपक्ष है। पंक्ति कुछ अस्पष्ट एवं क्लिष्ट हैं। वेदान्तियों का मत है कि वाक्य सर्वथा अखण्ड रूप है। उसमें क्रिया कारकत्व में विभाग नहीं हो सकता। कारण यह कि क्रियापद कारकमात्र का आश्रय लेते हैं और जब वेदान्ती संसार को ही मिथ्या मानते हैं तो उसमें धर्म-धर्मिभाव सम्भव ही नहीं। अतएव पदपदार्थ भाव से रहित वाक्य अखण्ड है और इस दशा में अर्थ ग्रहण भी अखण्ड रूप ही होगा। क्योंकि बुद्धिवाक्यार्थबोध के समय क्रिया कारकादि भाव को ग्रहण नहीं करती। अतएव वाक्यार्थ ही वाच्य है और वाक्य ही वाचक। व्यंग्यार्थ का भी बोध वाक्य के द्वारा होता है फिर व्यंजना व्यापार क्यों माना जाय? यह है पूर्वपक्ष का आशय।

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए मम्मट का यह कथन है कि अविद्यादशा में जगत् के मिथ्या होते हुए भी व्यवहार दशा में उसे स्वीकार ही करना पड़ता है। व्यावहारिक सत्य को मानकर अखण्ड वाक्य में भी पद, पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। जैसे व्यवहार में वे पद पदार्थ की कल्पना कर सकते हैं वैसे उन्हें व्यंजना व्यापार स्वीकार कर "निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं" इत्यादि में विधेय रूप वाच्य में निषिद्ध व्यंग्य भी मानना चाहिए।

<u>वेदान्त का अखण्डार्थतावाद ::-</u> ऊपर संकेत कर चुके हैं कि मम्मट के इस व्याख्यान में टीकाकारों में मतभेद है। मतभेद का मुख्य कारण यह है कि यह स्पष्ट नहीं होता कि मम्मट ने अपना पूर्वपक्ष वेदान्तियों को लक्ष्य में रखकर किया है अथवा वैयाकरणों को। प्रदीप, सुधासागर तथा सम्बोधिनी इत्यादि टीकाओं के अनुसार मम्मट का पूर्वपक्ष वेदान्त से सम्बन्ध रखता है। उनके यहाँ, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नास्ति किंचन, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, इत्यादि वाक्यों में अखण्डबुद्धि उत्पन्न होती है। इस अखण्डबुद्धि से पूर्णरूप से ग्रहण किया हुआ ब्रह्म ही उपर्युक्त वाक्यों का अर्थ है। अतः वही उन सभी वाक्यों का वाक्यार्थ भी कहा जायेगा और वाक्य ही अखण्डरूप के वाचक होंगे।1 इस पूर्वपक्ष का समाधान ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है।

<u>वैयाकरणों का अखण्डार्थतावाद ::-</u> वैद्यनाथ के अनुसार मम्मट के पूर्वपक्ष का आधार वैयाकरणों का अखण्डार्थतावाद है। क्योंकि वेदान्तियों के यहाँ तो लक्षणा को मान्यता हुई है। वैयाकरणों का अखण्डार्थतावाद का सिद्धान्त यहाँ द्रष्टव्य है। वैयाकरण पद में वर्ण तथा वाक्य में पदों को पृथक्-पृथक् नहीं मानते। वाक्यप्रदीपकार भर्तृहरि ने स्वयं लिखा है--

"ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥
उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

इसप्रकार वैद्यनाथ के विवेचन का आधार यहीं से है। क्योंकि उन्होंने स्वयं दो खण्डों में इसे उद्धृत किया है। इसका भाव यह है कि जैसे ब्राह्मण

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" - - - - इत्यादि श्रुतिवाक्यजन्यया अखण्डबुद्ध्या निर्गृहीतः परब्रह्मात्मको वाक्यार्थ एवं वाच्योऽखण्डमेव वाक्यं वाचकमिति तद्बुद्धिनिमित्तम् ।
सुधासागर पृष्ठ- ३०२ तथा प्रदीप पृष्ठ- २३६ ।

टकराना शेष है। व्यंजनावृत्ति के प्रबल विरोधी महिमभट्ट हैं। इन्होंने ध्वनिध्वंस के लिए व्यक्तिविवेक की रचना की थी। उनके खण्डन का सार मम्मट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-- वाच्य से असम्बद्ध व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो होती नहीं क्योंकि ऐसा होने पर कोई भी अर्थ प्राप्त होने लगेगा। अतएव व्यंग्य-व्यंजक भाव किंचि- किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित अवश्य रहता है। क्योंकि उनमें नियत सम्बन्ध (व्याप्ति) न होने पर उसकी नियंत्रित प्रतीति न होगी। अतएव त्रिप्रकारक लिंग (हेतु) से जैसे लिंगी का अनुमान होता है, उसी रूप में व्यंग्य-व्यंजक भाव का भी पर्यवसान हो जायेगा। पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्तत्व ये लिंग के रूपत्रय हैं। भाव यह है कि अनुमान में जैसे अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध रहता है ठीक उसी को व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध के स्थान पर माना जा सकता है। जैसे "भ्रम धार्मिक विस्रब्धः" इत्यादि उदाहरण में कुत्ते के मर जाने से गृह में भ्रमण का विधान किया गया है और वह सिंह के विद्यमान होने के कारण भ्रमण-निषेध का अनुमान कराता है। व्याप्ति का नियम यहाँ इस प्रकार है-- जो यहाँ भीरु का भ्रमण है उसके पूर्व भयकारण का अभाव होता है। और गोदावरी के किनारे सिंह के होने का ज्ञान है। इस प्रकार भीरु के भ्रमण के व्यापक भय कारणाज्ञान के विरुद्ध सिंह रूप भयकारण की प्राप्ति हो रही है।

पूर्वपक्षी का भाव यह है कि उक्त उदाहरण में सिंह कृत कुत्ते की समाप्ति से गृहभ्रमण का विधानरूप वाच्यार्थ ही व्यंजक है। व्याप्ति ग्रहण इस प्रकार है-- यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणाभावज्ञानपूर्वकम्। किन्तु गोदावरी के किनारे सिंह है अत: वहाँ भीरुभ्रमण का निषेध (व्यंग्य) हो रहा है। यहाँपर व्याप्ति इस प्रकार बनेगी- गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथागृहे। सार यह है कि जैसे उक्त उदाहरण में अनुमान के द्वारा व्यंग्य की प्रतीति हो रही है ठीक उसी प्रकार रसादि की प्रतीति अनुमान द्वारा हो ही जायेगी। अलग से व्यंजना-वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हुए मम्मट का कथन है कि इस प्रकार की व्याप्ति से स्वभीरुभ्रमणायोग्यत्व साध्य है और सिंहवत्त्वात् हेतु। किन्तु यह हेतु ही असद्धेतु अर्थात् हेत्वाभास है। तब यह साध्य की क्या सिद्धि कर

पायेगा। यह हेतु हेत्वाभास इस प्रकार है-- भीरु व्यक्ति भी स्वामी, गुरु इत्यादि की आज्ञा से अथवा प्रियानुराग या इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से भी भय का कारण होते हुए भी भ्रमण करता है। अतः यह हेतु नहीं अपितु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। यह भी सम्भव है कि कुत्ते से डरता हो किन्तु वीर होने के कारण सिंह से नहीं डरता। अतः यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी है। तीसरे यह कि गोदावरी तीर पर सिंह का होना प्रत्यक्षतया अनुमान किसी प्रमाण से निश्चित नहीं हुआ है। केवल वचनमात्र से निश्चित होता है। क्योंकि अर्थ के साथ वचन का प्रतिबन्ध न होने से वचन का कोई प्रमाण नहीं है। अतः यहाँ स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास है। वस्तु अब यहाँ हेतु हो तीन दोषों से युक्त है तब अनुमान द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि उदाहरण में भी पूर्वपक्षी की मान्यता तर्क की कसौटी पर ध्वस्त हो जाती है। महिमभट्ट ने चन्दनादि के छूट जाने को अनुमापक के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु ये अन्य कारणों से भी सम्भव हो सकते हैं। जैसे कि इसी उदाहरण में स्नान के वाक्य में वर्णित है। अतएव केवल उपभोग में ही उनकी व्याप्ति नहीं है। इस दृष्टि से यहाँ भी अनैकान्तिक रूप हेत्वाभास है। फिर वे अनुमापक नहीं हो सकते। साथ ही व्यंजनावादी ने अधम पद से ही चन्दनच्यवनादि का व्यंजकत्व सिद्ध किया है। परन्तु वह अधमत्व न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है और न अनुमान से ही। वह तो वचनमात्र से उक्त है। फिर इससे अनुमान द्वारा कैसे साध्य की सिद्धि हो सकती है। परन्तु व्यंजनावादी के सिद्धान्त से ऐसा बात नहीं होती। व्याप्ति के अभाव में भी इस प्रकार के अर्थ से उक्त अर्थ अभिव्यक्त होता है। सामान्यतः ऐसा करने वाले व्यंजनावादी के सिद्धान्त से यह दोष नहीं माना जा सकता।[1]

उक्त खण्डन के साथ मम्मट का व्यंजना-प्रतिष्ठापन रूप विवेचन समाप्त हो जाता है। वस्तुतः ध्वनिपरम्परा के प्रबल पोषक मम्मट के लिए यह

---

(१) काव्यप्रकाश पृष्ठ-२५६ ।

नितान्त आवश्यक था कि वे ध्वनिविरोधी तत्त्वों को प्रकाश में लाते और उनका समाधानात्मक उत्तर देते। ज्ञातव्य है कि ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य ने सर्वप्रथम ध्वन्यभाववादियों का समुचित उल्लेख किया। लोचनकार ने इस दिशा में और भी प्रयास किया। इसी अधूरी बात की पूर्ति मम्मट ने की। ध्वन्यालोक के पश्चात् महिम भट्ट ने व्यंजना का जो प्रबल विरोध किया उसका अनूठा उत्तर देकर मम्मट ने ध्वनि-समर्थक परम्परा में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में टंकित करा दिया। मम्मट के व्यंजनासमर्थक तर्क सूर्यालोक के समान प्रकाश को प्राप्त हुए जिनके समक्ष विरोधियों के तर्क तारों के समान ओझल होने लगे। इस सन्दर्भ में मम्मट का योगदान चिरस्मरणीय है।

—0—
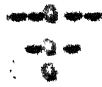
## -- चित्रकाव्य :: --

उत्तम और मध्यम काव्य के समान चित्रकाव्य का भी उल्लेख मम्मट ने प्रथम उल्लास में किया है। प्रथम दो काव्य भेदों का सर्वांगीण विवेचन उन्होंने पृथक् रूप से काव्यप्रकाश के चतुर्थ एवं पंचम उल्लास में प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से उन्हें अधमकाव्य अथवा चित्रकाव्य को भी स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करना था। अतः काव्यप्रकाश का षष्ठ उल्लास चित्रकाव्य का अतिसंक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करता है। यद्यपि यहाँ पर चित्रकाव्य का जितना निरूपण है वह न भी दिया जाय तो भी प्रथम उल्लास में प्रस्तुत चित्रकाव्य के विवेचन से ही काम चल सकता था। क्योंकि इसके दो भेद एवं उनके उदाहरण दोनों स्थलों पर हैं। उदाहरणों में भिन्नता अवश्य है किन्तु उसका यहाँ पर कोई विशेष महत्त्व नहीं है। प्रथम उल्लास में 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ' इत्यादि तथा 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' इत्यादि शब्दचित्र तथा अर्थचित्र के क्रमशः उदाहरणदिये गये हैं। षष्ठ उल्लास में --

'प्रथममरुणच्छायः' इत्यादि तथा 'ते दृष्टिमात्र पतिता' इत्यादि उदाहरण क्रमशः दोनों भेदों के प्राप्त होते हैं। यहाँ पर जितना अंश नवीन है उसका स्वरूप विवेच्य है।

सर्वप्रथम मम्मट ने यह स्पष्ट किया है कि प्रथम उल्लास में चित्रकाव्य के जो शब्द चित्र और अर्थचित्र रूप दो भेद किये गये हैं वे गुणप्राधान्य की दृष्टि से ही हैं। इसका यह आशय नहीं है कि शब्दचित्र काव्य में अर्थचित्र का अंश नहीं हो सकता अथवा अर्थ चित्र काव्य में शब्दचित्र का। 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय से प्रधानता की दृष्टि से ही शब्द अथवा अर्थ चित्र कहा गया है।१

---

(१) गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः। काव्य प्रकाश ६।४८ ।

तथा

'न तु शब्दचित्रे अर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रेऽवा शब्दस्य' वृत्तिभाग ।

मम्मट का यह कथन भामह के काव्यालंकार से अनुप्राणित है । उन्होंने इस प्रसंग में भामह के तीन कारिकाओं को अक्षरश: उद्धृत किया है ।[1] उनमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि कतिपय आलंकारिक रूपकादि अर्थालंकारों को ही प्रधानता मानते हैं । शब्दालंकार तो उनकी दृष्टि में अलंकार ही नहीं है । अन्य आलंकारिकों के अनुसार रूपकादि अलंकार की प्रतीति अर्थबोध के पश्चात् होती है । अत: उसे अप्रधान अलंकार कहा जाना चाहिए । शब्दालंकार की झटिति प्रतीति होने के कारण वही प्रधान है । किन्तु भामह को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भेद से दोनों ही अभीष्ट है । इसी आधार पर मम्मट ने भी शब्दचित्र तथा अर्थचित्र दोनों में समन्वय उपस्थित किया है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में मम्मट एक और तथ्य को प्रकाशित करते हैं । वह यह कि इन दोनों भेदों को अव्यंग्य क्यों कहा जाता है जब कि प्रत्येक काव्य का अन्तत: विभावादि में ही पर्यवसान होता है । साथ ही रस की सत्ता किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहती है। इसका कारण यह है कि चित्र काव्य की इन दोनों भेदों में रस की स्पष्टरूप से प्रतीति नहीं होती । विभावादि के होते हुए भी यदि सहृदयों को रस की प्रतीति न हो तो वहां पर रस की सत्ता का महत्त्व ही क्या ? इसी दृष्टि से इसको व्यंग्यरहित अधमकाव्य कहा गया है ।[2]

---

(१) काव्यप्रकाश पृष्ठ-२५८-२५९ ।
(२) काव्यप्रकाश पृष्ठ-२५८-२५९ ।

# चतुर्थ - अध्याय

-:वाक्यगत दोष :-

पदगत दोषों का सोदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करने के पश्चात् मम्मट ने वाक्यगत दोषों पर विचार किया है। जिनके लक्षण उदाहरणनिष्ठ हैं। तद्विषयक कारिका इस प्रकार है :-

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते, पदस्यांशेऽपि केचन ।। का०७। ५२

आशय यह है कि च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक इन तीन पूर्वोक्त दोष भेदों को छोड़ कर शेष त्रयोदश वाक्यगत भी होते हैं। इन त्रयोदश भेदों में से कुछ भेद पदांश (पदैकदेश) में भी पाये जाते हैं।

इस प्रकार से मम्मट ने वाक्यगत दोषों के विशिष्टीकरण का निर्देश तो कर दिया, किन्तु दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों के विवेचन से सर्वथा मौन हैं। उनमें से एक तो यह कि च्युतसंस्कृति आदि तीनों दोष वाक्यगत क्यों नहीं हो सकते? पदगत तथा वाक्यगत दोषों में अन्तर क्या है? इसका समाधान अनेक टीकाओं में प्रस्तुत किया गया है। कुछ महत्त्वपूर्ण व्याख्यान यहाँ द्रष्टव्य है।

एक मत के अनुसार अनेक पदवृत्ति दोष वाक्य दोष कहा जाता है। स्वभावतः अन्वयबोध स्वरूप में अयोग्य च्युतसंस्कृतादि दोषत्रय अन्वयबोध में अन्य पदों के सान्निध्य के अभाव के कारण तथा साकांक्षत्व के अभाव के कारण वाक्य दोष नहीं हो सकते। अतएव मम्मट ने इन तीनों को वाक्य दोष से पृथक् कर दिया है।

अन्यमत के अनुसार समान्वयबोधक अनेकपद गत वाक्य दोष होता है। व्याकरण संस्कार पद में ही होता है। अतएव च्युतसंस्कृति दोष वाक्यगत नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्वतन्त्रता पूर्वक शब्दों के अनुपस्थापक असमर्थ एवं निरर्थक "च" "वै" आदि का पूर्ण रूप से वाक्यत्व नहीं होता। अतएव वे भी वाक्यगामी दोष नहीं

कही जा सकती ।

प्रदीपकार ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि विवक्षित धर्मों के प्रत्यायक शब्दानुक्ति होने पर नानापदक्लिष्टत्व ही वहां वाक्यक्लिष्टत्व है ।[1] प्रदीपकार का व्याख्यान भी उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि परवर्ती विवरणकार ने सुस्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत किया है । तदनुसार विशिष्ट एकार्थतात्पर्यक पदसमूह वाक्य है । उसकी उपेक्षा से हुआ दोष वाक्य दोष है ।[2] सार यह है कि एक पद नहीं श्रुतिकटु आदि दोष पद दोष हैऔर अनेक पद जहाँ श्रुतिकट्वादि दोष वाक्यदोष है यही दोनों में अन्तर कहा जा सकता है ।

वाक्यदोष तथा पदांश दोष दोनों का संकेत प्रस्तुत करने के साथ ही मम्मट उदाहरणों की भरमार कर देते हैं । यदि देखा जाय तो यहां पर उन सब उदाहरणों की संख्या का गिनना कठिन है। उन सबका विवेचन यहां पर केवल प्रस्तुत प्रबंध के कलेवर को गुरु करना ही होगा । क्योंकि किस दोष विशेष का कौन उदाहरण है और वह दोष कैसे उसमें घटित होता है केवल इतना ही विवेचन मम्मट तथा उनके टीकाकारों ने प्रस्तुत किया है । अतएव उनकी उपेक्षा यहां आवश्यक है । तथापि वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष का उदाहरण बहुधा विवेच्य होने के कारण यहां द्रष्टव्य है :-

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय: तत्राप्यसौ तापस:,
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण :।
> धिग्-धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै: किमेभिर्भुजै: ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- विवक्षितधर्मप्रत्यायकानुक्तित्वे सति नानापदक्लिष्टत्वमात्र वाक्य-
   वृत्तित्वमभिप्रेतम् । प्रदीप पृ०२४६

२- विशिष्टैकार्थतात्पर्यकपदसमूहो वाक्यम्, तदपेक्षादोषत्वमेव वाक्य-
   दोषत्वम् । विवरण पृ० १३० ।

यत् शब्द नित्य सापेक्ष है और यत् आदि विधेयांश के परिचायक होते हैं । उक्त क्रियाओं के सम्बन्ध से वाक्य में अविमृष्ट विधेयांश दोष आ जाता है ।

पदांश दोष:- वाक्य दोष विषयक प्रकरण में पदगत दोषों के प्रसंग तक मम्मट ने बताया है कि पूर्वोक्त १६ दोष भेदों में पदांश दोष कुछ में ही होता है । यथासम्भव जहाँ पर ये दोष पाये जाते हैं उनकी सोदाहरण मीमांसा भी की गई है । इस प्रसंग में उन्होंने छः भेदों में पदांश दोष प्रदर्शित किया है जिनका क्रम इस प्रकार है- पदांशगत (१) श्रुतिकटु (२) निहितार्थ (३) निरर्थकत्व (४) अवाचकत्व (५) अश्लीलत्व (६) सन्दिग्धत्व । इनके उदाहरण भी मम्मट ने दिया है और टीकाकारों ने उस दोष विवेचन को उनमें प्रकाशित किया है । बिन्दुमात्र पदांशगत श्रुतिकटु दोष का उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है:-

> तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
> अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥

यहाँ पर सिद्ध्यै और लब्ध्यै पदों में द्ध्यै तथा ब्ध्यै अंश श्रुतिकटु है, अतः यहाँ पदांशगत श्रुतिकटु दोष विद्यमान है ।

## -:वाक्यमात्र गामी दोष:-

मम्मट ने यहाँ तक पद, वाक्य तथा पदांशगत दोषों का सामान्य स्वरूप प्रस्तुत किया है । परन्तु उन्होंने इक्कीस ऐसे दोषों को प्रकट किया है, जो केवल वाक्यमात्र में होते हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं - (१) प्रतिकूलवर्ण (२) उपहत विसर्ग (३) लुप्त विसर्ग (४) विसन्धि (५) हतवृत्त (६) न्यूनपद (७) अधिक पद (८) कथितपद (९) पतत्प्रकर्ष (१०) समाप्तपुनरात्त (११) अर्धान्तरैकवाचक (१२) अभवन्मतयोग (१३) अनभिहितवाच्य (१४) अपदस्थपद (१५) अपदस्थसमास (१६) संकीर्ण (१७) गर्भित (१८) प्रसिद्धिहत (१९) भग्नप्रक्रम (२०) अक्रम (२१) अमत परार्थ ।

यहाँ " तद् उचित""" उचितउदार" तथा "निर्यद्गत उदार" इत्यादि स्थलों में " लोपः शाकल्यस्य" सूत्र से विहित विसर्ग लोप "असद्गुणः" नैमित्तिक गुण के प्रति पूर्वत्रासिद्धम् इस सूत्र से असिद्ध है। अतः यहाँ असिद्ध हेतुक आनुशासनिक विश्लेषण से विसन्धित्वाख्य दोष है।

अश्लीलत्व:- सन्धि वैरूप्य के कारण अश्लीलत्व दोष भी वाक्य में आ जाता है। यथा-

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।
अयमुत्पतते पत्त्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु॥

यहाँ पर चलण्डामर तथा रुचिंकुरु इत्यादि में सन्धि करने से जो सन्धियुक्त पद बना है वह अश्लीलत्व है। अतः यहाँ अश्लील नामक विसन्धि से वाक्य दुष्ट है।

इसी प्रकार उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते इत्यादि उदाहरण के इन्हीं स्थलों में श्रुतिकटुत्व रूप कष्टत्व है। अतः यहाँ पर कष्टत्वरूप विसन्धि है।

(४) हतवृत्त:- वह वाक्य भी दुष्ट कहा जायगा जिसमें निर्दोष छन्द विद्यमान न हो। छन्द निर्दोष युक्त रूप से तीन प्रकार से हो सकते हैं।

(१)अलक्ष्य (२) अप्राप्तगुरुभावान्तलघु तथा (३) रसाननुगुणत्व। इनका संकेत मम्मट ने स्वयं प्रस्तुत कर दिया है। टीकाकारों के अनुसार (१) अलक्ष्य छन्द वह है, जो छन्दःशास्त्र के नियमों का अनुसरण न करता हो अथवा करते हुये भी श्रवण प्रिय न हो। द्वितीय चरण के अन्त में ऐसा लघुवर्ण हो कि जिसे छन्दः शास्त्र के नियम बाधाबाध्य से गुरु ही माना गया हो, किन्तु वह गुरुवर्ण का कार्य न करता हो- इसे मम्मट अप्राप्तगुरु-भावान्त लघु कहते हैं और तृतीय भेद है कि जो छन्द प्रस्तुत रस के अनुकूल न हो, वह भी वाक्य को दुष्ट बनाता है।

अलक्ष्यवृत्त भी तीन प्रकार का सम्भव है (१) छन्दोभंग से (२) यतिभंग से और (३) किसी स्थल विशेष पर गण विशेष का योग न होने से।

<u>प्रकृतिप्रक्रमभंग:</u>- मम्मट ने इसका उदाहरण 'नाथे निशाया नियतेर्नि-
योगादस्तंगते हन्त निशाऽपि याता' इत्यादि पद्य प्रस्तुत किया है।
इस वाक्य का उपक्रम (गते) गम् धातुरूप प्रकृति से किया गया है
किन्तु उपसंहार या धातु(याता) से। अतएव यहां पर प्रकृतिप्रक्रम भंग
दोष है। टीकाकारों ने उक्त विवेचन को इस प्रकार स्पष्ट किया है-
पृथक् पृथक् शब्दों से बोधित अर्थ भी पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। क्योंकि
[illegible] 'सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा [illegible]' के अनुसार
शब्द से प्रतीत ज्ञान में शब्द का भी भान होता है। उक्त उदाहरण में गम्
और 'या' धातुओं से बोधित गमनरूप एक ही अर्थ भिन्न रूप से प्रतीत होता
है। अतएव 'याता' पद गमन का बोध तो अवश्य कराता है किन्तु अनुगमन
अर्थ नहीं और यहां पर निशा द्वारा अस्तंगत चन्द्रमा का अनुगमन रूप अर्थ
ही अभीष्ट है। यदि उदाहरण में 'गता निशाऽपि' प्रयोग किया जाय
तो कोई दोष नहीं रह जायेगा।

इस प्रसंग में मम्मट ने एक पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उसका
खण्डन किया है। वह यह कि वामनादि आचार्यों ने 'नैकं पदं द्विः
प्रयोज्यं प्रायेण' अर्थात् एक ही पद दो बार प्रयुक्त न होना चाहिये।
इत्यादि कहा है। स्वयं मम्मट ने भी कथित पद दुष्ट होता है कहा है।
तब उक्त उदाहरण में एक ही 'गम्' धातु रूप प्रकृति को दो बार प्रयोग
करने का आग्रह क्यों किया गया है। इसका समाधान यह है
कि जहां उद्देश्य की प्रतिनिर्देश्य होता है, उससे भिन्न स्थल पर शब्द का दो
बार प्रयोग दोष माना गया है, अन्यथा दो बार प्रयोग करना ही आवश्यक
है। भाव यह है कि जहां पर पूर्व प्रयुक्त अर्थों की एक रूपता की अनुरक्षा
रखने के लिये पुनर्निर्दिष्ट अर्थ का उसी शब्द एवं उसी रूप में पुनर्निर्देश अपेक्ष्य
हो, तो वहां एक ही पद का दो बार प्रयोग आवश्यक होता है। यथा- उदये
सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' इत्यादि दोनों वाक्यों में उद्देश्य है सविता
तथा विधेय है ताम्रता। अतः जब दो वाक्यों में एक ही वस्तु उद्देश्य या
— -- — विधेय हो तब शब्द का पुनः प्रयोग आवश्यक ही होता है।

विवरणकार ने अक्रमत्व दोष का अन्य दोषों से भेद प्रकाशित किया है। तदनुसार जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ का बोधक सन्निवेश रूप रचना ही नहीं होता। वहाँ पर अक्रमत्व दोष होता है। प्रस्तुतार्थ बोध कराने पर भी यदि पद सन्निवेश का औचित्य नहीं है तो वहाँ अस्थान पदत्वदोष है। साथ ही जहाँ पर क्रम ही अनुचित है वहाँ दुष्क्रमत्व दोष होता है और उपक्रमानुसार क्रम पूर्व से भी भी भावना पर प्रक्रमभंग दोष कहा जाता है। यही इनमें परस्पर भेद है।[1] इसी प्रकार जहाँ कोई अन्य अर्थ, प्रस्तुत अर्थ से भिन्न होता है वहाँ वाक्य का अमत दोष होता है इस उदाहरण से मम्मट ने इसे स्पष्ट किया है।

## अर्थ-दोष

शब्द और वाक्य की प्रतीति प्रथम होती है। तदनु अर्थ की प्रतीति। अतएव मम्मट ने पद वाक्य दोष के विश्लेषण के पश्चात् अर्थ दोष का विवेचन किया है। अपुष्टार्थादिक तेईस अर्थ दोष होते हैं अपुष्ट इत्यादि रूप पद के रूप में दुष्ट अर्थ के नाम हैं। अपने यौगिक अर्थ से ये लक्षणा व्यापार का कार्य करते हैं। जैसे दुष्टार्थाद्भिन्न अर्थः दोषः। इत्यादि।

जिन २३ अर्थ दोषों के नाम मम्मट ने गिनाया है उनकी तालिका इस प्रकार है :-(१) अपुष्ट (२) कष्ट (३) व्याहत (४) पुनरुक्त (५) दुष्क्रम (६) ग्राम्य (७) सन्दिग्ध निर्हेतु (९) प्रसिद्धिविरुद्ध (१०) विद्याविरुद्ध (११) अनवीकृत (१२) सनियमपरिवृत्ति (१३) अनियम परिवृत्ति (१४) विशेष परिवृत्ति (१५) अविशेष परिवृत्ति (१६) साकांक्ष (१७) अपदमुक्त (१८) सहचरभिन्न (१९) प्रकाशित विरुद्ध (२०) विध्ययुक्त (२१) अनुवाद्ययुक्त (२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत (२३) अश्लील। इनका क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है।

---

१- पदसन्निवेशक्रमरचनायाः प्रस्तुतार्थाप्रत्यायकत्वे अक्रमत्वं प्रत्यायकत्वेऽप्यनौचित्येऽस्थानस्थपदता, अर्थस्यानौचित्ये, तु दुष्क्रमत्वम्, उपक्रमोपक्रमत्वोपसंहारौ तौ प्रक्रमभंग इत्येतेषां भेदः (विवरण पृष्ठ १७१।

यहाँ व्याहत दोष है। वाक्यार्थ की प्रतीति दुष्कराधीन है तथा यह क्लिष्ट दोष है।

पुनरुक्तदोष वह है जो किसी शब्द के द्वारा प्राप्त अर्थ का पुनः पर्यायादि शब्द द्वारा कहा जाय। प्रस्तुत अर्थ की पुनरुक्ति यहाँ नहीं होती, क्योंकि वह तो अपुष्टार्थ के क्षेत्र में चला जाता है, यहाँ तो एक शब्द के द्वारा एक अर्थ प्राप्त होता है और पुनः पर्यायादिक द्वारा वही अर्थ प्राप्त होता है। इसके भी दो भेद होते हैं :- (१) पदार्थ की पुनरुक्ति (२) वाक्यार्थ की पुनरुक्ति। प्रथम का उदाहरण "कृतम् अनुमतम् दृष्टम्" इत्यादि है। यहाँ अर्जुन का सम्बोधन है तथा "भारतिः" शब्द से कथित होते हुए भी "सभीमकिरीटिनाम्" में अर्जुन का पदार्थ पुनरुक्त है। वाक्यार्थ पुनरुक्ति का उदाहरण मम्मट ने "अस्त्रज्वालावलीढ" इत्यादि दिया है जिसमें कि "जले शाम्यति" का वाक्यार्थ भी "सोऽप्यत्यर्थमपाकृतः" के द्वारा पुनरुक्ति होती है।

जहाँ पर क्रम का अनौचित्यपरकता है वह अर्थ दुष्क्रम कहा जाता है। अनुचित क्रम से तात्पर्य है- लोकशास्त्र विरुद्धक्रम। मम्मट ने केवल लोक विरुद्धक्रम का ही उदाहरण दिया है जो इस प्रकार है :-

> भूपालरत्न निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव:।
> विश्राणय तुरंगं मे मातंगं वा मदालसम् ॥

इसमें तुरंग याचना का क्रम लोक विरुद्ध है। क्योंकि जो बड़ा दान देने में असमर्थ हो उससे छोटे दान की याचना तो युक्तिसंगत लगती है, किन्तु जो तुरंग न दे सके वह उससे भी बड़ा मातंग रूप दान कैसे दे सकता है। अतः मातंगं देहि तुरंगं वा यह क्रम लोक सिद्ध है। इसके विपरीत प्रयोग होने से यहाँ दुष्क्रमत्व दोष है। प्रदीपकार ने इसे स्पष्ट कर दिया है। साथ ही उन्होंने शास्त्र विरुद्ध क्रम का भी एक प्राकृत उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है :-

इसीप्रकार से बल के अवसर में रसविच्छेद भी सहृदयों को उद्विग्न करता है। जैसे महावीरचरितनाटक के द्वितीय अंक में राम और परशुराम के युद्धोत्साह में प्रवृत्त होते हुए भी राम की यह उक्ति "कंकण—मोचनाय गच्छामि" सहृदयों की अरुचि का कारण बनती है। क्योंकि रामविषयक रतिकथा की कल्पना में विघ्न पड़ता है।

<u>अंग का विस्तार से वर्णन:</u>- अंग अर्थात् अप्रधान का विस्तार से वर्णन भी रस दोष है। मम्मट ने हयग्रीव नामक नाटक में "हयग्रीव" के विस्तार से वर्णन को रसापकर्षक माना है। यहां ज्ञातव्य है कि काश्मीरिक मेण्ठकवि रचित हयग्रीववध नाटक आज उपलब्ध नहीं है। तथापि प्राचीन आचार्य इससे परिचित अवश्य थे। मम्मट ने कई स्थलों पर इसके उदाहरण प्रस्तुत किया है। बालबोधिनी-कार ने हयग्रीव सम्बन्धी रसदोष का निरूपण किया है।[1] हयग्रीव नाटक का प्रतिनायक है। प्रधान रूप से प्रतिनायक के वर्णन में तद्गत रस का ही आस्वाद होने लगता है। नायकगत प्रधान रस गौण हो जाता है। अतः यह रस दोष है।

<u>अंगी का अननुसंधान:</u>- अंगी का अननुसंधान से तात्पर्य है प्रधाननायकनायिकादि का विस्मरण। तथ्य यह है कि प्रबन्ध में एक रसप्रधान है जो नायक नायिकादि से सम्बद्ध रहता है और दूसराअप्रधान, जो अन्य से सम्बन्धित रहता है। प्रधान रस की अविच्छिन्नधारा सहृदयों के आकर्षण का कारण बनती है। उसके विस्मरण से रस प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य के आने पर सागरिकारूप में स्थित रत्नावली का नायक वत्स-राज द्वारा विस्मरण हो जाता है। इससे नाटिका प्रतिपाद्य शृंगाररस विच्छि-न्न हो जाता है।

<u>प्रकृति विपर्यय:</u>- इसका सामान्य अर्थ यह है कि जहां पर जिस प्रकृति के लिये जो वर्णन अनुचित हो, यदि उसका वहां वर्णन किया जाय तो प्रकृति विपर्यय

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- बालबोधिनीपृष्ठ- ४३१ ।

रूप रस दोष होता है । किन्तु मम्मट ने स्वयं इस प्रकार पर एक विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया है । यहाँ प्रथम उन्होंने प्रकृति का त्रैविध्य स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनके विवेचन के सार इस प्रकार हैं- प्रकृति(नायक) तीन प्रकार के होते हैं-दिव्य, अदिव्य, एवं दिव्यादिव्य । दिव्य नायक इन्द्र, विष्णु, आदि, अदिव्य नायक, वत्सराज, उदयन, आदि, तथा दिव्यादिव्य नायक राम, कृष्ण आदि अवतार धारण करने वाले हैं । पुनश्च सब नायक भी चार प्रकार के होते हैं- धीरोदात्त, धीरोद्धत धीरललित तथा धीरप्रशान्त, वीररसप्रधान धीरोदात्त, रौद्ररस प्रधान धीरोद्धत, शृंगार रस प्रधान धीरललित तथा शान्तरस प्रधान धीर-प्रशान्त होते हैं। इस प्रकार द्वादश भेद हो जाते हैं । पुनः इनके उत्तम मध्यम, तथा अधम तीन भेद होते हैं । अतः नायक अथवा प्रकृतियों के भेद की संख्या 36 हो जाती है ।

मम्मट ने प्रकृति के भेदों को प्रदर्शित करने के पश्चात् प्रकृति औचित्य का स्वरूप दिया है । उन प्रकृतियों में से रति, हास, शोक अद्भुत रूप स्थायीभावों का अदिव्य उत्तम नायकों के सदृश दिव्य में भी वर्णन करना सर्वथा समीचीन है, किन्तु संभोग शृंगार रूप रति का वर्णन देवता के संबंध में उतना ही अनुचित है जितना कि माता पिता का संभोग वर्णन । साथ ही विस्मयकारी क्रोध तथा स्वर्ग पाताल आदि जाना एवं समुद्र के उल्लंघन के प्रति उत्साह आदि का वर्णन दिव्य प्रकृतियों में ही करना श्रेयस्कर है ।

अदिव्य अर्थात् मनुष्य आदि नायक में जितना पूर्व चरित्र आदि में प्रसिद्ध है अथवा मानव के लिये उचित है, केवल उतना ही वर्णन करना चाहिए। कारण यह कि अदिव्यनायक में उत्साह आदि का अधिक वर्णन कर देने से वह असत्य के समान प्रतीत होने लगता है और तब नायक रामादि के समान व्यवहार करना उचित है न कि प्रतिनायक रावणादि के समान, इस रूप में जो काव्य का प्रमुख प्रयोजन उपदेश रूप है उसका साफल्य संदिग्ध हो जायगा । दिव्यादिव्य प्रकृति में दोनों प्रकार के भावों का वर्णन किया जा सकता है ।

इसी प्रकार की दिव्य, अदिव्य आदि प्रकृतियों के औचित्य के

# पंचम - अध्याय

## -:: गुणस्वरूप-विचार ::-

काव्य में गुणों पर विचार प्रारम्भ से होता चला आया है। प्रारम्भ में भरत ने '[illegible]' कह कर काव्य में माधुर्य एवं औदार्य की ओर संकेत किया। साथ ही उन्होंने शेष गुणों को भी प्रस्तुत किया है। आलंकारिक भामह, दण्डी आदि का युग आता है, जिसमें कि प्रायः सभी आलंकारिकों ने गुण एवं उनकी संख्या पर विचार किया है। किन्तु इस युग में गुण एवं अलंकार का स्वरूप-विवेक नहीं हो सका। सर्वप्रथम आचार्य वामन ने गुण एवं अलंकारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया। तदनु ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण के स्वरूप का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करते हुये उन्हें काव्य की आत्मा रस का धर्म बताया है। यह भी स्पष्ट किया कि गुण शब्दार्थ के धर्म अथवा शब्द विन्यास के धर्म नहीं हो सकते। इन आचार्यों ने गुण तथा अलंकारों के बीच भेद भी निरूपित किया है। आचार्य मम्मट का भी गुण विवेचन ध्वनिवादी आचार्यों का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने एक ही कारिका में गुणों का सामान्य लक्षण एवं अलंकारों से भेद प्रदर्शित किया है। तदनुसार—

' ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ॥
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

इसमें 'उत्कर्ष' हेतवः गुणाः ' इन पदों में गुण का स्वरूप निर्दिष्ट है। भाव यह है कि शरीर में आत्मा के गुण काव्य में भी अंगी रस के हैं। यथा शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं न कि आकार शरीर के, इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं, न कि काव्य के शरीररूप शब्द एवं अर्थ के। अतएव अलंकारों से गुण भिन्न हैं, क्योंकि अलंकार शब्दार्थ युगल के धर्म हैं। गुण अंगीरस के उत्कर्षाधायक हैं। यह बात "ये अङ्गिनः रसस्य उत्कर्षहेतवः" से स्पष्ट हो जाता है।

कारिका में दूसरा महत्त्वपूर्ण विशेषण 'अचलस्थितयः' है।

<u>माधुर्यगुण</u> : - चित्त की द्रुति का कारण स्वरूप जो आह्लादकत्व होता है वही माधुर्य गुण है और वह श्रृंगार रस में होता है । मम्मट का श्रृंगार पद से अभिप्राय यहाँ सम्भोग श्रृंगार से है तथा द्रुति का अर्थ है गलितत्व अर्थात् पिघलना । भाव यह है कि श्रृंगारादि रस एक मात्र आनन्द स्वरूप है । इन रसों में आनन्द का एक वह विशेष स्वरूप होता है जिसमें सहृदय की चित्त वृत्ति द्रवित भी होती है । उस दशा में स्वाभाविक रूप काठिन्य तिरोहित हो जाता है । अस्तु । आह्लादगत एक धर्म विशेष है जिसमें चित्त आर्द्र होता है और वही चित्तद्रवण कहलाता है । वही धर्मविशेष माधुर्य गुण की संज्ञा प्राप्त करता है ।[1]

माधुर्य गुण के लक्षण के व्याख्यान में मम्मट `श्रव्यत्वं पुनरोजः प्रसादयोरपि ` कहते हैं । टीकाकारों का कथन है कि यह पंक्ति भामह के माधुर्य गुण के लक्षण पर आक्षेप करती है । भामह के अनुसार `श्रव्यं नातिसमस्तार्थं शब्दं मधुरमिष्यते `मधुर गुण का लक्षण है । श्रव्य का अभिप्राय है - कर्णसुखकत्व अथवा श्रुतिप्रियता, वस्तुतः ओज तथा प्रसाद गुणों में भी रहती है । किन्तु ओजगुण वाले काव्य में दीप्तत्व का ही अनुभव होता है न कि माधुर्य का । इसी प्रकार माधुर्य की प्रतीति प्रसाद गुण में भी नहीं होती ।[2]

माधुर्य गुण सम्भोग श्रृंगार के साथ ही करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त रस में भी रहता है । इतना ही नहीं सम्भोग श्रृंगार की अपेक्षा करुण की अपेक्षा अपेक्षा विप्रलम्भ की अपेक्षा शान्तरस में अधिक माधुर्य होता है । तात्पर्य यह है कि सम्भोग श्रृंगार की अपेक्षा करुण आदि रसों में क्रमशः चित्त की द्रुति अधिक होती है । उस द्रुति की प्रतीति अश्रु अथवा पुलक इत्यादि से होती है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- बालबोधिनी पृ० ४७४-७५

२- चक्रवर्ती का० पृ० ४७६ पर उद्धृत ।

यहाँ ज्ञातव्य है कि सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार में माधुर्य गुण प्रतिपक्ष (ओज) रहित होता है। जबकि शान्त एवं जुगुप्सा आदि से सम्बद्ध होने के कारण ओज के अल्पांश से युक्त सम्भव है।[1]

<u>ओज गुण</u> :- दीप्ति रूप चित्त के विस्तार का जो कारण है वही ओज गुण है।[2] दीप्ति, वस्तुतः चित्त की एक विशिष्ट अवस्था है जिसकी विस्तार प्रज्वलितत्व के समान होता है। अर्थात् जिसके कारण मन प्रज्वलित सा हो उठता है वही ओज है।[3] विस्तृति (विस्तार) चित्त की कोई वृत्ति है, जो द्रुतिविरोधिनी होती है।[4] ओज गुण की स्थिति वीर रस में होती है। वीर रस के समान ही वीभत्स तथा रौद्र रस में भी होती है। अन्तर इतना है कि वीर रस की अपेक्षा वीभत्स में तथा वीभत्स की अपेक्षा रौद्र में चित्त की दीप्ति अधिक होती है। अतएव इन रसों में उक्त क्रम से ओजगुण अधिक होता है। इसका कारण यह है कि वीर रस में हृदय पर विजय प्राप्त करने का उत्साह रहता है, जब कि वीभत्स में त्याग की प्रबल भावना होती है और रौद्र में अपकारी के वध के लिये मन आतुर रहता है। अतएव चित्त की दीप्ति यहाँ उसका प्रज्वलन क्रमशः अधिक रहता है और उस दशा में यह स्वाभाविक है कि उत्तरोत्तर ओज गुण भी अधिक होगा।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- उद्योत पृ० ४६२ – छाया – स्वकार्यद्रुतिविरोधिदीप्तिजनकतया प्रतिकूलं यतोऽवस्थितम् इत्यर्थः। ------ तस्या वीभत्सस्थायित्वाद्दीप्तत्वे चोजसो व समाहृतत्वात्तुल्यत्वेऽप्युत्कर्षेण इत्यर्थः। एवं बीभत्से माधुर्यौजसोरुत्कर्षापकर्षौ अनुभवानुभव सिद्धम् ज्ञेयम्॥ प्रभा पृष्ठ २०६

२- काव्यप्रकाश पृ० ४७५-७६

३- दीप्तिस्वरूपा या मनसो विस्तृतिर्ज्वलितत्वमिव। तथा च यतो ज्वलितमिव मनो जायते तदोज इत्यर्थः। प्रदीप पृष्ठ ४६२

४- विस्तृतिः द्रुतिविरोधिनी काचनवृत्तिविशेषस्य। उद्योत पृष्ठ ४६२

कतिपय व्याख्याकारों के अनुसार यहाँ परमाधुर्य तथा ओज गुण के प्रधान आश्रयों का विवेचन किया गया है । हास्य, भयानक तथा अद्भुत रस में, माधुर्य तथा ओज दोनों विद्यमान रहते हैं[1] । जब श्रृंगार के हेतुओं से, हास्य उद्भूत होता है तो वहाँ माधुर्य गुण की प्रधानता होगी और जब यह वीर रस के हेतुओं से उद्भूत होता है तो उसमें ओज गुण की प्रधानता[2] । कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि हास्य में केवल माधुर्य की, तथा भयानक और अद्भुत में केवल ओज गुण की प्रधानता होती है ।

<u>प्रसाद गुण</u> :- जो गुण सहसा ही चित्त में व्याप्त हो जाता है उसे प्रसाद गुण कहते हैं । जिस प्रकार से शुष्क ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल शीघ्रता से व्याप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार चित्त में प्रसाद गुण की व्याप्ति होती है ।[3] इसे स्पष्ट करते हुये व्याख्याकारों का कथन है कि प्रसादगुण चित्त के विकास का जनक है । वीर, रौद्र, इत्यादि रसों में प्रसाद गुण, शुष्क ईंधन में अग्नि के सदृश और श्रृंगार तथा करुण आदि में स्वच्छ वस्त्र में जल के समान ( चित्त में ) व्याप्त हो जाता है ।

यह प्रसाद गुण सभी अर्थात् सभी रसों तथा रचनाओं में विद्यमान रहता है । भाव यह है कि यह समस्त रसों का धर्म है, एवं सभी रस इसके आधार हैं । इसी प्रकार समस्त रचनायें(पदसंघटनायें) प्रसाद गुण के व्यञ्जक हैं । यही कारण है कि मम्मट ने कारिकास्थ सर्व को, वृत्ति में श्रोतृषु, रसेषु, सर्वासु, रचनासु, इस रूप में प्रस्तुत किया है । यद्यपि गुण

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- प्राधान्येन माधुर्यौजसोरेवैक विधानमत्र प्रक्रान्तम् । हास्याद्भुतभयानकेषु न किंचिद्विहितम् । तेषूभयगुणप्राधान्यात् ।। प्रदीप पृष्ठ ३९३

२- हास्ये श्रृंगारविभावादिप्रभवत्वेन माधुर्यस्य विकासधर्मतया वीरादिप्रभवतया चौजसस्य उत्तवात् । भयानकाद्भुतयोरपि वीरबीभत्सश्रृंगार-विभावादि-प्रभवत्वेऽवयो माधुर्यस्य च उत्तवात् । वीरोहि विभूताद्भुतभयानको ओजोद्रेकयुक्तः । उद्योत पृष्ठ ३९३

३- द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश पृष्ठ ४०६

रस के धर्म हैं, तथापि रचनायें गुणों की व्यञ्जक तो होती ही हैं। अतएव गुण सभी रसों में वाच्य रूप में तथा सभी रचनाओं में व्यंग्य रूप में स्थित रहते हैं।[१]

शब्दार्थ में उपचार से गुण व्यवहार :- इसी सन्दर्भ में मम्मट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि शब्दार्थ में गुण का जो प्रयोग (मधुरशब्दादिक व्यवहार) में देखा जाता है तथा स्वयं उन्होंने "सगुणौ शब्दार्थौ" प्रयोग जो काव्य के लक्षण में किया है, उन सब स्थलों पर गुण का गुणवृत्ति (उपचार) से प्रयोग होता है। अतः वे मम्मट "गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता" इस कारिका में प्रस्तुत करते हैं। मधुर शब्द, मधुर अर्थ, इत्यादि प्रयोग ठीक उसी प्रकार हैं जैसे कि शौर्य गुण आत्मा का धर्म होते हुये भी शरीर का (आकार एवास्य शूरः) प्रयोग किया जाता है। गुण, निस्सन्देह, रस के ही धर्म हैं तथापि गुण के व्यञ्जक सुकुमार इत्यादि वर्णों को, अर्थों को तथा रचनाओं को गौण रूप से मधुर शब्द, मधुर शब्द, मधुर अर्थ कह दिया जाता है। अस्तु। शब्दार्थ में गुण का प्रयोग सर्वथा औपचारिक (लाक्षणिक) है।

प्राचीनों के शब्द के दसगुणों का अन्तर्भाव :- वामन इत्यादि आचार्यों ने शब्द के दस गुण माना है, जो इस प्रकार हैं :- १- ओज, २-प्रसाद, ३-श्लेष, ४-समता, ५-समाधि, ६-माधुर्य, ७-सौकुमार्य, ८-उदारता, ९-अर्थव्यक्ति, १०-कान्ति। मम्मट गुणों की यह दस संख्या स्वीकार नहीं करते, अपितु माधुर्य, ओज तथा प्रसाद ये तीन गुण मानते हैं। वामनाभिमत दस गुणों में कुछ को वे इन्हीं

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- ओजसि शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव व्याप्नोति यो ...गुणोऽन्यस्य व्याप्यव्यापकविशेषितः ... तेन व्याप्नोति स प्रसादः। ... सर्वेषु रसेषु ... सर्वासु रचनासु व्यंग्यतया स्थित इति ... प्रदीप पृष्ठ ३६४

तीन में अन्तर्भुक्त कर देते हैं। कुछ दोषों के अभाव मात्र हैं और कुछ गुण होने के पात्र ही नहीं हैं। क्योंकि अनेक स्थलों में वे रस में अथवा किसी अन्य उदाहरण में दोष रूप में ही प्रतीत होते हैं।[१] सर्वप्रथम वामनाभिमत दसों गुणों का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है।

१- ओज :- गाढबन्धत्वमोजः। अर्थात् जिस रचना में शिथिलता का राहित्य रहता है, वहाँ ओज गुण होता है। यथा - विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति" इत्यादि उदाहरण में।

२- प्रसाद :- "शैथिल्यम् प्रसादः" अर्थात् पद रचना का शैथिल्य ही प्रसाद गुण है। यथा- यो यः शस्त्रं बिभर्ति" इत्यादि वेणी संहार का पद्य।

(३) श्लेष :- "मसृणत्वं श्लेषः" अनेक पदों का एक सदृश भासित होना मसृणत्व है और यही श्लेष गुण है। "अस्त्युत्तरस्याम् दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" में पूर्वापर पदों में सन्धि होते हुये भी एकवत् भासित होता है। ऐसे स्थलों में वामन श्लेष गुण मानते हैं।

४- समता :- मार्गाभेदः समता" अर्थात् जिस रीति (मार्ग) से श्लोक या ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाय उसका उसी रीति से अन्त तक निर्वाह करना समता नामक गुण कहलाता है। "अस्त्युत्तरस्यामुदिशि" इत्यादि में वैदर्भी रीति का निर्वाह किया गया है।

५- समाधि :- "आरोहावरोहक्रमः समाधिः" आरोह का अभिप्राय है गाढ़ता तथा अवरोह का शिथिलता। काव्य में कहीं पर आरोहपूर्वक अवरोह होता है तो कहीं इसका विपरीत।

६- माधुर्य :- "पृथक्पदत्वम् माधुर्यम्" - पद रचना में दीर्घ समासों का अभाव माधुर्य है। अर्थात् पदों का पृथक् न्यास माधुर्य गुण है।

---

१- काव्य प्रकाश ८।७२

<u>७- सुकुमारता : -</u> "अजरठत्वं सौकुमार्यम्" अजरठत्व का अर्थ है अपारुष्य अर्थात् कोमलता ।

<u>८- उदारता : -</u> "विकटत्वम् उदारता" अर्थात् विकटपदरचना में सहृदय को प्रत्येक पद नृत्य करते हुये से प्रतीत होते हैं, वहाँ उदारता गुण है । ( विकटत्वं नृत्यप्रायता ) जैसे : -

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां ,
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च ॥

<u>९- अर्थव्यक्ति :-</u> वह गुण जिसके कारण तत्क्षण अर्थ बोध हो जाता है । उसे अर्थ व्यक्ति कहते हैं ।

<u>१०- कान्ति : -</u> पदरचना विषयक लालित्य ही कान्ति है ।

वामनोक्त इन दस गुणों में से (१) श्लेष (२) समाधि (३) उदारता (४) प्रसाद (५) ओज मम्मट के ओज गुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं । (६) माधुर्य गुण मम्मट को भी अन्यप्रकार से मान्य है । (७) अर्थव्यक्ति का ग्रहण मम्मटाभिमत प्रसाद में हो जाता है । (८) सौकुमार्य तथा (९) कान्ति ये दोनों गुण नहीं अपितु दोषाभाव मात्र हैं । (१०) समता, कहीं पर दोष भी हो जाती है । अतः उसका गुणत्व निश्चित नहीं है । इस प्रकार से मम्मट गुणत्रय को प्रामाणिक एवं तर्कसंगत मानते हैं ।

<u>अधीत दस गुणों का अन्तर्भाव : -</u> उक्त विवेचन में मम्मट ने वामनाभिमत दस शब्द गुणों का अन्तर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में ही कर दिया है । इसके साथ ही वे वामन के अधीत दस गुणों की आवश्यकता भी नहीं मानते । इनमें से कुछ उक्त माधुर्यादि तीन गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं । कुछ ऐसे हैं जिन्हें उक्तिवैचित्र्यमात्र कहा जा सकता है और कुछ दोष का अभावमात्र ही हैं जिन्हें गुण भी नहीं कहा जा सकता । उनका क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है ।

१- ओज :- "अर्थस्य प्रौढिः ओजः" (काव्यालंकारसूत्र ३-२-२) अर्थात् अर्थ की प्रौढ़ता ही ओज गुण है। इस प्रौढ़ता के पांच प्रकार होते हैं जिनको मम्मट इन पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं :-

> पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
> प्रौढिः व्यासःसमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

टीकाकारों ने इन पांचों भेदों को सोदाहरण स्पष्ट किया है जो क्रमशः द्रष्टव्य हैं :-

(क) पदार्थे वाक्यरचनम् अर्थात् कहीं-कहीं एक पद के अर्थ को प्रकट करने के लिये वाक्य का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे -

"अत्रिनयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः" इसमें चन्द्रमा के लिये "अत्रिनयनसमुत्थं ज्योतिः" इस वाक्य का प्रयोग हुआ है।

(ख) वाक्यार्थे च पदाभिधा - अर्थात् कहीं कहीं वाक्य के अर्थ में एक पद का अभिधान किया जाता है। यथा: "कान्तार्थिनी संकेतस्थानम् गच्छति" इस वाक्य के लिये एक पद "अभिसारिका" का प्रयोग होता है।

(ग) व्यास :- अर्थात् कहीं एक ही वाक्य के अर्थ को विस्तार की दृष्टि से कई वाक्यों में कहा जाता है यथा - "परस्वं नापहर्तव्यम्" इस एक वाक्य को "परस्वं नापहर्तव्यम्, परस्वापहारोऽनुचितः" इत्यादि अनेक वाक्यों में कहा जाता है।

(घ) समास :- अर्थात् कहीं अनेक वाक्यों का अर्थ एक ही वाक्य में संक्षेप की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। "हे हिमालयकान्तमण्डूकं" इत्यादि सम्पूर्ण श्लोक एक ही वाक्य में है, जब कि कई वाक्यों के आमन्त्रण आदि अर्थ का संक्षिप्त विन्यास करता है।

(ङ) साभिप्रायत्व :- सार्थक विशेषणों का प्रयोग साभिप्रायत्व है।

यथा - "दुर्वारं इत्यादि पिनाकपाणेः" में पिनाकपाणि विशेषण, विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त है ।

उक्त पञ्च विध अर्थ प्रौढ़ता ओज गुण है, ऐसा वामन का मत है । मम्मट इनमें से प्रथम चार को गुण ही नहीं मानते । क्योंकि इनके अभाव में भी काव्य-व्यवहार होता है । वामनादि के सिद्धान्तानुसार[1] गुण ही काव्य-व्यवहार के प्रवर्तक हैं । किन्तु उक्त प्रथम चार प्रौढ़ि के अभाव में भी "यः कौमारहरः" इत्यादि पद्य में काव्य-व्यवहार होता ही है । साथ ही इन चारों के सद्भाव में भी रसादिशून्य होने के कारण काव्य-व्यवहार नहीं होता । अतएव इन चारों को केवल उक्तिवैचित्र्यमात्र कहा जा सकता है । साभिप्रायत्वरूप प्रौढ़ि का पञ्चम प्रकार अपुष्टार्थत्व दोष का अभावमात्र है, कोई पृथक् रूप से गुण नहीं ।

<u>(२) प्रसाद :-</u> प्रयोग किये गये पदों से अभीष्ट अर्थ की सुस्पष्ट प्रतीति होना प्रसाद है ।[1] यथा - काञ्चीपद ( नितम्ब ) शब्द के प्रयोग से प्रसादगुण की प्रतीति होती है न कि काञ्चीगुणस्थान शब्द के प्रयोग से । मम्मट इसे अधिक पदत्वदोष के अभाव मात्र में अन्तर्भूत करते हैं ।

<u>(३) माधुर्य :-</u> कथन का एक अनोखापन अर्थात् किसी वस्तु को भंगिमाविशेष से प्रस्तुत करना माधुर्य है ।[2] यथा यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतम् इत्यादि पद्य में । इसे मम्मट अनवीकृत दोष का अभाव मानते हैं पृथक गुण नहीं ।

<u>(४) सौकुमार्य :-</u> कटु कथन को भी अतिकोमल रूप से प्रस्तुत करना सौकुमार्य है ।[3] जैसे - "स मृतः" इस कथन को "कीर्तिशेषं गतः" इस रूप

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

[illegible]

१- अर्थवैमल्यम् प्रसादः ( काव्यालंकार ३-२-३ )

२- उक्तिवैचित्र्यम् माधुर्यम् - का० ३-२-१०

३- अपारुष्यं सौकुमार्यम् - काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३-२-११

बैठा देना घटना है।[1] चक्रवर्ती इत्यादि टीकाकारों ने इसे "दृष्ट्वैका-सनसंस्थिते प्रियतमे" इत्यादि उदाहरण से समझाया है।[2] इस श्लेष नामक अर्थगुण को मम्मट उक्तिवैचित्र्यमात्र में अन्तर्भुक्त करते हैं।

(९) समता :- प्रक्रम का भंग न होना अर्थात् उपक्रम तथा उपसंहार में वैषम्य का न होना ही समता गुण है।[3] जैसे - उदेति सविता ताम्रः इत्यादि पद्य में। यह भी प्रक्रमभंग नामक दोष का अभाव मात्र ही है, न कि पृथक् रूप से गुण।

(१०) समाधि :- किसी कवि के द्वारा अयोनि अर्थात् अनुल्लिखित फिर नवीन एवं प्राचीनों के द्वारा उल्लिखित अर्थ के आधार पर अद्भुत नूतन अर्थ की काव्य का दर्शन होना ही समाधि नामक अर्थ गुण है। मम्मट इसे काव्य स्वरूप का निर्वाहक मात्र मानते हैं न कि शोभाजनक कोई गुण।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वामन के मान्य दस शब्द गुण तथा अर्थ गुण को मम्मट नहीं मानते। साथ ही माधुर्यादि गुणत्रय शब्दार्थ के धर्म न हो कर एक मात्र रस के धर्म हैं। उपचार से शब्दगुण रूप में व्यवहार में प्रयोग होता है। इस प्रयोग का रहस्य यह है कि वस्तुतः माधुर्यादि गुणों के (१) वर्ण (२) समास तथा (३) रचना, ये व्यञ्जक होते हैं।[4] कौन से वर्णादि किस गुण के व्यञ्जक होते हैं, इसका क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है।

माधुर्यगुण के व्यञ्जक वर्णादि :- ट, ठ, ड, ढ वर्णों को छोड़कर सभी स्पर्श वर्ण (क से म तक) जिनके अग्रभाग में उसी वर्ग का अन्तिम वर्ण ( ङ, ञ, ण ) हो जैसे अनंग, कुञ्ज इत्यादि माधुर्य गुण के व्यञ्जक होते हैं। साथ ही रेफ तथा णकार भी (ण) जिनके मध्य में ह्रस्वस्वर हों, माधुर्यगुण के व्यञ्जक होते हैं।

---

१- काव्यप्रकाश पृष्ठ ४८२

२- द्रष्टव्य है बालबोधिनी पृष्ठ ४८२

३- अवैषम्यम् समता काव्यालंकार ३-२-५

४- द्रष्टव्य है काव्यप्रकाश ८।७३

माधुर्य गुण व्यंजक समास वे ही होंगे, जो अल्प हों अथवा मध्यम । दीर्घ समास माधुर्य गुण का व्यंजक नहीं होता । अन्य पद से सान्निध्य अथवा सम्बन्ध से प्राप्त सुकुमारता वाली रचना माधुर्य गुण व्यंजक है । 'अकुंठ' इत्यादि में ध्वनि के फलस्वरूप वर्णों में मधुरता आगई है । माधुर्यगुण के व्यंजक वर्णादि तीनों का, उदाहरण मम्मट यह पद देते हैं-

अनंगरंगप्रतिमं तदंगं भंगीभिरंगीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥

इसमें ग, त, इत्यादि अनुस्वार में अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त तथा ह्रस्वान्तरित रेफ ये वर्ण प्रयुक्त हुये हैं । मध्यम समास वृत्ति भी 'अनंगरंगप्रतिमम्' में है । प्रतिमं तदंगम् इत्यादि माधुर्यवती रचना है । इस पद्य में वर्ण, समास तथा रचना तीनों ही विप्रलम्भ शृंगार में माधुर्यगुण व्यंजक हैं ।

ओजगुण के व्यंजक वर्णादि :-

वर्गों के प्रथम ( क,च,ट,त,प ) तथा तृतीय( ग,ज,ड,द,ब ) वर्ण के साथ द्वितीय, चतुर्थ ( ख,छ, ठ,थ,फ, तथा घ,झ,ढ,ध,भ ) वर्ण का सम्बन्ध होने पर प्राप्त शब्द ओजगुण व्यंजक होते हैं । यथा पुच्छ, दग्ध इत्यादि । रेफ के साथ नीचे या ऊपर अथवा दोनों प्रकार से किसी वर्ण का प्रयोग उक्त गुण व्यंजक है । यथा- वक्र, अर्क, निर्ह्राद, इत्यादि । दो तुल्य वर्ण अर्थात् किसी वर्ण का उसी के साथ सम्बन्ध होने पर, जैसे वित्त, चित्त, कुक्कुर इत्यादि - ओज गुण व्यंजक हैं । चार से अधिक पदों में समास, दीर्घ समास की कोटि में आ जाता है । किन्तु उस दीर्घ समास में भी विकटवर्ण के प्रयोग से ओज की अतिशयता अभिव्यक्त होती है । 'अनवरतनयनजललव निपतनपरिमुषितपत्रलेखम्' इत्यादि से ओज अभिव्यक्त नहीं होता, वर्णादि तीनों 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्त' इत्यादि उदाहरण में ओज गुण व्यंजक है ।[1]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- बाल बोधिनी पृष्ठ ४८६

**प्रसाद गुण :-** यह सभी रसों तथा रचनाओं में सामान्य गुण है। जिसके द्वारा श्रवण मात्र से ही अर्थ बोध हो जाय वह प्रसाद गुण व्यंजक वर्ण तथा रचनादि माना गया है। वर्ण सुकुमार हों या विकट किन्तु उनमें आशु अर्थ बोधक होना चाहिये।[1] यथा :-

> परिम्लानपीनस्तनजघनसंगादुभयतः
> तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ॥
> इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
> कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

इसमें अन्वय-आकांक्षा सभी पद यथा-स्थान रखे गये हैं। अतः श्रवणमात्र से ही अन्वयबोध हो जाता है। माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण, मध्यम समास तथा माधुर्यमयी रचना, ये सभी यहाँ पर प्रसाद गुण के व्यंजक हैं।

दोनों माधुर्यादि गुणों के स्वरूप प्रकाशन के साथ एक प्रश्न स्वाभाविक है कि ये वर्ण समास तथा रचना, गुणोपलम्भ अर्थात् गुणाभिव्यंजक ही होते हैं, या अन्यत्र भी इनका प्रयोग होता है। इसका समाधान मम्मट 'यद्यपि गुणपरतन्त्राः संघटनादयः तथापि' इत्यादि पंक्ति से प्रारम्भ करते हैं। संघटना का अर्थ है रचना। आदि पद से वर्ण तथा समास भी संगृहीत होजाते हैं। भाव यह है कि रचनादि गुण व्यंजक होते हैं, यह तथ्य निश्चित है, तथापि इनका अन्यथात्व भी देखा जाता है। जिसे मम्मट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:-

> वक्तृवाच्यप्रबन्धानाम् औचित्येन क्वचित्क्वचित् ।
> रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥

अर्थात् वक्ता, वाच्य तथा प्रबन्ध के औचित्य से वर्ण, समास तथा रचना का अन्यथा अर्थात् गुण की परतन्त्रता का अभाव भी अभीष्ट रहता है। वक्ता से अभिप्राय कवि तथा कवि निबद्ध पात्र, वाच्य से वर्णनीय विषय

---

1. श्रुतमात्रेणार्थबोधकाः सर्वे त्व (सुकुमारा वा विकटा वा) वर्णाः प्रसादगुणस्य व्यंजका भवन्ति। विवरण पृष्ठ-२२२।

तथा प्रबन्ध से महाकाव्य, नाटकादि ग्रहण होता है। कहीं वाच्य तथा प्रबन्ध की अपेक्षा किये बिना वक्ता के औचित्य से ही रचना इत्यादि होती हैं, न कि गुणानियतत्वनियम से। जैसे वेणीसंहार के 'मन्थायस्तार्णवाम्भः' इत्यादि पद्य में भीमसेन की उक्ति में, कोप प्रभृति वर्णनीय अर्थ प्रदीप्त भावों की अभिव्यंजना नहीं करता। क्योंकि वह ही एक प्रबन्धरूप है, अतः साथ ही यह काव्य भी अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक है। दीर्घ समासयुक्त उक्त रचना नाटकरूप प्रबन्ध के सर्वथा प्रतिकूल है। किन्तु यहाँ पर वक्ता भीमसेन है। यहाँ पर रचनादि, भीमसेनरूप वक्तृगत-औचित्य के कारण ही है। न तो इसे वर्णनीय विषय की अपेक्षा है और न प्रबन्ध की।

इसी प्रकार कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध की अपेक्षा न करते हुये, वाच्य के औचित्य से ही रचनादि होते हैं। यथा - 'प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलन' इत्यादि पद्य में वक्ता वैतालिक है, एवं अभिनेयात्मकप्रबन्ध है, अतएव दीर्घ-समास और उक्त रचना यहाँ अनुचित है, तथापि केवल वर्णनीय अर्थ के औचित्य से ही दीर्घ समास तथा रचनादि हैं। यह कुम्भकर्ण के सिरका वर्णन है, जो अत्यन्त भयावह तथा ओजस्वी है।[1]

जिस प्रकार से वक्तृगत एवं वाच्यगत औचित्य से रचनादि होती हैं, उसी प्रकार प्रबन्धगत औचित्य से भी इनकी छटा प्रायः दृष्टिपथ पर आती है। मम्मट तीन स्थलों पर इसके सद्भाव का संकेत करते हैं, जो इस प्रकार है :-

(१) आख्यायिका में, शृंगाररस में कोमल वर्ण आदि नहीं होते। इसे स्पष्ट करते हुये टीकाकारों का कथन है कि हर्षचरित प्रभृति आख्यायिका प्रबन्धों में भले ही शृंगार व्यंग्य हो तथा अनुद्धत वक्ता भी हो तथापि कोमलवर्णादि का प्रयोग नहीं होता। विकटबन्ध से ही आख्यायिका का सौन्दर्य माना जाता है। आख्यायिका गद्यप्रधान होती है और विकटबन्ध

---

१- द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ ४०३

गद्य में वैपरीत्य माना गया है । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि विप्रलम्भ तथा करुण रस में आख्यायिका में भी दीर्घसमासादि नहीं होते । कारण कि ये दोनों अतीव सुकुमार रस माने जाते हैं ।[1]

(२) कथा में रौद्ररस में भी अत्यन्त उद्धत रचना नहीं होती । कादम्बरी इत्यादि कथा ग्रन्थ हैं जिनमें कि रौद्र रस के व्यंग्य होने पर भी कठोर वर्णादि का प्रयोग नहीं होता । क्योंकि कथनीय विषय सुकुमारता से ओत: विषय एवं भाव यही बातों पर मुख्यलक्ष्य होता है ।

(३) नाटकादि में रौद्र रस में भी दीर्घ समास नहीं होते । क्योंकि पद विच्छेद में ही अभिनय सरल एवं सुकर होता है ।

उक्त मीमांसा के साथ ही मम्मट का आस्था है कि अन्य भी ऐसे स्थल हैं, जहाँ स्वयं अन्वेषण कर लेना चाहिये । यथा मुक्त-काव्य में रचनादि के विषय में रस का अनुसरण करना ही औचित्य है । उक्त विवेचन के साथ मम्मट का गुणस्वरूप विचार समाप्त हो जाता है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- आख्यायिकायां शृंगारेऽपि व्यंग्येऽनुद्धतेऽपि [illegible] नातिमसृणा वर्णादय: । विकट बन्धस्यैव तच्छायावत्त्वात् । विप्रलम्भकरुणयोस्तु तस्यामपि दीर्घसमासपरिहार: । तयोरतिसौकुमार्यात् । प्रदीप पृ०४०३

-:: अ ष्ट म - अ ध्या य ::-

## :-: षष्ठ-अध्याय :-:
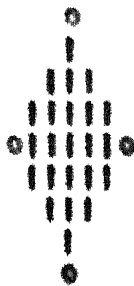
### ( शब्दालंकार- स्वरूप विचार )

"तददोषौ" इत्यादि काव्य- लक्षण में "अनलंकृती पुनः क्वापि" यह अन्तिम विशेषण है। प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि सर्वत्र अलंकार युक्त शब्दार्थ काव्य है, किन्तु कहीं पर रसादि की प्रतीति होने पर अलंकारों की स्फुट प्रतीति नहीं भी होती तो भी काव्यत्वहानि नहीं होती। काव्यलक्षण का सर्वांगीण विवेचन तभी होगा, जब कि अलंकार का भी सप्रभेद सामान्य तथा विशेष लक्षण प्रस्तुत किया जाय। अतएव काव्य-प्रकाश के नवम तथा दशम उल्लास में मम्मट ने क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का स्वरूप प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत अध्याय शब्दालंकार विषयक नवम उल्लास पर आधारित है। ज्ञातव्य है कि अलंकार का सामान्य लक्षण, गुणों के विवेचन के साथ ही पहिले अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ दो अध्यायों में केवल भेदों के साथ उनके साधारण विशेष लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं।

शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में मम्मट ने सर्वप्रथम शब्दालंकार का विवेचन किया है। टीकाकारों ने दोनों के विभाजक तत्त्व पर विचार किया है। तदनुसार शब्दालंकार सर्वथा शब्द पर आश्रित रहता है। अतएव शब्दपरिवर्तन ऽ असहत्व इसमें रहता है। अर्थालंकार में शब्द के परिवर्तन हो जाने पर भी अलंकार अक्षुण्ण रहता है। अतएव इसमें शब्दपरिवर्तनसहत्व होता है। यही दोनों का विभाजक तत्त्व है।[१]

---

१- पठन्ति शब्दालंकारान् बहूनन्यान् मनीषिणः।
परिवृत्तिविषहत्वात् न ते शब्दस्वभाविनः ।। इति

तेषां शब्दालंकाराणामपि अर्थाभिव्यापारद्वारेणैव रसोपकारकत्वम् शब्दानां परिवृत्त्यसहत्वमात्रेण शब्दालंकारव्यपदेश इति सिद्धान्तो -- स्फुटीभविष्यति।
सरस्वतीतीर्थ। ( का० पृ०-४६६ से उद्धृत )

शब्दालंकारों की संख्या में भी परम्परा से आचार्यों में मतभेद रहा है। भामहादि कुछ केवल अनुप्रास तथा यमक को ही शब्दालंकार मानते हैं। मम्मट इन दोनों के साथ वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालंकार मानते हैं। अतएव इनके अनुसार शब्दालंकार छः होते हैं। श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभास की स्थिति भी विवादास्पद है। रुय्यक पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार मानते हैं, जब कि मम्मट उभयालंकार। इसी प्रकार सभंग तथा अभंगरूप द्विविध श्लेष की स्थिति विषयक विवाद रहा है। उद्भट प्रभृति कतिपय आलंकारिक सभंगश्लेष को शब्दालंकार तथा अभंग श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं। अप्पयदीक्षित दोनों को अर्थालंकार मानते हैं, जब कि मम्मट दोनों को शब्दालंकार। अर्थालंकार में भी इन्होंने श्लेष को स्वीकार किया है, जिसका विवेचन आगे श्लेष अलंकार के प्रसंग में किया गया है। अस्तु। यहाँ मम्मटाभिमत वक्रोक्ति आदि छहों शब्दालंकारों का स्वरूप द्रष्टव्य है।

वक्रोक्ति - अलंकार :-
================ इस अलंकार में मम्मट की लक्षण विषयक कारिका इस प्रकार है :-

> यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
> श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥

कारिका का पूर्वार्ध वक्रोक्ति का लक्षण तथा उत्तरार्ध उसके दो भेदों का प्रकाशन कहा जा सकता है। कारिका की व्याख्या में टीकाकारों का कथन है कि एक (वक्ता) के द्वारा किसी अन्य अभिप्राय से कहा गया वाक्य दूसरे (श्रोता) के द्वारा यदि अन्य अभिप्राय वाला कल्पित किया जाय तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। अतएव यह अलंकार केवल वक्तृश्रोतृनिबन्धिक है।

व्याख्याकारों के अनुसार कारिका में अन्येन पद से लक्षण की अपह्नुति अलंकार के लक्षण में अतिव्याप्ति का निवारण किया गया है। अपह्नुति अलंकार में वक्ता स्वकथित बात को स्वयं ही अन्यथा कल्पित करता है।
जैसे --

**पदभंग श्लेषगतवक्रोक्ति :-**

इसका उदाहरण इस प्रकार है:-

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो,
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः,
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ।।

टीकाकार यहाँ पर वक्रोक्ति की संगति इस प्रकार घटित करते हैं-- "नारीणाम्" पद का प्रयोग वक्ता स्त्रियों का इस अर्थ में करता है। दूसरे (श्रोता) ने "न अरीणाम्" (शत्रुओं का नहीं) यह अर्थ ग्रहण करते हुए शत्रु के अर्थ में "वामानाम्" का प्रयोग करता है। प्रथम वामानाम् का अर्थ नारियों का ही अभिप्रेत करता है और उसी अर्थ में "अबलानाम्" तथा हितकारी अर्थ में हितकृत् (हितं करोति इति) का प्रयोग करता है। द्वितीय इन दोनों का क्रमशः "निर्बल" तथा "हितकर्तनि" (हितं कृन्तति छिनत्ति इति) अपरार्थ ग्रहण करता है। द्वितीय के जिस अर्थ में प्रयोग किये गये "बलाभावप्रसिद्धात्मनः" का अर्थ प्रथम बलासुरनाशक अर्थ ग्रहण कर लेता है।[1]

इसमें "नारीणाम्" इत्यादि पद शिलष्ट होने से सर्वत्र श्लेष है और इस प्रकार यह श्लेषमूला वक्रोक्ति का उदाहरण है। "नारीणाम्" तथा "अबलानाम्" इन दो पदों में पदभंग श्लेष है। नारी तथा अबला पद का अर्थ "स्त्री" में रूढ़ है। अतः यहाँ अभंग तथा भंग श्लेष से उक्ति प्रत्युक्ति है।[2] [illegible] टीकाकार का मत है कि यद्यपि नारीणाम् अबलानाम् इन दोनों में पद भंग

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) अत्र नारीणामिति पदम् कामिनीपरतया वक्त्रा उक्तम् प्रतिवक्त्रा तु न अरीणामित्यर्थपरतया योजितम् ... - - - बलाभावप्रसिद्धात्मनः इति पद वक्त्रा बलासुरनाशक -(इन्द्र) परतया योजितम् ।

---- विवरण पृष्ठ- २२६ ।

(2) अभंगभंगाभ्यामुक्तिप्रत्युक्ती । संकेत पृष्ठ- १६६ ।

श्लेष है और नाभादिपद में अभंग श्लेष है, तथापि उपर्युक्त सभंग श्लेष के लिये प्रयुक्त हुये श्लेषालंकार भी श्लेषमूलक ही होंगे।1 अन्य मत के अनुसार उक्त पद्य सभंग तथा अभंग दोनों प्रकार के श्लेषमूलक वक्रोक्ति का उदाहरण है, तथापि केवल अभंगश्लेष प्रदर्शनार्थ" एक पृथक्" उपर्युक्त उदाहरण भी मम्मट ने प्रस्तुत किया है।2

अभंगपद श्लेष के द्वारा श्लेष वक्रोक्ति ::-

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥

इसमें भी वक्ता" क्रूर" अर्थ में" दारुणा" पद का प्रयोग करता है जब कि श्रोता" दारु अथवा काष्ठ" से बनी ग्रहण कर लेता है। दोनों ही अर्थों में दारुणा पद भंग नहीं हुआ है। इसमें भी कवि का वैदग्ध्य वक्ता और श्रोता के साथ उक्ति - विच्छित्ति प्रदर्शित करने में है। त्रिगुणा बुद्धि से प्रायः सभी टीकाकारों ने सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयात्मिका बुद्धिरूपार्थ ग्रहण किया है। किन्तु इसी के साथ कुछ टीकाकार शुश्रूषाग्राहित्व, धारणा-ग्राहित्व तथा गृहीतग्राहित्व यह त्रिरूपा बुद्धि का भी संकेत करते हैं।3

काकुवक्रोक्ति ::-

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नेष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ ॥

काकु नामक ध्वनिविकार के कारण होने वाली वक्रोक्ति का यह उदाहरण है। विदेश गमनोत्सुक नायक को लक्ष्य कर नायिका तथा सखी के वचन-प्रतिवचन इस पद्य में वर्णित हैं। नायिका ने" नेष्यति" पद का प्रयोग इस दृष्टि से किया कि

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(1) द्रष्टव्य है बालबोधिनी पृष्ठ-463।

(2) यद्यपि अत्रैव नाभानामित्यादिषु अभंगः श्लेषः सम्भवति तथापि केवलाभंगश्लेष-प्रदर्शनार्थमुक्तोदाहरणम्। --विवरण पृष्ठ-226।

(3) द्रष्टव्य है बालबोधिनी पृष्ठ-463।

नायक नहीं आयेंगे। काकुरूप ध्वनिविकार से सखी ने उत्तर में नहीं आवेंगे, ऐसा नहीं अपितु अवश्य आवेंगे, इस रूप में अभिप्राय अभिव्यक्त किया। अतः यहाँ काकुवक्रोक्ति है।

शब्दालंकारों में मम्मट सर्व प्रथम वक्रोक्ति का ही विवेचन करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि स्वाभिमत सभी शब्दालंकारों में वक्रोक्ति को ही मम्मट प्राथमिकता देना चाहते हैं। यों तो परम्परा वक्रोक्ति की सीमा बहुत बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करने के पक्ष में है। भामह के अनुसार कवि को यत्न पूर्वक वक्रोक्ति की संयोजना करना चाहिए। क्योंकि इसके बिना कौन सा अलंकार सम्भव हो है। इसी से अर्थ में चमत्कार आता है।[1] आगे चल कर कुन्तक ने इसी का व्यापक रूप में ही ग्रहण कर लिया है। काव्य का प्राण उनके अनुसार वक्रोक्ति ही है।[2] मम्मट को वक्रोक्ति की यह सीमा मान्य नहीं है। अधिक से अधिक वे इसे शब्दालंकारों में प्रथम स्थान दे सके हैं।

अनुप्रास अलंकार:- वक्रोक्ति अलंकार की मीमांसा के पश्चात् मम्मट ने अनुप्रास अलंकार का विवेचन किया है। अनुप्रास के दो भेद (१) वर्णानुप्रास तथा (२) शब्दानुप्रास होते हैं। वर्णानुप्रास के पुनः दो भेद (१) छेकानुप्रास (२) वृत्यनुप्रास होते हैं। शब्दानुप्रास के पांच भेद- (१) अनेक पदों की आवृत्ति (२) एक पद की आवृत्ति (३) एक समास में आवृत्ति (४) भिन्न समास में आवृत्ति (५) समास तथा असमास दोनों में आवृत्ति - होते हैं। इनका क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है।

सामान्य लक्षण:- मम्मट "वर्णसाम्यम् अनुप्रासः" इस रूप में लक्षण प्रस्तुत करते हैं। वर्णसाम्य का अर्थ है व्यंजन सदृशत्व। स्वरों का भेद (स्वरवैसादृश्ये)

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। -- काव्यालंकार २८५।

(२) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी -- वक्रोक्तिजीवित - १७।

पर भी जहाँ पर व्यंजनों का सादृश्य रहता है, वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है । "स्वरवैसादृश्ये" पद का प्रयोग मम्मट ने विशेष अभिप्राय से किया है । टीकाकारों का मत है कि इससे वे लक्षण का यमक अलंकार में अतिव्याप्ति बचाना चाहते हैं । क्योंकि यमक अलंकार में स्वर-व्यंजन दोनों का सादृश्य विद्यमान रहता है । अतः लक्षण में वर्णसाम्यम् कहा गया है ।१ वस्तुतः "वर्णसाम्यम् अनुप्रासः" यह वर्णानुप्रास (अनुप्रास के मुख्यभेद) का लक्षण है । अव्यवधान से वर्णमात्र का विन्यास वर्णानुप्रास है । शब्द साम्य को अनुप्रास का सामान्य लक्षण है ।२ साहित्यचूडामणिकार भट्टगोपाल का कथन है कि पुनरुक्ति तीन प्रकार की होती है । (१) अर्थ पुनरुक्ति (२) शब्द पुनरुक्ति (३) शब्दार्थपुनरुक्ति उनमें, अर्थ पुनरुक्ति प्रकट दोष माना जाता है । शब्दपुनरुक्ति होने पर व्यंजन की पुनरुक्तता अनुप्रास है । स्वर-व्यंजन दोनों की पुनरुक्ति यमक है, केवल स्वरों की पुनरुक्ति अचारुत्व के कारण नगण्य है ।३

अनुप्रास शब्द का अर्थ मम्मट "रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः" इस प्रकार करते हैं । रसाद्यनुगतः का अभिप्राय प्रकट करते हुये सम्प्रदाय-प्रकाशिनीकार का मत है कि आदि पद से भावादि का ग्रहण होता है । रसभावादि के अनुसार ही "मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः" इत्यादि गुण व्यंजक वर्णों के नियम का उल्लंघन न करते हुये, प्रकृष्ट वर्णों का विन्यास अनुप्रास है ।४ इसीप्रकार

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) स्वरव्यंजनसादृश्ये यमक स्यादिति वर्णसाम्यमुक्तम् । उद्योत पृष्ठ-२०१ ।

(२) अव्यवधानेन वर्णमात्रविन्यासो वर्णानुप्रास इत्यर्थः ।
शब्दसाम्यरूपमनुप्राससामान्यलक्षणमिति पर्यालोच्ये ॥ प्रदीप पृष्ठ-४०७ ।

(३) इह खलु अर्थपौनरुक्त्यम् शब्दपौनरुक्त्यम् शब्दार्थपौनरुक्त्यम् चेति । तत्रार्थपौनरुक्त्यम् प्रकट दोषः । (शब्दपौनरुक्त्ये व्यंजनपौनरुक्त्यमनुप्रासः स्वरव्यंजनपौनरुक्त्यं च यमक केवलस्वरपौनरुक्त्यम् अचारुत्वान्न गण्यते ।
-- साहित्य चूडामणि - पृष्ठ-२०२ ।

(४) रसाद्यनुगत । आदिशब्देन भावादयो गृह्यन्ते रसभावानुसारि "मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः" इत्याद्यनतिलंघनेन प्रकृष्टो वर्णानां विन्यासोऽनुप्रास इत्यर्थः ।
--- सम्प्रदाय प्रकाशिनी - पृष्ठ-२०२ ।

के अनुसार रसाद्यनुगुण: है जहाँ यमक अलंकार की आवृत्ति की गई है । क्योंकि यमक में अर्थभेद प्रतिसंधान के द्वारा रस प्रतीति में विलम्ब होता है । इसी लाटानुप्रास में भी अतिव्याप्ति नहीं होती । क्योंकि वहाँ भी तात्पर्य भेद प्रतिसन्धान के कारण रसावगम में विलम्ब होता है ।१

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह वर्णानुप्रास दो प्रकार का होता है – (१) छेकगत (२) वृत्तिगत ।

छेक पद का अर्थ है– विदग्ध अर्थात् चतुर सहृदय जन । विदग्धजनों को अत्यन्त प्रिय लगने के कारण इसका यह नाम पड़ा । मम्मट के अनुसार जहाँ पर अनेक व्यंजनों का एक बार सादृश्य वर्णन किया जाय, वहाँ छेकानुप्रास होता है ।२ संकेतकार के अनुसार जहाँ पर दो - तीनादि अनेक व्यंजन समुदाय की एक बार आवृत्ति हो वहाँ पर छेकानुप्रास होता है ।३ यथा--

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपु: शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥

इसमें "स्पन्द" "मन्दी" में न्, द् की और गण्ड पाण्डु में ण्, ड् की एक ही बार आवृत्ति की गयी है । अतएव यह छेकानुप्रास का उदाहरण है। नियतवर्णों में रहने वाला रस सम्बन्धी व्यापार वृत्ति है । इसे और स्पष्ट करते हुये टीकाकारों का कथन है कि मधुर आदि रसों के लिये मसृण वर्ण इत्यादि का जो नियम है, उन वर्णों का रस-व्यंजना के अनुकूल व्यापार ही वृत्ति है और वृत्ति पर आश्रित अनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास है।४ मम्मट के अनुसार वृत्त्यनुप्रास वहाँ होता है, जहाँ पर कि एक अथवा अनेक व्यंजन का अनेकबार सादृश्य हो ।

---

(१) अनेन यमकव्यावृत्ति: तस्यार्थभेदप्रतिसन्धानेन रसावगमविलम्बात् । लाटानुप्रासे च नातिव्याप्ति: । तात्पर्यभेदप्रतिसंधानेन तत्रापि रसावगमविलम्बात् । उद्योत - पृष्ठ - ४०७ ।

(२) द्रष्टव्य है - काव्य प्रकाश पृष्ठ - ४६६ ।

(३) यत्रानेकं व्यंजनं द्वित्र्यादिव्यंजनसमुदाय: सकृदेकवारमावर्तते तत्र छेकानुप्रास: । संकेत पृष्ठ - २०१ ।

(४) वृत्तिर्हि मधुरादिरसानुगुणा नियतमसृणवर्णादिविषयिणी रसविषयी व्यापारो व्यंजनात्मक: । प्रदीप पृष्ठ - ४०८ ।

इसी प्रसंग में मम्मट ने उपनागरिका, परुषा तथा कोमला इन तीन वृत्तियों का भी सामान्य परिचय दे दिया है। जिनमें माधुर्यगुण के अभिव्यंजक वर्ण हों वह उपनागरिका वृत्ति कही जाती है। जैसे पूर्व विवेचित अनंगरंग इत्यादि उदाहरण। इसी प्रकार ओज के अभिव्यंजक वर्णों वाली परुषा वृत्ति कही जाती है। 'मूर्ध्नामुद्वृत्त' इत्यादि इसका उदाहरण है। उक्त माधुर्य तथा ओज के अभिव्यंजक वर्णों से भिन्न, वर्णों से युक्त वृत्ति कोमलावृत्ति कही जाती है। उद्भटादि कुछ आचार्य इसे ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। उदाहरण इस प्रकार है::-

> अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ॥
> अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥

इस सन्दर्भ में मम्मट यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि उपनागरिका, परुषा तथा कोमला इन्हीं तीन वृत्तियों को वामनादि क्रमशः वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली नाम की तीन रीतियां मानते हैं। विशिष्ट पदरचना ही रीति है और रीति ही उनके अनुसार काव्य की आत्मा है। मम्मट वृत्ति और रीति में अन्तर नहीं मानते। साथ ही वे वृत्ति का इतना महत्त्व भी मानने के पक्ष में नहीं हैं। केवल वृत्तियों को अनुप्रास अलंकार का एक भेद मानते हैं, जिसे कि वे वृत्त्यनुप्रास की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः यह भी मम्मट का अपना योगदान नहीं है, बल्कि परम्परा में अनेक आचार्यों ने वृत्तियों को अनुप्रासअलंकार में अन्तर्भूत किया है, भामह ने भी ही वृत्ति को दृष्टि में रखकर अनुप्रास अलंकार का स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया तथापि उन्होंने ग्राम्यानुप्रास लाटानुप्रास इत्यादि रूप में ग्राम्य (कोमला) वृत्ति का संकेत किया है। इसी संकेत पर उद्भट ने तीनों वृत्तियों पर आश्रित अनुप्रास अलंकार का स्वरूप प्रस्तुत किया है।१

रीति और वृत्ति में ध्वनिवादी आचार्य अन्तर नहीं मानते।२

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है --- काव्यालंकारसार-संग्रह- १-७

(२) नैव वृत्तिरीतीनाम् तदव्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। ---अतएव वृत्तयो अनुप्रासेभ्यो-
अतिरिक्तवृत्तयो वा व्यापिक व्यापारा। -- लोचन पृष्ठ-५।

ध्वनिपरम्परा के अनन्य - अनुयायी आचार्य मम्मट ने भी यहाँ पर ध्वनिपरम्परा का सर्वथा अनुकरण किया है। ठीक यही बात वृत्तियों की संख्या में भी है। इनके पूर्व आचार्य रुद्रट ने वृत्तियों की संख्या पाँच एवं उन पर आधारित पाँच ही वर्णगत अनुप्रास माना है।१ किन्तु मम्मट इनकी संख्या तीन ही मानने के पक्ष में नहीं हैं। क्योंकि जब वे माधुर्यादि तीन गुण मानते हैं, तब उन्हें तदभिव्यंजक तीन वृत्तियाँ भी माननी पड़ेंगी।

<u>शब्दानुप्रास</u>:- इसी को लाटानुप्रास भी कहा जाता है। मम्मट के अनुसार इसमें केवल तात्पर्यमात्र का भेद रहता है। (भेदे तात्पर्यमात्रतः)। इसके व्याख्यान में टीकाकारों का कथन है कि यहाँ सार्थक वर्ण समूह (शब्द) की आवृत्ति होती है किन्तु तात्पर्य में भिन्नता होती है, वहाँ शब्दानुप्रास होता है। उद्भट प्रभृति आचार्य इसे ही पदानुप्रास कहते हैं। किन्तु मम्मट को यह अभीष्ट नहीं है। क्योंकि शब्द से प्रातिपदिक तथा पद दोनों का ग्रहण हो जाता है, जब कि पद कहने से केवल सुबन्त, तिङन्त रूप पद का ही। शब्दानुप्रास के प्रथमतः दो भेद हो जाते हैं (१) पदगत (२) नामगत। पदगत भी (१) अनेकपदगत तथा एकपदगत इन दो प्रकार का हो जाता है। नामगत के तीन प्रकार हो जाते हैं (१) एकसमासगत (२) भिन्न समासगत (३) समास तथा असमासगत (इस प्रकार कुल मिलाकर शब्दानुप्रास के पाँच भेद हो जाते हैं।२ इन पाँचों भेदों का उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है।

"भेदे तात्पर्यमात्रतः" के मम्मट के अभिप्राय को विवरणकार ने सुस्पष्ट कर दिया है। तदनुसार उद्देश्य विधेय भावादि और कर्तृकर्मत्वादि रूप पद और अर्थ का सम्बन्ध अन्वय है, वही यहाँ पर तात्पर्य है। केवल अन्वयमात्र ही भेद होता है न कि स्वर, अर्थ तथा क्रम में भी भेद हो। अतएव विभिन्न अन्वयपरक

---

(१) मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः॥ काव्यालंकार-२-१९।

(२) द्रष्टव्य है विवरण पृष्ठ-२२६।

साम्यानानुपूर्वीक तुल्यस्वरूप एकार्थ वाले वर्णों का अनतिव्यवधान से आवृत्ति शब्दानुप्रास है।[१] यही लाटानुप्रास भी कहा जाता है, क्योंकि लाटदेशवासियों को यह अनुप्रास सर्वाधिक प्रिय है। इसके उक्त पाँचों भेदों में से प्रथम अर्थात् अनेकपदगत उदाहरण यह पद्य है :-

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

यहाँ पूर्वार्ध में उद्देश्य है दवदहन और विधेय है तुहिनदीधिति (शीतांशु)। उत्तरार्ध में ठीक इसका विपरीत अर्थात् तुहिनदीधिति उद्देश्य तथा दवदहन विधेय। इस प्रकार से अन्वय भेद से तात्पर्य भिन्न हो जाता है। शब्दार्थ समूह सर्वथा अभिन्न है। अलंकार माणिक्यचन्द्र इसका एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार है:-

न्यायशालिनी भूपाले संग्रहो नावसीदति ।
विपरीते पुनस्तत्र संग्रहो ना वसीदति ॥

यहाँ पर स्थानद्वय में अनेक पदों की सकृत् आवृत्ति की गई है। असकृत् आवृत्ति का उदाहरण भी अलंकार प्रस्तुत कर देते हैं ::-

सन्ति सन्तः किं न सन्ति सन्ति चेदन्विवेकताम् ।
किं कुप्यन्ति न कुप्यन्ति ते कुप्यन्ति किमीदृशाः ॥

इसी प्रकार मम्मट ने एक पदगत शब्दावृत्ति का उदाहरण 'वदनं वरवर्णिन्याः'

---

(१) उद्देश्यविधेयभावादिः, कर्तृकर्मकरणादिरूपश्च पदार्थयोः सम्बन्धोऽन्वयः, तदेवाकारतात्पर्यम् तन्मात्रस्य भेदे (न तु स्वरूपतोऽर्थतः प्रकारतश्च भेदेऽपि)। तेन विभिन्नान्वयपराणाम् सामानुपूर्वीकाणाम् च तुल्यस्वरूपाणामेकार्थानां वर्णानां (वर्णयोर्वा) अनतिव्यवधानेनावृत्तिः शब्दानुप्रासः॥ विवरण पृष्ठ-२२६।

हुई दो (वस्तुओं) की प्रतिकृति अथवा चित्र रचना । मम्मट के अनुसार इस अलंकार का लक्षण इस प्रकार है --

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।

अर्थात् यदि अर्थ हो तो भिन्नार्थक वर्णसमुदाय की" यमक पुनः आवृत्तिमूलक अलंकार है। टीकाकार उक्त लक्षण की सिद्धि भिन्न प्रकार से स्पष्ट करके स्वीकार करते हैं। वर्णानाम् के साथ स्वरयुक्तानाम् भी है। अतएव स्वरसहित वर्णों की पुनः श्रुति (आवृत्ति) यमक है। वर्णानाम् से केवल अनेक वर्णों का समुदाय यमक ही प्रादुर्भूत कर सकता है, ऐसी बात नहीं। एक वर्ण या दो वर्णों की पुनः श्रुति में भी यमक होता है। एक वर्ण के पादादि, पादमध्य तथा पादान्त में आवृत्ति का उदाहरण मानना संभव इत्यादि है।१

यमक के उक्त लक्षण को सामान्यतः टीकाकार चार अंश में विभक्त कर स्पष्ट करते हैं। (१) वर्णानाम् पुनः श्रुतिः यमकम्, यह इसका सामान्य लक्षण कहा जा सकता है। तदनुसार वर्णों की आवृत्ति यमक है। किन्तु यही बात तो लाटानुप्रास में भी होती है। वहाँ भी तो वर्णसमूह की पुनः श्रुति रहती है। अतः लक्षण को अतिव्याप्ति दोष से बचाने के लिये मम्मट "अर्थभिन्नानाम्" विशेषण का प्रयोग करते हैं। भाव यह है कि लाटानुप्रास में एक ही अर्थवाले वर्णसमूह आवृत्त होते हैं। जब कि यमक में भिन्नार्थक। "अर्थभिन्नानाम्" विशेषण के प्रयोग का यही अभिप्राय है।

यदि अर्थभिन्नानां वर्णानां पुनः श्रुतिः, इतनेमात्र को यमक का लक्षण मान लिया जाय तो एक दोष आ पड़ता है। वह यह कि जिन वर्णसमूहों

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) वर्णानामिति । स्वरयुक्तानामिति शेषः । तथा सूत्रे लिंगवचने अतन्त्रे इति न्यायात् वर्णस्य वर्णयोश्च पुनः श्रुतौ यमकत्वम् । - - - वर्णस्य पादादिमध्यान्तेषु आवृत्तिविधानात्मकं संभवोऽयम । वर्णौ द्वौ समानौ । तत्प्रतिकृतिरीयम् ।
--- संकेत पृष्ठ- २०४ ।

की आवृत्ति हो उन्हें सार्थक होना आवश्यक है, यह सूत्र उक्त पंक्ति से ध्वनित होता है। इस दशा में समरसमरसोऽयम् ; इत्यादि स्थल में यमक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम समर वर्णसमूह तो सार्थक है किन्तु द्वितीय निरर्थक। यह तो समरस में प्रयुक्त वर्णों में से तीन वर्णमात्र है। उससे किसी पद की तो पूर्ति होती नहीं। अतएव वह निरर्थक है। इस प्रकार के निरर्थक वर्णसमूह में भी लक्षण की अव्याप्ति न हो, इसलिये लक्षण में अर्थसति का प्रयोग हुआ है। अर्थात् यदि अर्थ हो तो भिन्न हो। ध्वनित यह होता है कि पुनः श्रुत निरर्थक वर्णसमूह भी यमक अलंकार के क्षेत्र में आ सकते हैं।

लक्षण में "सः" का प्रयोग भी साभिप्राय है। यदि भिन्नार्थक वर्णसमूह की आवृत्ति ही यमक अलंकार है, तो सरो रसः में भी यमक होने लगेगा। क्योंकि वर्णों की आवृत्ति भी है और अर्थ में भिन्नता भी है, केवल आवृत्त वर्णसमूह के क्रम में परिवर्तन है। इसी के निवारणार्थ लक्षण में "सः" पद का प्रयोग हुआ है। जिसका अभिप्राय है कि वर्णों की आवृत्ति पूर्वक्रम से हो होने पर यमक अलंकार निष्पन्न हो सकता है।

रुद्रट प्रभृति आलंकारिकों ने यमक अलंकार को जितना महत्त्व देकर सोदाहरण सप्रभेद उसका विवेचन किया है, निस्सन्देह उतना प्रश्रय मम्मट ने नहीं दिये। प्रतीत ऐसा होता है कि मम्मट यमक अलंकार के प्रशंसक नहीं हैं। अन्यथा परम्परा ने जितने संरम्भ के साथ उसके भेद एवं उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसका संकेत तो कम से कम मम्मट करते ही। इसके अतिरिक्त इस अलंकार के विवेचन में एक भी ऐसा वाक्य दृष्टिपथ पर नहीं आता, जिससे कि इसके प्रति उनकी आस्था जानी जा सके। केवल एक साथ अनेक भेदों की गणना करके कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर देते हैं। भेदों का पृथक् नाम निर्देश भी नहीं है, यद्यपि सब परम्परा के अनुसार ही है।

<u>यमक अलंकार के भेद::-</u> इसके भेदों को मम्मट दो भागों में विभक्त कर प्रस्तुत करते हैं। उनमें से प्रथम पादज तथा द्वितीय तदंशगत (पादभागगत) है।[१] श्लोक का

---

(१) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्। का० ९।८३

चतुर्थ भाग पाद का वर्णन [illegible] है। पादगत में सर्व प्रथम नौ भेद पाद की आवृत्ति के, तथा श्लोकार्ध एवं सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति के दो भेद मिला कर पादगत आवृत्ति के ग्यारह भेदों का [illegible] प्रस्तुत करते हैं। उनका क्रमशः स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है।

(१) प्रथम पाद द्वितीय पाद के स्थान पर आवृत्त होता है। रुद्रट इसे "मुख" यमक कहते हैं।१

(२) प्रथम पाद तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्त होता है। यह रुद्रट का "संदंश" नामक यमक है।

(३) प्रथम पाद चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त होता है। यह रुद्रट का आवृत्ति यमक है।

(४) द्वितीय पाद तृतीय के स्थान पर आवृत्त होता है जिसे रुद्रट गर्भ यमक कहते हैं।

(५) द्वितीय पाद चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त होता है। यही सन्दष्टक यमक भेद कहा गया है।

(६) तृतीय पाद चतुर्थ के स्थान पर आवृत्त होता है, यही पुच्छ नामक यमक भेद है।

(७) प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ तीनों पादों में आवृत्त होता है। यह पंक्ति यमक है।

(८) प्रथम पाद द्वितीय के स्थान में और तृतीय पाद चतुर्थ के स्थान में आवृत्त होता है। यह युग्मक यमक है।

(९) प्रथम पाद चतुर्थ पाद के स्थान पर और द्वितीय पाद तृतीय के स्थान में आवृत्त होता है। इसी को प्राचीन परिवृत्ति यमक कहते हैं।

इन नौ भेदों के साथ श्लोकार्ध तथा सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति रूप दो भेद मिलकर यहाँ पादगत यमक के ग्यारह भेद हैं। रुद्रट ने श्लोकार्ध

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) रुद्रट के यमक अलंकार के भेद द्रष्टव्य हैं, काव्यालंकार ३।२ से ५६ तक।

आवृत्तियमक को समुद्गमक यमक तथा श्लोकावृत्ति को महायमक नाम दिया है । इनमें से केवल सन्दंश (द्वितीय भेद) का 'सन्नारीभरणोमायमाराध्य' इत्यादि, युग्मक (अष्टमभेद) का 'विनायमेनो' इत्यादि तथा महायमक का 'सत्वारम्भरतोऽवश्यमबलम्' इत्यादि उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है । आश्चर्य है कि तीनों उदाहरण रुद्रट ने भी प्रस्तुत किया है ।

**पादभागगत यमक :-**

उपर्युक्त आवृत्ति पादगत यमक के भेदों में श्लोक की आवृत्तिरूप महायमक के अतिरिक्त शेष दस भेद, पादभागावृत्ति में भी होते हैं । यदि पाद को दो भागों में विभक्त कर दिया जाय तो पादभागावृत्ति के सोलह भेद भी आते हैं । वह इस प्रकार कि पूर्वोक्त प्रथमादि पादादिभाग, द्वितीयादि पादादि भागों में आवृत्त होकर तथा अन्तिम भाग, अन्तिम भाग में आवृत्त होकर के सोलह भेद होंगे । इसी प्रकार यदि पाद को तीन भागों में विभक्त किया जाय तो दो पादभागावृत्ति के तीस भेद और यदि चार भागों में विभक्त किया जाय तो उसके चालीस भेद हो जायेंगे ।[१] यहाँ तक सजातीय भेदों की संख्या जाननी चाहिये । सजातीय से अभिप्राय है - जैसे प्रथम पाद के आदि भाग की द्वितीय पाद के आदिभाग के स्थान पर आवृत्ति भी यथा उत्क्रम से अन्तिम भाग की, अन्तिम भाग के स्थान पर आवृत्ति हो । इसके अतिरिक्त विजातीय भागावृत्ति से यमक भेदों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है । किन्तु वे सब रसचर्वणा में बाधक सिद्ध होते हैं । अतएव मम्मट उनका काव्य में अधिक व्यवहार उपयुक्त नहीं समझते । 'तदेतत्काव्यान्तर्गतगडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्' इस कथन के साथ इसका भेद विवेचन ही समाप्त कर देते हैं । गडुभूतम् का अभिप्राय है कि जैसे गन्ने के रसास्वाद के समय उसकी गाँठ आ जाने पर रसास्वाद में व्याघात पड़ता है, उसी प्रकार उक्त पादभागावृत्ति यमक का अरसास्वाद में विलम्ब करके सहृदय को उद्विग्न करते हैं । प्रतीत ऐसा होता है कि मम्मट इसी कारण से इस अलंकार को महत्त्व प्रदान नहीं करते । यद्यपि प्राचीनों ने इसे कवियों की शक्ति की कसौटी माना है । सत्कवि को चाहिए कि वह महाकाव्य

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है काव्यप्रकाश- पृष्ठ- ४०२ ।

में यमक अलंकार का प्रयोग अवश्य करें।१ किन्तु मम्मट ने प्राचीनों के अनुरोध का कोई महत्व नहीं दिया है। जिस प्रकार पादगत यमक के तीन उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार तदभागगत यमक के अनेक भेदों में केवल पांच पादभागावृत्ति सन्दष्टक, आद्यन्तिकयमक, केवल उत्तरार्ध में समुच्चय पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों में समुच्चय, अनियतपादभागावृत्ति यमक - के उदाहरण प्रस्तुत किया है।२

**श्लेष अलंकार:-**

श्लेष अलंकार का विवेचन काव्य-शास्त्र में परम्परा से होता चला आया है। मम्मट तक इसका स्वरूप प्राय: स्फुट हो ही चुका था। केवल इसका एक पक्ष विवाद का विषय बना रहा। वह यह कि श्लेष को शब्दालंकार माना जाय अथवा अर्थालंकार। मम्मट ने इस पक्ष पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। श्लेषालंकार के तीन पक्ष मम्मट ने ग्रहण किया है, जो इस प्रकार है-- (१) लक्षण (२) उदाहरण (३) शब्दालंकारविषयक मान्यता। इन तीनों का क्रमश: स्वरूप यहां द्रष्टव्य है।

जहां तक श्लेष अलंकार के लक्षण का प्रश्न है, उसमें मम्मट प्राचीनों का ही अनुसरण करते हैं। लक्षण विषयक कारिका इस प्रकार है:-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृश: ।
श्लिष्यन्ति शब्दा:, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥

इस लक्षण में वाच्यभेदेन भिन्ना तथा युगपद्भाषणस्पृश: को मम्मट ने वृत्तिभाग में भी स्पष्ट किया है। तदनुसार अर्थभेदेन शब्दभेद: इस सिद्धान्त

---

(१) इति यमकमशेषं सम्यगालोच्य धीमान् ,
सुकविरभियुक्तैर्वस्तुन्यौचित्ययुक्तिभि: ।
सुविहितपदभंगम् सुप्रसिद्धाभिधानम् ,
तदनु विरचकोऽयं सन्निवेश्यं भूम्ना ।
(रुद्रट - काव्यालंकार ३-५९) ।

(२) द्रष्टव्य है काव्यप्रकाश उदाहरण संख्या - ३६-४८ ।

अर्थद्वय की प्रतीति होती है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है[1]। अर्वाचीन टीकाकारों के अनुसार पद जहाँ से श्लिष्ट रहते हैं, वहाँ श्लेष अलंकार होता है। अगृहीतभिन्नस्वरूप ही श्लेष है।[2]

<u>श्लेषालंकार के भेद एवं उनके उदाहरण :-</u> श्लेष की लक्षण निर्मापक कारिका में "वर्णादिभिरष्टधा" कहकर मम्मट ने उसके आठ भेदों की ओर संकेत किया है। वृत्तिभाग में इन आठों भेदों को इस प्रकार गिनाया है -- (१) वर्ण (२) पद (३) लिंग (४) भाषा (५)भाषा प्रकृति (६) प्रत्यय (७) विभक्ति (८) वचन।

इन आठों भेदों में से एक-एक भी ऐसा नहीं, जिसे मम्मट का नवीन योगदान कहा जा सके। इन सब का सुस्पष्ट विवेचन रुद्रट ने प्रस्तुत किया है। साथ ही मम्मट का श्लेष लक्षण भी रुद्रट से अधिक प्रभावी नहीं है। साथ ही जहाँ रुद्रट वर्णादि आठ का लक्षण प्रस्तुत करके उनका स्वतंत्र रूप से उदाहरण प्रस्तुत कर मौन हो जाते हैं। लिंग और वचन रूप श्लेष (तृतीय तथा चतुर्थ भेद) को एक ही उदाहरण "भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी" इत्यादि में स्पष्ट किया है। तात्पर्य है कि इन उदाहरणों की व्याख्या में कोई उल्लेखनीय योगदान मम्मट अथवा उनके टीकाकारों का नहीं है।

<u>सभंग श्लेष :-</u> जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि मम्मट ने रुद्रटादि के अनुसरण पर वर्णादि आठ भेदों का स्वरूप प्रतिपादित किया है। ये भेद सभंग श्लेष कहे जाते हैं। क्योंकि इनमें प्रकृति प्रत्यय आदि के भेद से

---

१- भिन्नस्वरूपम् अपरमुक्ताक्षरजतुन्यायेन यत्रार्थद्वयप्रतीतिः स श्लेष इत्यर्थः। प्रदीप पृष्ठ ४१८

२- अयमाशयः शब्दाः पदानि वा : श्लिष्यन्ति स श्लेषः। अगृहीतभिन्नस्वरूपत्वं श्लेषाणाम्। सुधासागर पृष्ठ ५२५

के अभाव में अभिन्न अर्थात् एक ही प्रयत्न से उच्चारित किये जाने में समान शब्दों की रचना में अन्य अलंकारों के प्रतिभोत्पत्ति का हेतु शब्दश्लेष एवम् अर्थश्लेष इन दोनों प्रकार के श्लेषों को ( अन्यैः ) प्राचीनालंकारिकों ने अर्थालंकारों में गिनाया है । तब इन्हें शब्दालंकार कैसे कहा जा सकता है ।

"अन्यैः" से मम्मट का अभिप्राय निश्चित ही प्राचीनों से है । संकेतकार के अनुसार मम्मट का आशय उद्भटादि की ओर है ।[1] प्रभाकर के अनुसार मम्मट का यह पूर्व पक्ष ही अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक की श्लेषालंकार भेद व्यवस्था को दृष्टि में रख कर, उन्हीं के मत को उपन्यस्त किया गया है ।[2] वस्तुतः पूर्वोक्त व्याख्यान ही समीचीन प्रतीत होता है । क्योंकि अलंकार सर्वस्वकार के ही मम्मट के पूर्ववर्ती होने में अनेक आचार्यों को सन्देह है ।

उक्त पूर्व पक्ष का आशय प्रदीपकार तथा उद्योतकार ने भली भाँति समझाया है । तदनुसार श्लेष दो प्रकार का होता है ।(१) सभंग (२) अभंग । " पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव" इत्यादि सभंग का उदाहरण है । क्योंकि इसमें पृथुकार्तस्वरस्य पात्रम् अथवा पृथुकानाम् आर्तस्वरस्य पात्रम् इस रूप में पद भंग करके अनेकार्थ प्रतीति होती है । अभंग श्लेष में दोनों अर्थों में पद एक ही रहता है । जैसे " योऽसकृत् " इत्यादि उदाहरण में । सभंग तथा अभंग श्लेष में अन्तर यह है कि सभंग श्लेष में भिन्न भिन्न स्वर वाले पद होते हैं , केवल उच्चारण की समानता से उनमें एकरूपता का आभास होता है । वस्तुतः पद विजातीय होते हैं और विजातीय शब्दों के श्लिष्ट होने से ही इसे शब्द श्लेष कहा जाता है । अभंग में शब्द भिन्न नहीं होते । अतः यह अवश्य अर्थश्लेष है ।

पूर्व पक्ष का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि श्लेष उपमा

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- अन्यैरिति, उद्भटादिः । संकेत पृष्ठ २९०

२- अलंकारसर्वस्वकाराद्युक्तां श्लेषस्य शब्दार्थालंकारत्वव्यवस्थामितरालंकारबाधकतां दूषयितुं तन्मतमुपन्यस्यति नान्यैरित्यादिना । प्रभा पृष्ठ २६७-६८

प्रभृति अलंकारों का बाधक है । क्योंकि दोनों शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष के स्थल पर कोई उपमादि अन्य अलंकार होता है । अत: ये अन्य अलंकारों के बाधक हैं और अन्य अलंकार केवल आभास मात्र हैं ।

दूसरी बात यह है कि सभंग तथा अभंग दोनों प्रकार के श्लेष अर्थ की अपेक्षा रखते हैं । अतएव दोनों को ही अर्थालंकार मानना चाहिये । सभंग श्लेष में शब्दद्वय जतुकाष्ठन्याय से श्लिष्ट रहते हैं । अभंग श्लेष में एकवृन्तगतफलद्वयन्याय से अर्थद्वय श्लिष्ट रहते हैं ।[1]

अलंकार शास्त्र में श्लेषालंकार को सर्वमान्य- निर्णय नहीं प्राप्त है कि यह शब्दालंकार है, अथवा अर्थालंकार । भामह, दण्डी प्रभृति आचार्य इसे केवल अर्थालंकार मानने के पक्ष में हैं । वैज्ञानिक विश्लेषण का श्रेय उद्भट को है । उन्होंने श्लेष को अर्थ का अलंकार माना । परवर्ती आचार्यों का श्लेष अलंकार का लक्षण उद्भट के लक्षण व विवेचन से अनुप्राणित है । मम्मट लक्षण निर्माण में तो उद्भट का अनुसरण अवश्य करते हैं किन्तु अर्थालंकार विषयक मान्यता में उनका मतभेद है ।

दूसरी ओर रुद्रट श्लेष को शब्द तथा अर्थ दोनों के अन्तर्गत मानते हैं । अर्थात् शब्दश्लेष को शब्दालंकार के अन्तर्गत तथा अर्थश्लेष को अर्थालंकार के अन्तर्गत मानते हैं ।[2]

इसी सन्दर्भ में रुय्यक का भी मत जान लेना आवश्यक है । रुय्यक का व्याख्यान उद्भट के अनुसरण पर है । ये श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं । शब्दश्लेष अर्थात् सभंगपदश्लेष तथा अर्थश्लेष अर्थात् अभंगपदश्लेष दोनों अर्थालंकार में ही मानते हैं । साथ ही जतुकाष्ठन्याय से सभंगश्लेष तथा एकवृन्तगतफलद्वयन्याय से अभंगश्लेष सिद्ध करते हैं ।[3]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- प्रदीप पृष्ठ ४२२

२- वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
शब्दस्यालंकारा: श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ।। काव्यालंकार २-१३

३- अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२४

मम्मट का पूर्वपक्ष, उद्भट के सिद्धान्त का समाधान यहाँ हो सकता है। इसमें मम्मट को केवल इतना ही प्रदर्शित करना है कि सभंग श्लेष को तो किसी प्रकार शब्दालंकार मान भी लिया जाय, किन्तु अभंग श्लेष जो सर्वथा अर्थ पर आश्रित है, उसे शब्दालंकार कैसे कहा जा सकता है।

<u>अभंगश्लेष अर्थालंकार नहीं :-</u> उक्त पूर्व पक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हुये मम्मट का कथन है कि दोष, गुण तथा अलंकार की शब्दगत अथवा अर्थगत होने की विभाग व्यवस्था का आधार अन्वय-व्यतिरेक है। उदाहरणार्थ कष्टत्वादि दोष, गाढ़बन्धत्वादि ओजगुण ( [illegible] ) तथा अनुप्रासादि अलंकार शब्दगत हैं। क्योंकि ये शब्द के भाव और अभाव का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार अपुष्टत्व आदि दोष, प्रौढ़ि आदि अर्थ का ओज गुण तथा उपमादि अलंकार अर्थगत हैं। क्योंकि अर्थ के भाव और अभाव का अनुसरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो गुण दोषादि शब्द का अन्वयव्यतिरेक से अनुसरण करते हैं उन्हें शब्दगत तथा जो अर्थ का अनुसरण करते हैं उन्हें अर्थगत कहा जाता है। यही इनकी विभाग व्यवस्था है। सभंग तथा अभंग दोनों प्रकार के श्लेष शब्द का ही अनुसरण करते हैं यथा:-

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा।

यहाँ पर पूर्वार्ध में ( भास्वत् ) अभंग श्लेष है, तथा उत्तरार्ध में ( अस्वाप) सभंग श्लेष है। दोनों श्लिष्ट पदों में शब्दपरिवृत्त्यसहत्व है। यथा- भास्वत् के स्थान पर सूर्य पद के प्रयोग से श्लेष अलंकार हो नहीं होगा। निष्कर्ष यह कि अभंग श्लेष भी अर्थालंकार नहीं है। अतः दोनों भेद निश्चित रूप से शब्दालंकार के ही अन्तर्गत माने जायेंगे।

<u>श्लेषका अर्थालंकार स्वरूप :-</u> उक्त पूर्व पक्ष एवं उसके समाधान से यह निष्कर्ष कदापि ग्रहण न करना चाहिये कि श्लेष का अर्थालंकार सम्भव ही नहीं है। सभंग श्लेष तथा अभंग श्लेष

अन्वयव्यतिरेक से शब्द का अनुसरण करते हैं। यही कारण है मम्मट इन्हें शब्दालंकार की कोटि में रखते हैं। किन्तु जहाँ पर श्लेष की दशा में शब्दपरिवृत्तिसहत्व रहता है अर्थात् पर्यायवाची शब्द के प्रयोग करने पर भी अनेकार्थप्रतीति निर्बाध निष्पन्न हो जाती है,वहाँ श्लेष अर्थालंकार के ही अन्तर्गत माना जायेगा। यथा :-

> स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
> अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इसमें स्तोकेनोन्नतिमायाति के स्थान पर अल्पेनोच्चमायाति रख देने पर भी श्लेष अपरिहार्य है। इस प्रकार का श्लेष रचना,शब्दपरिवृत्ति सह होने के कारण, तथा अर्थाश्रित होने के कारण अर्थश्लेष ही कहा जायेगा।

<u>उपमादि का बाधक श्लेष :-</u> पूर्वपक्षी का यह भी कथन है कि श्लेष उपमादि अन्य अलंकारों का बाधक है।भाव यह है कि जिन स्थलों में श्लेष के साथ उपमादि अन्य अलंकारों की भी प्रतीति होती हो,वहाँ पर श्लेष अन्य अलंकार का बाधक होगा। उसमें प्रधानता श्लेष की ही होती है। उपमादि का केवल आभास ही रहता है। उनकी सर्वांगीण विश्रान्ति नहीं रहती। इस कथन की पुष्टि में तर्क यह है कि श्लेष के साथ कोई अन्य अलंकार अवश्य ही प्रतीत होता है। यदि सर्वत्र अन्य अलंकार को ही प्रधानता मानली जाय तो श्लेष अलंकार निरवकाश हो जायेगा। जैसे 'स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' इत्यादि उदाहरण में श्लेष तथा उपमा दोनों अलंकारों की स्थिति है। पूर्वपक्षी यहाँ पर श्लेष को प्रधान अलंकार तथा उपमाको आभासमात्र मानता है। मम्मट का मत है कि उक्त उदाहरण में वस्तुतः उपमा ही प्रधान अलंकार है। आभासमात्र तो श्लेष का ही है।[1]

अब प्रश्न उठता है कि इस उदाहरण में किस आधार पर उपमा मानी जाय ? इसमें पार्वती का प्रभातसन्ध्या के साथ भास्वत्करविराजित्व का साधर्म्य प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतःउन दोनों में कोई यथार्थसाम्य नहीं है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1- काव्यप्रकाश पृष्ठ 420

"भास्वद्-कर" के प्रयोग से केवल शब्दमात्र का साम्य है । शब्दमात्रसाम्य के आधार पर उक्त उदाहरण में उपमालंकार कैसे माना जा सकता है ?

इसके समाधान में मम्मट का कथन है कि शब्दसाम्यमात्र की दशा में भी उपमालंकार माना जा सकता है । गुणसाम्य, क्रियासाम्य तथा उभयसाम्य में तो उपमा होती ही है, जैसे- "कमलमिवमुखं मनोज्ञमेतत् कचति तराम्", इत्यादि में । यहाँ कमल तथा मुख के बीच मनोज्ञत्वरूप गुणसाम्य तथा कचति (दीप्ति) रूप क्रियासाम्य के आधार पर उपमा है । इसी प्रकार शब्दसाम्य में भी उपमा मानी जा सकती है । जैसे - "सकलकलं पुरमेतज्जातम् सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव," इत्यादि में सकलकलत्वरूप शब्दसाम्य के आधार पर चन्द्रमा तथा पुर में उपमालंकार है । साथ ही प्राचीन आचार्य रुद्रट ने भी कहा है कि यद्यपि उपमा तथा समुच्चय निश्चितरूप से अर्थालंकार ही हैं, तथापि शब्दमात्रसाम्य होने पर ये शब्दालंकार भी होते हैं ।[1] अतः "स्वयं च पल्लवाताम्र" इत्यादि उदाहरण में प्रधान रूप से उपमालंकार है । ज्ञातव्य है कि उद्भट ने इस उदाहरण में उपमा प्रतिभोत्पत्तिहेतु श्लेष माना है । उन्हीं का मत मम्मट का पूर्वपक्ष है, जिसका कि उन्होंने खण्डन किया है ।

यदि पूर्वपक्षी यह सिद्धान्त प्रस्तुत करे कि साधारण धर्म से युक्त उदाहरण ही उपमा का विषय बन सकते हैं, जैसे-कमलमिव मुखम्, इत्यादि उदाहरण में मनोज्ञत्वरूप साधारण धर्म के प्रयोग में जहाँ पर उपमा और श्लेष दोनों की प्रतीति हो, वहाँ मुख्य अलंकार श्लेष ही हो तो मम्मट इस सिद्धान्त का भी अनुमोदन नहीं करते । क्योंकि ऐसा मान लेने पर पूर्णोपमा का विषय ही समाप्त हो जाता है । पूर्वपक्षी का प्रयास केवल इतना है कि जहाँ पर श्लेष की दशा रहती है, वहाँ सर्वत्र उपमादि किसी अन्य अलंकार की

---

१- स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः ॥ काव्यालंकार

प्रतीति अवश्य होती है । यदि उसी अन्य अलंकार को स्वतंत्र मान लिया जाय तथा श्लेष का आभासमात्र समझा जाय तो निस्सन्देह श्लेष निरवकाश ही हो जायेगा । किन्तु मम्मट ने ऐसे भी स्थल प्रदर्शित किये हैं, जहाँ पर कि केवल श्लेष की ही प्रतीति होती है । यथा :-

देव! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मक :

इसमें उपमादि अलंकार से रहित स्वतंत्र रूप से श्लेष अलंकार की प्रतीति होती है । अतएव 'अयं पल्लवाताम्रास्तकरविराजिता' इत्यादि अविवादास्पद उदाहरणों में, श्लेष को उपमादि का बाधक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । अपितु प्रधानता उपमादि की ही है । अधिक से अधिक श्लेष का आभासमात्र होने से उदाहरण में दोनों का संकर माना जा सकता है । यही है मम्मट की मान्यता ।[1]

उक्त विवेचन से तो यह सिद्ध हो जाता है कि उपमा तथा श्लेष में बाध्य-बाधक जैसा कोई सम्बन्ध नहीं है । तथापि विरोधादि अन्य अलंकारों में ऐसी दशा आ पड़ने पर, वहाँ किसकी प्रधानता मानी जाय । यह प्रश्न भी उक्त विवेचन के अनुसरण पर ही मम्मट ने स्पष्ट किया है । उदाहरणार्थ "अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका" इत्यादि में विरोध की प्रतिभोत्पत्ति का हेतु श्लेष नहीं है, अपितु श्लेष की प्रतिभोत्पत्ति का हेतु विरोध है । क्योंकि शब्द-श्लेष अर्थद्वय का प्रतिपादक नहीं है, अपितु द्वितीयार्थ का आभासमात्र होता है । साथ ही जैसे विरोध का आभास ही विरोधालंकार होता है क्योंकि वास्तविक विरोध तो दोष है, वैसे ही श्लेष का आभास ही श्लेषालंकार कभी नहीं हो सकता । वास्तविक श्लेष होने पर ही श्लेष अलंकार माना जायेगा । उक्त उदाहरण में इसीलिये विरोधाभास ही मुख्य अलंकार है । श्लेष का आभास मात्र ही है । अत: श्लेष विरोधाभास अलंकार का भी बाधक नहीं है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- द्रष्टव्य है काव्य प्रकाश पृष्ठ ५२३

उपमा तथा विरोधाभास अलंकारों में श्लेष को अप्रधानतः सिद्ध करने के साथ, मम्मट ने चार ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें कि मुख्य अलंकार रूपक, व्यतिरेक, समासोक्ति तथा विरोध है। यहाँ श्लेष का आभासमात्र रहता है। इससे मम्मट ने यह तय कर दिया कि उद्भट रुय्यक आदि जहाँ श्लेष को मुख्य अलंकार मानते हैं और श्लेष को अन्य अलंकार का बाधक मानते हैं, ठीक इसी के विपरीत मम्मट ऐसे स्थलों में श्लेष को आभास सिद्ध करते हुये अन्य अलंकारों को प्रधानता स्वीकार करते हैं।

**अर्थ की अपेक्षा में श्लेष का अर्थालंकारत्व असाम्य :-** उद्भटादि आलंकारिक शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में आश्रयाश्रयिभाव को ही विभागहेतु मानते हैं और शब्दश्लेष को भी अर्थालंकार में अन्तर्भुक्त करते हैं। कारण यह कि शब्द श्लेष तथा अर्थश्लेष दोनों ही अर्थ के आश्रित हैं। मम्मट इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं। तदनुसार यह कैसा न्याय है कि कहा तो जाय शब्दश्लेष और गणना की जाय अर्थश्लेष के अन्तर्गत। काव्य का शब्दार्थ विषयक वैचित्र्य ही अलंकार है। कवि का संरम्भ जिसमें भी हो अर्थात् शब्द में या अर्थ में, उसी में चमत्कार माना जायगा। यदि शब्द संयोजना में कवि का संरम्भ है तो उसे शब्दालंकार मानने में पूर्वपक्षी को आपत्ति ही क्यों है। और यदि यह तर्क कि दोनों प्रकार के श्लेषों को अर्थ की अपेक्षा होती है, केवल इसी दृष्टि से उन्हें अर्थालंकार के अन्तर्गत रक्खा गया है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में अर्थ की अपेक्षा तो सभी को रहती है। तब क्यों न अनुप्रासादि अलंकार को भी अर्थालंकार के अन्तर्गत न मान लिया जाय। क्योंकि रसादिके व्यञ्जक अर्थ की अपेक्षा अनुप्रासादि को भी होती है। इतना ही नहीं एक भयंकर अव्यवस्था यह भी आ पड़ेगी कि सम्पूर्ण दोष, गुण तथा अलंकार का शब्दगत अथवा अर्थगत होने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा। क्योंकि दोष गुणादि को भी किसी न किसी अंश तक अर्थ की अपेक्षा रहती ही है। इस प्रकार से यदि सिद्धान्त माना जाय तो अव्यवस्थादोष का निवारण नहीं किया जासकेगा।

पूर्वपक्ष का एक अंश यह भी है कि अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य पदों में एकवृन्तगत फलद्वय न्याय से प्राप्त श्लेष अर्थश्लेष है। मम्मट इसका भी खण्डन करते हैं। तदनुसार उक्त दशा में यदि अर्थश्लेष माना जायेगा तो 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादि स्थल में भी अर्थश्लेष मानना पड़ेगा। भाव यह है कि विधि तथा विधु दोनों का सप्तमी का वचन का रूप " विधौ " है। यह वर्णश्लेष का उदाहरण है। किन्तु अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य होने के कारण पूर्वपक्षी के सिद्धान्त से यहाँ भी अर्थश्लेष होने लगेगा। किन्तु यहाँ पर दो भिन्न शब्द हैं, अतः यह अर्थश्लेष नहीं हो सकता। अस्तु। अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य पदों में अर्थश्लेष होता है, यह पूर्वपक्षी का कथन भ्रान्त है।

ज्ञातव्य है कि श्लेषालंकार के विवेचन में मम्मट का प्रमुख योगदान सभंग तथा अभंग पदश्लेष का शब्दालंकारत्व सिद्ध करना है। समसामयिक रुय्यक एक ओर दोनों को अर्थालंकार मानने के पक्ष में हैं तो दूसरी ओर मम्मट उन्हें शब्दालंकार। वस्तुतः मम्मट के तर्क को स्वीकार करने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अतएव दोनों का शब्दालंकारत्व साधु ही कहा जासकता है।

(५) चित्र-अलंकार : -

शब्दालंकारों में पांचवां चित्र अलंकार है जिसका कि विवेचन मम्मट ने किया है। वस्तुतः यह अलंकार रुद्रटादि के द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है। केवल उसी अनुरोध पर मम्मट ने उसका विवेचन शब्दालंकारों में प्रस्तुत किया है। तदनुसार : -

" तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता। "

अर्थात् - जहाँ पर वर्ण समूह खड्गादि आकृति निर्माण के कारण होते हैं वहाँ, चित्र अलंकार होता है। उद्योतकार का कथन है कि -

" सन्निवेशविशेषेण खड्गाद्याकारप्रकाशकाः " यह पाठ भी यहाँ अपने कारिका के उत्तरार्द्ध में प्राप्त होता है। इसे चित्र संज्ञा क्यों प्राप्त है, इस पर माणिक्यचन्द्र का मत है कि चित्र के सदृश होने के कारण अथवा आश्चर्य हेतु के होने के कारण इसे चित्र कहा जाता है।[1]

वृत्ति भाग में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि सन्निवेशविशेष के द्वारा न्यस्त वर्ण जहाँ खड्ग, मुरज, पद्म इत्यादि आकार का निर्माण करते हैं, वहाँ चित्र नामक अलंकार होता है। इसे स्पष्ट करते हुये प्रदीपकारादि का कथन है कि खड्गादि का निर्माण किसी अमूर्त वस्तु से तो हो नहीं सकता। वर्ण शब्दात्मक तथा अमूर्त है। वर्ण अर्थात् वर्ण व्यञ्जक लिपियों का विन्यास कुछ इस प्रकार से रहता है कि उनसे खड्गादि का आकार (चित्र) बनता है। यही वस्तुतः चित्र अलंकार है।[2]

मम्मट का चित्र अलंकार का लक्षण अग्निपुराण तथा रुद्रट के चित्र लक्षण को समन्वित करता है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर कवि वर्णों का कुछ ऐसा विशेष प्रकार से विन्यास करे कि उससे विभिन्न आकृतियाँ बन जायें तो वह विशेष वर्णशिल्पकल्पना ही चित्र है।[3] रुद्रट ने चित्र का सर्वाधिक विवेचन प्रस्तुत किया है। तदनुसार- जहाँ पदवस्तुओं के स्वरूप अपने चिन्ह विशेष के साथ इस प्रकार उपन्यस्त रहते हैं कि उनमें उनका रचनाविन्यास भंग्यन्तर से वर्णों के द्वारा प्रस्तुत किया गया हो तो वहाँ चित्र अलंकार होता है।[4]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- चित्रसादृश्यादाश्चर्यहेतुत्वाद्वा चित्रम् - संकेत पृष्ठ २६४

२- यद्यपि वर्णानामाकाशगुणानाम् खड्गाद्याकृतिहेतुत्वमसंभवि तथापि विन्यस्तवर्णाभिव्यञ्जिका लिपयः सन्निवेशविशेषवत्त्वेन यत्र खड्गाद्याकार-मुल्लासयन्ति तच्चित्रमिति विवक्षितम्। - प्रदीप पृष्ठ ४३१

३- अनेकधावृत्तवर्णविन्यासः शिल्पकल्पना।
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते - अग्निपुराण अध्याय ३४२

४- द्रष्टव्य है काव्यालंकार ५।१

ज्ञातव्य है कि ये दोनों पद्य रुद्रट के काव्यालंकार में खड्गबन्ध रूप चित्र अलंकार के उदाहरण के रूप में ग्रहण किये गये हैं। उक्त पद्यगत वर्णों की जिस प्रकार की संयोजना से " खड्ग " की आकृति बन जाती है, उस पर टीकाओं में स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। तदनुसार सर्व प्रथम मूठ के ऊपर तथा नीचे दो शाखाओं वाला खड्ग का चित्र बनाना चाहिये। मूठ के नीचे के भाग के मध्य में श्लोक का प्रथम अक्षर मा लिखा जाय। खड्ग के सबसे नीचे की नोक पर प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का अन्तिम अक्षर " मा " लिखा जाय। अब प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति के शेष अक्षरों का क्रम से लिखते जाने पर उसकी समाप्ति पूर्वार्ध के अन्तिम अक्षर मा पर होगी। वहाँ से ही श्लोक के उत्तरार्ध को लिखते जाने पर उसके अन्तिम अक्षर की विश्रान्ति मूठ के मध्य में पूर्व लिखित मा पर होगी। अब मा को केन्द्र मान कर मूठ की निकली दोनों शाखाओं पर द्वितीय श्लोक का प्रथम चरण एक ओर एवं द्वितीय चरण दूसरी ओर संयुक्त हो जायेगा। इसी प्रकार द्वितीय श्लोक का तृतीय तथा चतुर्थ चरण मूठ के ऊपर वाले भाग के दोनों ओर लिखे जाने पर उक्त दोनों श्लोक " खड्ग " के आकार का बन जाते हैं जो इस प्रकार है -

मुरजबन्ध तथा पद्मबन्ध : - मम्मट ने रुद्रट के अनुसार ही सरला बहुलारम्भ इत्यादि पद्य मुरजबन्ध के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । पद्मबन्ध का उदाहरण इस प्रकार है : -

> भासते प्रतिभासार रसाभाताहताविभा ।
> भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥

इसका विन्यास विवरण आदि टीकाओं में स्पष्ट किया गया है । तदनुसार अष्टदलकमल का चित्र बनाकर उसके केन्द्र में पद्य का प्रथम अक्षर 'भा' लिख दिया जाता है । पुनश्च श्लोक के दो दो अक्षर आठों दलों में विन्यस्त करने पर इसका स्वरूप ऐसा हो जाता है कि पद्मगत ३२ अक्षर वाले चारों चरण पढ़े जा सकते हैं । पढ़ने का नियम यह है कि कमल के चार दल दिशाओं में तथा चार उपदिशाओं में । चार दिशाओं वाले दलों में लिखित अक्षरों को दो बार पढ़ना चाहिये । एक बार तो उन्हें बाहर से पढ़ते हुये कर्णिका ( केन्द्र ) में प्रवेश होता है और दूसरी बार कर्णिका से निकलते हुये पढ़ा जाता है । उन दिशाओं में स्थित चार दलों में आठ अक्षर तथा कर्णिका का अक्षर आठ बार पढ़ा जाने के लिये हुये कुल १७ अक्षर (१६ अक्षर दलों में तथा एक कर्णिका में ) पढ़े जाने पर ३२ अक्षर होते हैं । चित्र इस प्रकार है : -

---

१ - द्रष्टव्य है प्रदीप पृष्ठ ४३२ तथा विवरण पृष्ठ २५२-२५३

<u>सर्वतोभद्र :-</u> चित्रालंकारगत सर्वतोभद्र नामक भेद का उदाहरण इस प्रकार है :-

रसासार । रसा सारसायताक्ष । क्षतायसा ।
सातावात । तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ॥

यह श्लोक भी रुद्रट के काव्यालंकार में इसी प्रसंग में दिया गया है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि श्लोक के प्रत्येक चरण को चाहे सीधी ओर से पढ़ें अथवा उल्टी ओर से एक ही प्रकार का पाठ प्राप्त होगा। दूसरे यह कि प्रत्येक पाद के प्रारम्भिक चार तथा अन्तिम चार अक्षरों को भी सीधी ओर से अथवा उल्टी ओर से पढ़ने पर हर दशा में एक सा पाठ उपलब्ध होगा। इसी प्रकार चारों पादों के पहले एवं आठवें अक्षर की पंक्तियों को ऊपर से नीचे की ओर अथवा नीचे से ऊपर की ओर पढ़ने पर पद्य का आठ अक्षरों वाला प्रथम चरण प्राप्त होजायेगा। इसी क्रम से पाद के द्वितीय एवं सप्तम अक्षरों को ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर पढ़ने से श्लोक का द्वितीय चरण तैयार हो जायेगा। इसी प्रकार चारों चरणों के तृतीय तथा षष्ठ अक्षर एवं चतुर्थ तथा पञ्चम अक्षरों को ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर किसी ओर से भी पढ़ने पर श्लोक का तृतीय तथा चतुर्थ चरण बन जाता है। स्पष्ट है कि सर्वतोभद्र नामक चित्र के भेद में अनेक प्रकार से घुमाफिरा कर श्लोक पढ़ा जा सकता है।[1] इसको इसप्रकार लिखा जायेगा।

र सा सा र     र सा सा र
सा य ता क्ष     क्ष ता य सा ॥
सा ता वा त     त वा ता सा
र क्ष त स्त्व     स्त्व त क्ष र ॥

---

१- विवरण पृष्ठ २४[illegible]

(६) पुनरुक्तवदाभास - अलंकार :- आचार्य मम्मट द्वारा मान्य शब्दालंकारों में यह छठा अलंकार है। इसके लक्षण में मम्मट का कथन है कि जहाँ पर भिन्न स्वरूप वाले तथा भिन्न अर्थवाले शब्दों में एकार्थता का आभास रहता है, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। वस्तुतः मम्मट ने यहाँ पर उद्भट की अवधारणा का पुनर्गठित व सुव्यवस्थित स्वरूप को प्रस्तुत किया है। उद्भट का तद्विषयक लक्षण इस प्रकार है।

" पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम् ॥

( काव्यालंकार-सार-संग्रह २-२)

इसमें यह स्पष्ट है कि पुनरुक्तवदाभास अलंकार शब्दगत है अथवा अर्थगत। मम्मट के लक्षण में यह स्पष्ट है कि यह अलंकार शब्दगत है। साथ ही शब्दार्थगत जो होते हैं वह उभयालंकार की कोटि में आ जाता है।[1] रुय्यक आमुखावभासनम् रूप इसका लक्षण बना कर इसे यथास्थान रूप से अर्थालंकार मानते हैं। तर्क यह है कि अर्थ की ही पौनरुक्ति है तथा अर्थ पर आश्रित होने के कारण यह अर्थालंकार है।[2] वस्तुतः मम्मट की मान्यता ही समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ वास्तविक अर्थ का पुनरुक्ति ही होती नहीं। क्योंकि वैसे तो पुनरुक्ति दोष के अन्तर्गत आ जायेगा। केवल शब्द परिवृत्तिसह तथा शब्दपरिवृत्त्यसह होने के कारण यह उभयालंकार माना जाना चाहिये। मम्मट के लक्षणगत विभिन्नाकारशब्दगा तथा एकार्थत्व का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार का मत है कि एकार्थता से तात्पर्य है एकार्थवाचकतयोपस्थितशब्दता। इसके, लाटानुप्रास में अतिव्याप्ति निवारण के लिये विभिन्नाकारशब्दगा का प्रयोग किया गया है।[3] क्योंकि इसमें शब्द विभिन्नाकार नहीं होते।

---

१- पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा। एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ का-९।८६

२- आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्। तथा- अर्थपौनरुक्त्यप्राधान्यादर्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वमेवेयम्। ( अलंकार सर्वस्व )

३- प्रदीप पृष्ठ ४३३

स्वयं मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट करते हुये बताया है कि भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले सार्थक अथवा निरर्थक शब्दों में आपाततः एक अर्थ की केवल प्रतीति होना ही पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। इसमें शब्दों पर विशेष बल दिया गया है।

<u>पुनरुक्तवदाभास के भेद तथा उदाहरण</u>::- इसके सर्व प्रथम दो भेद होते हैं- (१) शब्दमात्रगत (२) शब्दार्थगत। इनमें प्रथम भेद पुनः दो रूपों में विभक्त हो जाता है - (१) सभंगशब्दगत (२) अभंगशब्दगत। इनका क्रमशः उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है:-

(१) <u>सभंगशब्दगत पुनरुक्तवदाभास</u>::-

> अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
> भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥

इसमें देह-शरीर, सारथि-सूत तथा दान-त्याग शब्दों में आपाततः पुनरुक्ति की प्रतीति होती है। किन्तु ये सभी शब्द सभंग हैं। विग्रह के साथ उनके वास्तविक अर्थ के ज्ञान में पुनरुक्ति की प्रतीति नहीं रह जाती। इसीलिये वास्तविक पुनरुक्ति न कह कर इसे उसका आभास मात्र कहा जाता है। प्रदीपकार ने शब्दों का विग्रह करके वास्तविक अर्थ को प्रकट किया है। यथा इनमें से प्रथम पुनरुक्त का आभास देह-शरीर में होता है। इसका सभंग रूप विशेषण है-" अरिवधदा ईहा यस्य तादृशान् शरान् ईरयति " अर्थात् शत्रु को विनाश करने वाली चेष्टा वाले बाणों को प्रेरित करने वाला इत्यादि इसी प्रकार प्रदीपकार ने शेष पुनरुक्त का आभास करने वाले पदों का स्पष्टीकरण किया है।१

यहाँ पर शब्दमात्रगत पुनरुक्तवदाभास केवल इस लिये है कि इसमें प्रयुक्त शब्द अपना पर्याय सहन नहीं कर पाते। साथ ही देह तथा शरीर ये दोनों शब्द सार्थक हैं। सारथि सूत में प्रथम निरर्थक तथा द्वितीय सार्थक हैं। इसी प्रकार सदा + नत्या + गः में दान तथा त्याग दोनों शब्द

(१) प्रदीप पृष्ठ-४३४ ।

निरर्थक रहते हुए भी अर्थ की पुनरुक्ति का आभास कराते हैं।

(२) अभंगशब्दगत पुनरुक्तवदाभास:-

चकासत्यंगनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥

इसमें अंगना-रामा, कौतुक-आनन्द तथा सुमनस एवं विबुध शब्दों में एकार्थ का आभास होता है। टीकाकारों के अनुसार यहाँ अंगना तथा रामा शब्दों में पुनरुक्तत्व बुद्धि उत्पन्न होती है। वस्तुतः अंगने आरमन्ते अथवा अंगनाम् आराम इस विग्रह से पुनरुक्ति नहीं रह जाता। यहाँ सभंग भी नहीं है। क्योंकि शब्दमात्र अलंकारत्व में एक शब्द परिवर्तितसहन नहीं कर सकता। अंगना के स्थान पर महिला शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रशस्तानि अंगानि यासां सा अंगना, इत्यादि विग्रह से अंगना पद महिला विशेष का वाचक है।

शब्दार्थगत पुनरुक्तवदाभास- जहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित पुनरुक्ति की प्रतीति होती है, वहाँ शब्दार्थोभयगत पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। यथा—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुंजररुधिररक्तधरनखरः ।
तेजोधाम महःपृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥

इसमें तनु तथा वपु, शरीरवाचक शब्द होने से, करि कुंजर गजवाचक होने से, रुधिर-रक्त शोणितवाची होने से तेज-धाम-मह तेजवाचक होने से इन्द्र-हरि-जिष्णु इन्द्रवाचक होने के कारण इन शब्द समूहों में आपाततः पुनरुक्ति की प्रतीति होती है। इसमें कुछ शब्द जैसे तनु, कुंजर, रक्त, धाम, हरि तथा जिष्णु शब्दपरिवृत्यसह हैं। कुछ शब्द जैसे करि, रुधिर, इन्द्र शब्द परिवृत्ति सह हैं। शब्द तथा अर्थ दोनों का आश्रय ग्रहण करके यहाँ पुनरुक्ति का आभास होता है। अतः यह शब्दार्थोभयनिष्ठ उभयालंकार का उदाहरण है।

---

-- सप्तम-अध्याय ::-

## -:: अलंकार-स्वरूप ::-

शब्दगत अलंकारों की मीमांसा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में अर्थ पर आश्रित अलंकारों के स्वरूप पर विचार किया गया है। यह अध्याय काव्यप्रकाश के दशम उल्लास पर आधारित है।

परम्परा में अलंकारों की संख्या, सामान्य लक्षण तथा भेदप्रभेद पर बहुश: प्रयास होता आया है। ध्वन्याचार्यों के पूर्व आचार्यों का प्रयत्न अलंकार-निरूपण में अधिक था। यही कारण है कि उस युग में भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट प्रभृति आलंकारिकों ने प्रत्येक अलंकार का सप्रभेद विवेचन प्रस्तुत किया। निःसन्देह अलंकारों के विवेचन में मम्मट का उतना योगदान नहीं कहा जा सकता जितना कि मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों का है। तथापि अलंकारों के लक्षण में मम्मट प्राचीनों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक हैं। इसके अतिरिक्त मम्मट का एक विशेष महत्व भी यहाँ पर है। वह यह कि इनके समय तक एक ओर अलंकारों के स्वरूप स्फुट हो चुके थे तो दूसरी ओर ध्वनिसिद्धान्त के। साथ ही ध्वनि की मान्यता भी काव्य जगत् में स्थापित हो चुकी थी। मम्मट स्वत: ध्वनिवादी परम्परा का अनुसरण भी कर रहे थे। अतएव स्वाभाविक है कि उनके अलंकार लक्षण पर ध्वनिपरम्परा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता। यही कारण है कि अधिकांश अलंकारों के लक्षण की शब्दावली भी प्राचीनों के लक्षण से कुछ भिन्न ही है।

**अलंकारों की संख्या::-** प्रारम्भ में भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अलंकारों का विवेचन किया। इन चार से प्रारम्भ होकर इनकी संख्या १२४ हो गई। भामह ने इनके ३८ भेद, दण्डी ने ३५ भेद, वामन ने ३३ भेद, उद्भट ने ४० तथा रुद्रट ने ५२ भेदों को प्रकाशित किया। मम्मट ने ५ शब्द शब्दालंकार, ६१ अर्थालंकार तथा १ उभयालंकार रूप भेद प्रदर्शित कर कुल ६७ भेदों का विवेचन किया है। आगे चल कर जयदेव ने इनकी संख्या १०० और अप्पयदीक्षित ने १२४ किया। मम्मट द्वारा मान्य ६१ अर्थालंकारों को

को प्रदीपकार ने "उपमानन्वयस्तदुपमेयोपमा ततः" इत्यादि रूप में गिनाया है ।१
इन्हीं का क्रमशः विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है ।

-:: उपमा ::-

उपमालंकार वह सरोवर है जिसमें अलंकार-शास्त्र-मर्मज्ञ-मनीषि परम्परा से गहरे स्नान करते आये हैं । कुछ मोती बटोर लाये, तो कुछ सीपियाँ ही । किसको क्या मिला यही यहाँ विवेच्य है ।

**प्राचीनों की मान्यता::-** अलंकार शास्त्र में उपमा का शास्त्रीय विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होता है । भरतमुनि काव्य में गुण और आकृति के आधार पर सादृश्य वर्णन को उपमा कहते हैं ।२ इस परिभाषा से उन्होंने उपमा के स्थूल स्वरूप को प्रकाशित किया । तदनु आलंकारिकों में उपमा विषयक एक ऐसी धारा प्रवाहित हुई जो उत्तरोत्तर संवर्धित हो कर विशाल रूप धारण करती गई । भामह ने इसके लक्षण में कई नवीन तथ्यों का समावेश करके सुस्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया । तदनुसार उपमेय से पृथक उपमान के साथ उपमेय का गुणलेश से भी जो साम्य है वह उपमा है । देश काल तथा क्रियादि की अपेक्षा से उपमान की उपमेय से भिन्नता है ।३ दो वस्तुओं में सर्वांगीण साम्य सम्भव नहीं है । अतः भामह ने "गुणलेश" कह कर यह अभिव्यक्त किया कि उपमेय तथा उपमान के बीच प्रकरण सापेक्ष स्वल्पमात्र भी गुणसाम्य प्राप्त होना हो तो उपमा निर्बाध निष्पन्न हो सकती है ।

दण्डी सामान्य लक्षण में केवल 'उद्भूतम् सादृश्यम्' कह कर इस बात पर बल देते हैं कि उपमेय तथा उपमान के बीच सादृश्य भले ही यथाकथञ्चित् बत

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रदीप पृष्ठ- ४३७ ।

(२) यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।। (नाट्यशास्त्र)

(३) काव्यालंकार २।३०

ही क्यों न हो, किन्तु उसे उद्भूत अर्थात् स्फुट रूप से प्रतीति का विषय बनना चाहिये । उपमेय तथा उपमान में जहां भरत ने सादृश्य होने पर उसका उपमा स्वीकार किया था, वहीं भामह ने साम्य होने पर । किन्तु दण्डी उस रूप में नाट्यशास्त्र का ही अनुसरण कर सादृश्य पद का ही प्रयोग करते हैं ।१ वामन भामह के लक्षण की संव्याख्या से ग्रहण करते हुए, उपमेय तथा उपमान के बीच साम्य वर्णन को ही उपमा मानते हैं ।

उद्भट से पुन: उपमा के लक्षण में नवीन तत्त्वों का समावेश प्रारम्भ हुआ । प्राचीनों के लक्षण में किस कोटि का साम्य वर्णन उपमालंकार माना जाय इस तथ्य पर कोई भी संकेत नहीं किया गया । साथ ही यदि सादृश्य वर्णन मात्र में उपमा मान लिया जाय तो "गौ सदृश गवय" इत्यादि साधारण सादृश्य मूलक लौकिक वाक्य जो निरलंकार हैं, उपमालंकार माने जायेंगे । अतएव उद्भट ने अपने लक्षण में साम्य तथा सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य का प्रयोग किया और उसके विशेषण के रूप में "चेतोहारि" रखा । तदनुसार उपमेय तथा उपमान गत सुन्दर साधर्म्य निरूपण उपमालंकार है ।२ आचार्य मम्मट का उपमालक्षण है- साधर्म्यम् उपमा भेदे । अर्थात् उपमान और उपमेय का भेद होने पर जहां साधारण धर्म से सम्बन्ध हो, वहां उपमालंकार होता है । यहां पर मम्मट ने उद्भट मान्य साधर्म्य पद का ग्रहण किया है । भेद पद की कल्पना नवीन आलंकारिकों ने प्रस्तुत किया है ।

<u>टीकाकारों का स्पष्टीकरण::-</u> अधिकांश टीकाकारों ने उपमा के लक्षण में साधर्म्य पद के विचार में मम्मट का समर्थन किया है । वे सादृश्य तथा साधर्म्य में अन्तर मानते हैं । बालबोधिनीकार ने इस प्रसंग में अनेक मतों को उद्धृत

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतम् प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्या: प्रपंञ्चोऽयम् प्रदर्श्यते ।। काव्यादर्श-- २।१४ ।

(२) यच्चेतोहारि साधर्म्यम् उपमानोपमेययो: ।
मिथोविभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ।। काव्यालंकार सार संग्रह-१।१५)

किया है और उद्योतकार के मत को समीचीन बताया है ।१ उद्योतकार के अनुसार साधर्म्य तथा सादृश्य पर्यायवाची शब्दों का भिन्न हैं । यह इसके सदृश है " इस कथन में दो वस्तुओं में समानता बताई जा रही है । यहां प्रतीत यह होता है कि दोनों वस्तुओं में कुछ ऐसे समान धर्म हैं, जिनके आधार पर सादृश्य निरूपण हो रहा है । अतएव सादृश्य वह धर्म विशेष है, जो साधारण धर्म के कारण होता है ।२

उपमान तथा उपमेय पदों का अर्थ भी व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है । तदनुसार उप का अर्थ है समीप और मीयते का निरूपते । अर्थात् अपने सादृश्य को या जिससे उपमेय, जिसके द्वारा समीप में आनिरूपत होता है वह उपमान है, और उपमान के द्वारा गौण रूप से जो वस्तु अपने समीप से आनिरूपत रहती है, वह उपमेय है ।३ एक मान्यता यह भी है कि तुलना के कारण कवि जिसे उत्कृष्ट बताता है, वह उपमान तथा जो दूसरा उपमेय है । किन्तु प्रसिद्ध वा अप्रसिद्ध उपमान होता है और दूसरा उपमेय यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा मानने से:-

" :तनः कुमुदमालेन कामिनीगण्डपाण्डुना"

इत्यादि में चन्द्रादि प्रसिद्ध का उपमेयत्व तथा गण्डादि अप्रसिद्ध का उपमानत्व नहीं हो सकेगा ।४

उपमा के भेद (पूर्णोपमा)::- ऊपर संकेत किया जा चुका है कि दण्डी, रुद्रट, प्रभृति आचार्यों ने उपमा को सूक्ष्मता से देखा है । किन्तु मम्मट का भेद विवेचन

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) द्रष्टव्य है बालबोधिनी पृष्ठ- ५४०-४१ ।

(२) तथैव पृष्ठ- ५४१ ।

(३) उप समीपे मीयते निरूप्यते स्वसादृश्यप्रापणात्तुपमेयम् येन तदुपमानम् । तथा येन यत् समीपे निरूप्यते गुणतया तदुपमेयम् ।।

-- (संकेत पृष्ठ- २१६ ) ।

(४) संकेत वही पृष्ठ ।

इन आचार्यों की अपेक्षा उद्भट के अधिक निकट हैं। इसका संकेत यथावसर प्रस्तुत किया जायेगा। यहाँ ज्ञातव्य है कि मम्मट पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा रूप दो भेदों में सर्वप्रथम पूर्णोपमा के उपभेदों का सोदाहरण विवेचन करते हैं। पूर्णोपमा के दो प्रकार के होते हैं (१) श्रौती। (२) आर्थी। इनमें प्रत्येक के (१) वाक्यगा (२) समासगा (३) तद्धितगा रूप तीन-तीन भेदों में विभक्त होने से, पूर्णोपमा के कुल ६ भेद हो जाते हैं। यहाँ पर उद्भट केवल पाँच भेद मानते हैं। वे पूर्णोपमा के तीन भेद (१) वाक्याश्रिता (२) समासाश्रिता तथा (३) तद्धिताश्रिता- करते हैं। वाक्याश्रिता तथा तद्धिताश्रिता में प्रत्येक के श्रौती तथा आर्थी रूप दो - दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं, किन्तु समासाश्रिता के आर्थी रूप भेद होने से पूर्णोपमा के कुल पाँच भेद होते हैं। ज्ञातव्य है कि जहाँ उद्भट समासाश्रिता में श्रौती रूप भेद न मानते हुए केवल 'आर्थी' ही मानते हैं, वहीं मम्मट समासगा के श्रौती तथा आर्थी दोनों भेद मानते हैं। यही कारण है कि मम्मट की पूर्णोपमा की संख्या उद्भट से एक और बढ़ जाती है।

लुप्तोपमा::-

लुप्तोपमा की संख्या में भी मम्मट अन्धानुकरण नहीं करते। उद्भट इसके केवल १२ भेद मानते हैं। राजानक तिलक के अनुसार उद्भट को इसके १५ भेद मान्य हैं। किन्तु मम्मट लुप्तोपमा के भेदों की संख्या बढ़ा कर १९ बताते हैं। तदनुसार सर्वप्रथम (१) एकलुप्ता (२) द्विलुप्ता तथा (३) त्रिलुप्ता रूपतीन भेद होते हैं। इनमें (प्रथम अर्थात् एक लुप्ता के (१) धर्मलुप्ता (२) उपमान लुप्ता तथा (३) वाचक लुप्ता ये तीन भेद होते हैं। इनमें भी धर्मलुप्ता के (१) वाक्यगा (२) समासगा तथा (३) तद्धितगा ये तीन भेद होते हैं। प्रथम दो अर्थात् वाक्यगा धर्मलुप्ता तथा समासगा धर्मलुप्ता में प्रत्येक के श्रौती तथा आर्थी रूप दो - दो भेद हो कर चार भेद तथा तद्धितगा के आर्थी रूप एक भेद होने से एक लुप्तागत धर्मलुप्ता के पाँच भेद होते हैं। एक लुप्तागत उपमानलुप्ता के (६) वाक्यगा (आर्थी) तथा (७) समासगा रूप दो भेद हो कर सात भेद हो जाते हैं। एकलुप्तागत वाचक लुप्ता के दो भेद (८) समासगाआर्थी तथा सुबधातुप्रत्ययगा होते हैं। सुबधातुप्रत्ययगा के पुन: ३ भेद (१) क्यच्गा

मम्मट ने भामहादि के अनुसरण पर इनकी आलोचना करते हुए पृथक् भेद रूप में इन्हें प्रतिष्ठित नहीं किया । काव्यप्रकाश के टीकाकारों का वृन्दसमुदाय यहाँ पर मम्मट का ही समर्थन करता हुआ सा प्रतीत होता है ।

अनन्वय::-

अनन्वय अलंकार विषयक मम्मट का लक्षण है- उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे । अर्थात् एक ही वाक्य में एक वस्तु के उपमान तथा उपमेय रूप होने पर, अनन्वय अलंकार होता है । इसे और स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है कि "उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः" अर्थात् जहाँ पर अन्य उपमान के सम्बन्ध का अभाव रहता है, वहाँ अनन्वय होता है ।

टीकाकार उक्त विवेचन को अनेक प्रकार से स्पष्ट करते हैं । बालचित्तानुरञ्जनीकार के अनुसार लक्षण में "एकस्यैव" से उक्त उपमा का व्यवच्छेद किया गया है । एकवाक्यगा से वक्ष्यमाणा उपमेयोपमा की व्यावृत्ति की गई है । अनन्वय के उदाहरण में मम्मट ने --

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥

यह पद्य प्रस्तुत किया है । इसमें वह नितम्बिनी उसी के समान है, तथा उसके विलास उसके विलासों के ही समान हैं, इत्यादि में उपमानान्तर के अभाव में अनन्वय अलंकार है । यहाँ पर उक्त टीकाकार का मत है कि यह पद्य श्रौत अनन्वय का उदाहरण है । आर्थ अनन्वय का उदाहरण--

"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः" इत्यादि है ।१

विवेककार के अनुसार जहाँ पर पदार्थों का भेद सादृश्य से अध्यासित तन्मूर्तित्व नहीं रहता, वहाँ पर उपमानोपमेय भाव ही सम्भव नहीं है । तथापि जब कि किस किसी वस्तु के सदृश अन्य वस्तु नहीं है- इस तात्पर्य से विरुद्ध धर्मद्वयों की परिकल्पना करता है, तब अनन्वयालंकार होता है । यह अलंकारतन्मार्थक है ।

---

(१) एकस्यैवेति उक्तायां उपमाया व्यापोहः । एकवाक्यगा इति वक्ष्यमाणाया उपमेयोपमाया व्यावृत्तिः । ------ श्रौतश्चायमनन्वयः । गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपम इत्यार्थो द्रष्टव्य - बालचित्तानुरञ्जनी पृष्ठ- ५-६ कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित ।

प्रभाकार वैद्यनाथ ने एक और महत्वपूर्ण तथ्य को प्रकाशित किया है। तदनुसार परिवृत्ति एक वाक्य में अभ्यस्त है। अतः मम्मट वाक्यद्वय कहते हैं। वे दो वाक्य शाब्द अथवा आर्थ दोनों हो सकते हैं। अतः 'मुखमरविन्दं च पारम्परीणा तम्' इत्यादि एक वाक्य में लक्षण की संगति नहीं है। क्योंकि यहां पर 'अरविन्देन मुखं समम्, मुखेन चारविन्दम्' इस प्रकार अर्थतः वाक्य भेद विद्यमान ही है।१

उत्प्रेक्षा::-

परम्परा से उत्प्रेक्षालंकार को विभिन्न आचार्यों ने बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है। इसके अनेक भेद-प्रभेद भी प्रकाशित किये गये हैं। किन्तु मम्मट केवल इसका सामान्य लक्षण एवं दो उदाहरण प्रस्तुत करके मौन हो जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे सप्रभेद उत्प्रेक्षालंकारमानने के पक्ष में नहीं थे। इसके सामान्य-लक्षण से भी कुछ ऐसा ही ध्वनित होता है। सामान्य लक्षण इस प्रकार है--

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।।"

अर्थात् प्रकृत (उपमेय) का उपमान के साथ तादात्म्य सम्भावना उत्प्रेक्षालंकार है। टीकाकारों में संकेतकार के अनुसार उपमानगत गुण एवं क्रिया के सम्बन्ध से उपमानत्वेन उपमेय की सम्भावना उत्प्रेक्षालंकार है। इसके व्यंजक मन्ये शंके, ध्रुवम् इव इत्यादि हैं।२ जो इस पद्य में गिनाये गये हैं -

'मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यंज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ।।'

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रभा- पृष्ठ- ३२२ ।

(२) उपमानगतगुणक्रियाभिसम्बन्धादुपमानत्वेनोपमेयस्य सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।
- - - - - - तस्याश्च मन्ये शंके ध्रुवमित्यादयो व्यंजकाः । -
-- संकेत पृष्ठ- २२९ ।

टीकाकारों का मत है कि मम्मट ने उत्प्रेक्षा के भेदों को इस लिए सोदाहरण प्रस्तुत नहीं किया कि उनमें चमत्काराभाव है। किन्तु सरस्वतीतीर्थ ने वाच्योत्प्रेक्षा के ९६ भेद गिनाया है। जिनका क्रम इस प्रकार है - सर्वप्रथम जाति, गुण क्रिया तथा द्रव्यरूप अप्रकृत के अध्यवसाय के कारण उत्प्रेक्षा चतुर्धा होती है। प्रत्येक विधिरूप तथा निषेध रूप होने से ८ भेद और इन आठों के प्रत्येक निमित्त गुणक्रियारूप होने पर १६ भेद हो जाते हैं। इनके निमित्त के भी उपादान तथा अनुपादान होने पर ३२ भेद होते हैं। उनमें प्रत्येक के हेतु स्वरूप तथाफल रूप होने से वाच्योत्प्रेक्षा के ९६ भेद हो जाते हैं। प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के भी भेद होते हैं। इवादि के प्रयोग में उत्प्रेक्षा वाच्य तथा अनुपयोग में प्रतीयमान होती है।१

चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने स्पष्ट किया है कि जब यह उपमानांश लोक से सिद्ध रहता है, तब वहाँ उपमा होती है और 'इव' साधर्म्यवाचक होता है। जब उपमानांश लोक से असिद्ध कविकल्पित मात्र रहता है, तब वहाँ उत्प्रेक्षा होती है और 'इव' सम्भावनापरक होता है।२

साहित्यचूडामणिकार के अनुसार सम्भावना, अध्यवसाय अभिमान तर्क ऊह, उत्प्रेक्षा अर्थान्तर नहीं है। साथ ही इन्होंने सरस्वतीतीर्थ द्वारा व्याख्यात उत्प्रेक्षा के ९६ भेदों का भी संकेत किया है।३

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) बालचित्तानुरञ्जनी पृष्ठ- ६।

(२) यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव तेनेवशब्दः साधर्म्यवाचकः॥
यदापुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः।
तदोत्प्रेक्षैव तेनेवशब्दः सम्भावनापरः॥ (बाल-पृष्ठ- ५८५ से)

(३) सम्भावनमध्यवसायोऽभिमानस्तर्क ऊह इत्युत्प्रेक्षेति नार्थान्तरम् ----- हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणेन षण्णवतिता॥-- साहित्यचूडामणि-पृष्ठ- २७५।

ससन्देह::-

इस अलंकार का लक्षण मम्मट "ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः" इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं । टीकाकारों के अनुसार इस लक्षण में पूर्व विवेचित उत्प्रेक्षा के लक्षण से "प्रकृतस्य समेन यत्" की गृहणा करके पढ़ने पर ससन्देह का पूर्ण लक्षण प्राप्त होता है । इस दशा में अर्थ इस प्रकार होगा-जहाँपर सादृश्य के कारण उपमेय का उपमान के साथ संशय (संशयात्मक ज्ञान) होता है, वहाँ उक्त अलंकार माना जाता है। भेद की उक्ति तथा अनुक्ति में यह दो प्रकार का हो जाता है । भेदोक्ति के भी दो प्रकार (१) निश्चयगर्भ (२) निश्चयान्त होते हैं । इन तीनों के एक एक उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किये हैं ।

उक्त ससन्देह के लक्षण को टीकाकारों ने अनेक प्रकार से समझाया है । एक मत से अप्रस्तुत संशययुक्त कथन से जहाँ पर प्रस्तुत को उत्कृष्ट बनाया जाता है, वहाँ सन्देह अलंकार होता है ।१

यह भी एक व्याख्यान प्राप्त होता है कि एक धर्मी में विरोधी अनेकार्थक अवमर्श संशय हैं । जैसे कि किसी वस्तु को - "किमयम् किम् वा अयम्" इत्यादि रूप में गृहणा करना । यह साधक,बाधक प्रमाणाभावादिसामग्री से युक्त वाद प्रतिवादि विप्रतिपत्त्यादि भेद से तीन प्रकार का होता है । गदृटादि प्राचीनों ने इसको पंचधा बताया है ।२

प्रदीपकार के अनुसार लक्षण में प्रयुक्त भेद पद का अर्थ है "वैधर्म्य" कविप्रतिभा से निर्मित संशय ही सन्देह अलंकार की कोटि में आता है । न कि स्थाणुपुरुष विषयक संशय । इसे स्पष्ट करते हुए उद्योतकार का कथन है कि प्रकृत का उपमान के साथ सादृश्यज्ञान प्रयोजक जो संशय(संशयज्ञान) है, वही ससन्देह अलंकार है । ससन्देह की व्युत्पत्ति सन्देहेन सह नित्यायततया तद्विशिष्ट इति ससन्देह::- इस प्रकार उद्योतकार करते हैं । अतएव -

---

(१) यत्राप्रस्तुतेन संशयवता वक्ता प्रस्तुतमुत्कर्ष्यते स सन्देहो-अलंकार : ।
--- (संकेत पृष्ठ- २३० ) ।

(२) विवेक पृष्ठ- ३३६ ।

"इतो गता सा क्व गता न जाने गेहं गता मे हृदयं गता वा ।"

इत्यादि में ससन्देह अलंकार नहीं है । इसी प्रकार 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि में भी अलंकार नहीं हो सकता है । क्योंकि यह कथन विच्छित्तिशून्य साधारणवाक्य मात्र है । साथ ही सादृश्यमूलकत्व के अभाव में संशयमात्र ही अलंकार नहीं हो सकता ।१

ज्ञातव्य है कि भामह तथा उद्भट ने इस अलंकार को ससन्देह नाम से सम्बोधित किया । रुद्रट ही संशय तथा रुय्यक सन्देह कहते हैं । आचार्य मम्मट ने भी ससन्देह ही कहा है । कुछ विद्वानों का मत है कि ससन्देह नाम देने से रुद्रट का संशय तथा रुय्यक के सन्देह में समन्वय हो जाता है ।२

रूपक:-

रूपक अलंकार का सभेद सोदाहरण विवेचन मम्मट ने प्रस्तुत किया है । तदनुसार लक्षण इस प्रकार है-- तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।"

अर्थात्-- उपमेय तथा उपमान का अभेदारोप रूपक अलंकार कहा जाता है । इसे और स्पष्ट करते हुये मम्मट का कथन है कि उपमेय तथा उपमान का भेद जहां अनपह्नुत (अप्रकाशित) है, उसमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप, रूपक अलंकार है ।

संकेतकार रूपक पद की व्युत्पत्ति- रूपयति एकतां नयतीति रूपकम् करते हैं । अभेद के प्रयोग से अभिप्राय है-- अभेदप्राधान्य होने पर रूपक अलंकार होता है । जैसे- मुखं चन्द्रः इत्यादि रूपक के स्थल में चन्द्र के द्वारा अपने गुण अर्पित होते हैं, उनसे मुख के गुण और उन्हीं से मुख अर्पित होता है । तत्पश्चात् सामानाधिकरण्य, मुख और चन्द्रमा में ताद्रूप्यादि की प्रतीति

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रदीप तथा उद्योत पृष्ठ- ५६१ ।

(२) डा० सत्यव्रतसिंह (काव्य प्रकाश शशिकला व्याख्या- पृष्ठ- ३५६ ।

उपपन्न होती है। अतएव भेद होने पर भी अभेद प्रतीति होती है।१

मम्मट के "अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेद:।" इस कथन में "अतिसाम्यात्" को भी टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है। तदनुसार साम्यमात्र उपमा है। अतिसाम्य होने पर रूपक होता है। सर्वथा अतिसाम्य होने पर अपह्नुतप्रशंसा तथा अतिशयोक्ति होते हैं। तत्त्व यह है- (उपमेय तथा उपमान में) भेद के ज्ञात होने पर जहां अभेद प्रतीति के समान अभेद प्रतीति ~~और अभेद प्रतीति की~~ होती है, वहीं क्रम से उपमा रूपक तथा अतिशयोक्ति अलंकार जानना चाहिये। जहां पर भेद के ज्ञात न होने पर अभेद की प्रतीति हो, वह मिथ्याज्ञान है। वहां पर कोई भी अलंकार नहीं होता।२

कुछ व्याख्याकारों के अनुसार मुखचन्द्र इत्यादि के सहप्रयोग होने पर दोनों का भेद अनपह्नुत होते हुये अतिसाम्योत्कर्ष के फलस्वरूप अभेद प्रतीति, रूपक अलंकार है।३

प्रदीपकार के अनुसार अभेद से अभिप्राय है अभेदारोप। अतिसाम्य ही उसका मौलिक तत्त्व (बीज) है। अनपह्नुत भेद से उक्त अभेद वहां पर विवक्षित रहता है।४

सर्व प्रथम रूपक के सांग, निरंग तथा परम्परित ये तीन भेद होते हैं। सांग के (१) समस्त वस्तु विषयक (२) एकदेश विवर्ति, दो भेद होते हैं। निरंग रूपक (३) शुद्ध तथा (४) माला रूप से का दो प्रकार का होता है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रदीप पृष्ठ- २३२

(२) प्रदीप पृष्ठ- २३२

(३) मुखं चन्द्र, इति सहप्रयुज्यमानयोरनपह्नुतभेदयो: साम्योत्कर्षात् अभेदो रूपकमिति विवक्षितत्वान्नाति व्याप्तिरित्यर्थ: बालचित्तानुरंजनी पृष्ठ- ७।

(४) प्रदीप पृष्ठ- ४६४।

परम्परित रूपक के भी प्रथम श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट दो भेद होते हैं और इन दोनों में प्रत्येक के पुनः शुद्ध तथा मालारूप भेद होने से परम्परित रूपक के चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार से कुल मिलाकर मम्मट रूपक के आठ भेद मानते हैं।

<u>सांगरूपक समस्त वस्तु विषय:</u>:- सांगरूपक वहाँ होता है, जहाँ पर ऐसा रूपक का संगठन रहता है, जिसमें कि एक प्रधान रूपक अपने अन्य सहायक रूपकों के साथ रहता है। इसका प्रथम "भेद" "समस्तवस्तुविषय" है, जिसका विग्रह है "समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति।" मम्मट के अनुसार इसका लक्षण है - "समस्तवस्तुविषयम् श्रौता आरोपिता यदा।" अर्थात् जब आरोप्यमाण वस्तुएँ शब्द प्रतिपाद्य रहती हैं, तो वहाँ सांगरूपक का यह भेद होता है। इसे सुस्पष्ट करते हुये मम्मट का कथन है- आरोपविषय (उपमेय) के समान आरोप्यमाण (उपमान) जब शब्द प्रतिपाद्य होते हैं न कि अर्थ प्रतिपाद्य, तब समस्त वस्तुएँ हैं विषय जिसका ऐसा वह समस्तवस्तुविषय सांगरूपक अलंकार होता है।

"आरोपविषय के समान ही" (आरोपविषया:इव) के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये विवरणकारका कथन है कि आरोप विषय (उपमेय) के अनुपादान होने पर अतिशयोक्ति का ही प्रसंग हो जायेगा। अतएव आरोप-विषय का उपादान रूपक के प्रसंग में नियत होता है, इसी को दृष्टान्तपूर्वक मम्मट ने बताया है।[1]

<u>एकदेशविवर्ति रूपक:</u>:- सांगरूपक का यह दूसरा भेद है। जिसमें आरोपित (उपमान) शब्दवाच्य तथा अर्थवाच्य दोनों प्रकार का होता है। वह एकदेशविवर्ति सांगरूपक कहलाता है। कुछ उपमान शब्दोपात्त तथा कुछ अर्थसामर्थ्य से प्राप्त

---

(1) आरोपविषयस्यानुपादानेऽतिशयोक्तिरेव प्रसंग: अत: रूपके आरोपविषयोपादान नियतमिति आरोपविषया इवेति दृष्टान्ततया उक्तम्। विवरण-

प्रसिद्धि के अनुरोध से मम्मट का क्या अभिप्राय है, इसमें टीकाकारों में मतभेद है । भामहादि ने इस उदाहरण में एकदेशविवर्ति रूपक मानते हुए इसे अर्थालंकारों में गिनाया है । प्रदीपकार के अनुसार रुय्यक ने इसे रूपक के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । उन्हीं के अनुसरण पर मम्मट ने भी इसे अर्थालंकार में गिनाया है ।१ वस्तुतः ये यहाँ, उभयालंकार तथा श्लिष्टमाला रूपक ही मानते हैं ।

अपह्नुतिः :-

अपह्नुति अलंकार का लक्षण मम्मट ने "प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः" रूप में दिया है । तात्पर्य यह है कि जहाँ पर वर्णनीय विषय (उपमेय) का निषेध कर अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है ।

माणिक्यचन्द्र के अनुसार यहाँ अन्यत् का अर्थ उपमान है । यह प्रकृत अथवा अप्रकृत हो सकता है । रूपक अलंकार में आरोप्य तथा आरोपविषय के अपह्नव में स्फुट रूप से प्रारम्भ में ही सादृश्य प्रतीत हो जाता है । यहाँ पर उपमेय के अपह्नव के कारण प्रारम्भ में पारमार्थिक का असत्यत्व और दूसरे का सत्यत्व प्रतीत हो कर निर्वाह में आरोप्य तथा आरोप में सादृश्य की प्रतीति होती है ।२

सरस्वतीतीर्थ का कथन है कि अपह्नुति तीन प्रकार की होती है । अपह्नव पूर्व आरोप, आरोपपूर्व अपह्नव तथा छलादिका प्रयोग ।३

प्रदीपकार के अनुसार यह अपह्नुति शाब्दी तथा आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है । आर्थी अपह्नुति भंग्यन्तर से प्रस्तुत का अनेक प्रकार की

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रदीप पृष्ठ- ५७१ ।
(२) संकेत - पृष्ठ- २३६ ।
(३) बालचित्तानुरंजनी - पृष्ठ- १ ।

हो सकती है । मम्मट ने शाब्दी अपह्नुति का एक उदाहरण "अवाप्तः प्रागल्भ्यम्" इत्यादि तथा आर्थी का "बत सखि कियदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य" उदाहरण प्रस्तुत किया है । इसके अतिरिक्त परिणामादि व्याजोपादान से होने वाली अपह्नुति का उदाहरण "अमुष्मिंल्लावण्यामृतसरसि" इत्यादि पद्य दिया है ।१

उद्योतकार के अनुसार यहाँ एक पूर्वपक्ष सम्भव है कि लक्षण में प्रयुक्त निषिध्य पद के निषेधार्थकत्व होने पर "शिखा धूमायितं परिणामतिरोभा-वलिप्सुः" इत्यादि में अपह्नुति नहीं हो सकती । अतएव "मम्मट" "उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः" कहते हैं । इससे "न पद्मं मुखमेवेदम्" इत्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होती । साथ ही विरहिजनवाक्य-"नायं चन्द्रः किन्तु मार्तण्डः" इत्यादि में अपह्नुति नहीं हो सकती । क्योंकि उस ज्ञान के दोषविशेष के उत्पादक होने से वह अनाहार्य है । उसी प्रकार "नायं चन्द्रोऽरविन्दं वा मुखं चेदं मृगीदृशः ।" इत्यादि में भी अपह्नुति नहीं है । क्योंकि यहाँ निश्चय निषेधत्व का अभाव है ।२

उक्त व्याख्याकारों के विवेचन का सार यह है कि लक्षण में प्रयुक्त निषिध्य से रूपक की व्यावृत्ति हो जाती है । अस्मात् साध्यों से लक्ष्यमाण आक्षेप अलंकार में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती । सन्देह तथा अपह्नुति में भेद यह है कि प्रथम में संशय रहता है तो द्वितीय में निश्चय । यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि मम्मट का अपह्नुति लक्षण रुद्रट के अपह्नुति लक्षण से अनुप्राणित है । रुद्रट का लक्षण इस प्रकार है --

अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि ।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम् ॥

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) प्रदीप पृष्ठ- ४७४ ।

(२) उद्योत पृष्ठ- ४७४ ।

प्रतीत ऐसा होता है कि इस लक्षण का संक्षिप्तस्वरूप मम्मट का लक्षण है ।

**श्लेष::-**

पिछले अध्याय में श्लेष अलंकार का विस्तृत विचार किया जा चुका है । यद्यपि मम्मट ने सभंग तथा अभंग द्विविध श्लेष को शब्दालंकार के अन्तर्गत माना । अर्थ श्लेष अर्थालंकार है। तद्विषयक लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

"" श्लेष: स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ।""

वृत्ति में स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है कि एकार्थ प्रतिपादक शब्दों का जहां अनेकार्थ रहता है, वहां श्लेष होता है ।

टीकाकारों के अनुसार अर्थ श्लेष वहां होता है, जहां पर कि एक वृन्त में लगे दो फलों के समान एक ही परिस्थिति एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है । साथ ही दोनों अर्थ सर्वथा वाच्य होते हैं, यहीं इसका शब्दशक्ति उद्भवध्वनि से भेद है ।१ क्योंकि उक्त ध्वनिप्रकार में वाच्यार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर प्रतीत द्वितीय अर्थ व्यंग्यार्थ होता है । अर्थश्लेष का उदाहरण इस प्रकार है ::-

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां,
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रिया: ।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनं,
बत बत लसत्तेज: पुञ्जो विभाति विभाकर: ॥

यहां पर उदयम् इत्यादि शब्दों का प्रकरणादि द्वारा अभिधेयार्थ नियन्त्रित नहीं होता । दोनों सूर्य तथा राजा वाच्यार्थ हैं । अत: अभिधा द्वारा ही अनेक अर्थों का ज्ञान होता है ।

**समासोक्ति::-**

मम्मट के अनुसार समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार है- "परोक्तिर्भेदकै: श्लिष्टै: समासोक्ति: ।" लक्षण का स्पष्ट व्याख्यान उन्होंने

---

(१) परिवृन्तिफलन्यायेन शब्दानामेकवृन्तगतफलद्वयवदिव यत्रानेकार्थप्रतिपादकता सार्थश्लेष: । प्रदीप पृष्ठ ७६ ।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।

तात्पर्य यह है कि वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ अथवा पदार्थ सम्बन्ध अनुपपद्यमान होने पर जहाँ अन्वय उपपत्ति के हेतु औपम्य में परिणति होती है, वहाँ निदर्शनालंकार होता है । निदर्शना का अर्थ है दृष्टान्त। संक्षेप में जहाँ पर वाक्यार्थ अथवा पदार्थ का अन्वय उपपन्न नहीं रहता और वह उपमानोपमेयभाव में परिणत रहता है, वहाँ निदर्शनालंकार माना जाता है । यह भी दो प्रकार का है (१) वाक्यार्थ-निदर्शना।(२) पदार्थ निदर्शना। प्रथम का उदाहरण मम्मट यह पद्य देते हैं :-

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

यहाँ सूर्यवंश के वर्णन में 'मैं सागर पार करना चाहता हूँ' - इस वाक्य का अन्वय उपपन्न नहीं हो पाता तथा उसकी विश्रान्ति- उडुप से सागरपार करने के समान मेरी बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन असम्भव है इस उपमा की कल्पना में होती है । इसी प्रकार ""उदयति विततोर्ध्वरश्मि:" इत्यादि पदार्थनिदर्शना का उदाहरण दिया गया है । यहीं पर मम्मट ने यह भी संकेत किया है कि इसी भेद के अन्तर्गत मालारूप निदर्शना भी आती है ।

द्वितीय निदर्शना::- निदर्शना के प्रथम भेद में वस्तुओं का सम्बन्ध असम्भव रहता है, जब कि द्वितीय भेद में सम्भव । अतएव इसका लक्षण मम्मट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

" "स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सापरा ।""

अर्थात् जहाँ पर क्रिया के माध्यम से ही अपने स्वरूप तथा अपने कारण का सम्बन्ध ज्ञात कराया जाता है, वहाँ निदर्शना का द्वितीय भेद होता है यथा - - -

"उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥

इसमें पतति रूप पतन क्रिया के द्वारा ही अपने पतन रूप कार्य का (पतेद् क्रिया से) तथा तुच्छ व्यक्ति का उच्च पद प्राप्ति रूप कारण का (कार्यकारण रूप सम्बन्ध) प्रतिपादित किया गया है । इसकी विश्रान्ति, 'तुच्छ व्यक्ति के उच्चपद प्राप्त करने पर उसका अधःपतन शीघ्र ही होता है, जैसे पत्थर के टुकड़ों का' -- इस दृष्टान्त में होती है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा ::-

जहाँ पर अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति का निमित्त होता है, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसालंकार माना जाता है । इसे मम्मट 'अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया' इत्यादि रूप में प्रस्तुत करते हैं । वृत्तिभाग में इसे और स्पष्ट करते हुए बताया है कि अप्राकरणिक के अभिधान द्वारा प्राकरणिक का आक्षेप अप्रस्तुतप्रशंसा है ।

माणिक्यचन्द्र के अनुसार जहाँ पर अप्रस्तुत की स्तुति, निन्दा तथा साम्य के द्वारा वर्णना दिखी गई है,[1] वस्तुतः प्रशंसा का अर्थ यहाँ स्तुति नहीं अपितु वर्णना है । अप्रस्तुत की वर्णना का निमित्त अप्रस्तुत नहीं अपितु प्रस्तुत परक होता है ।[1] प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि समासोक्ति का इस अलंकार से भेद यह है कि उसमें प्राकरणिक के द्वारा अप्राकरणिक का आक्षेप होता है, जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में तद्विपरीत अप्राकरणिक के द्वारा प्राकरणिक का ही आक्षेप होता है ।[2]

---

(१) संकेत पृष्ठ- २४० ।

(२) अप्राकरणिकेन प्राकरणिकाक्षेपोऽप्रस्तुत प्रशंसा प्राकरणिकेनाप्राकरणिकाक्षेपः समासोक्तिरिति विवेकः । प्रदीप पृष्ठ- ४८३-८४ ।

<u>माला व्यतिरेक</u>: - मम्मट की मान्यता है कि माला प्रतिवस्तूपमा की भाँति माला व्यतिरेक अलंकार भी सम्भव है । साथ ही उसके भी उक्त २४ भेद सम्भव हैं । किन्तु मम्मट ने तद्गत कोई उदाहरण भी प्रस्तुत किया है ।

<u>आक्षेप</u> : - आक्षेप अलंकार विषयक मम्मट की कारिका इस प्रकार है : -

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।।

इसमें वक्तुमिष्टस्य निषेधः " यह सामान्य लक्षण है । जहाँ पर विशेष के अभिधान के हेतु अभिलषणीय का इस प्रकार निषेध किया जाय कि वह निषेध विधि में पर्यवसित हो तो वहाँ आक्षेप अलंकार होता है । ज्ञातव्य है कि मम्मट का उक्त लक्षण उद्भट के -

" प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ।।

इस लक्षण का अनुसरण कहा जा सकता है ।

आक्षेप अलंकार के दो भेद- १- वक्ष्यमाणविषयक तथा २- उक्तविषयक- होते हैं । प्रथम का उदाहरण इस प्रकार है : -

" ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप भणामि ।
अलमथवा अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि। "

यहाँ विरहिणी नायिका की विरहजन्य - मरणासन्नावस्था वक्ष्यमाण है । उसमें वर्णन की असमर्थता अभिव्यक्त करने के हेतु " अलम् " इत्यादि के द्वारा निषेध किया गया है । इसी प्रकार उक्त विषयक आक्षेप का " ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम " इत्यादि उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है । इसके अनन्तर मम्मट ने विभावना तथा विशेषोक्ति अलंकारों को सोदाहरण लक्षित किया है । इनके विवेचन में किसी भी प्रकार की

मौलिकता अथवा नवीनता का स्फुरण नहीं है । आचार्य उद्भट के आधार पर उक्त अलंकारों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । केवल विशेषोक्ति पद का यहाँ टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है । एक मत से रागादिव्यापि विशेषु का उक्त विशेषोक्ति है । दूसरा मत यह है कि कुछ विशेष वस्तु के प्रतिपादन का उक्ति ही विशेषोक्ति है । इस अर्थ पद का ग्रहण किया जाता है कि विशेष अर्थात् नवीन प्रकार की उक्ति विशेषोक्ति है ।[1]

<u>यथासंख्य</u> : - जहाँ पर किसी क्रम से कहे गये पदार्थों का उसी क्रम से अर्थात् प्रथमोक्त का प्रथम पदार्थ के साथ, द्वितीय का द्वितीय के साथ तथा तृतीय का तृतीय के साथ इत्यादि क्रम में - अन्वय(समन्वय) रहता है वहाँ यथासंख्या अलंकार माना जाता है । इसे मम्मट "यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः" इस रूप में कहते हैं । यथा -

> एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमेतद्देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च
> तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन् शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ।

इसमें तापादि का क्रमशः प्रकारत्रय में अन्वय ( समन्वय ) होता है । अतएव यहाँ यथासंख्य अलंकार है ।

इस अलंकार के विषय में परम्परा से आचार्यों ने एक स्वर से यह बताया है कि इसमें कविप्रतिभा का कोई विकास दृष्टिपथ पर नहीं आता । केवल पूर्वापर भाव के क्रम से वस्तुओं को प्रदर्शित करने में एक चारुत्व विच्छित्ति का अनुभव होता है । इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने इसे अलंकार कोटि में मान लिया । उद्योतकार ने इसी दृष्टि से स्पष्ट किया है कि कविप्रतिभा के उत्कर्ष को यद्यपि लेशमात्र प्रतीति नहीं रहती तथापि एक ही पद में वस्तुओं का क्रम से अन्वय होने पर एक वैचित्र्य के कारण इसे अलंकारत्व प्राप्त हो

---

१ - बालबोधिनी पृष्ठ ६६८

जाता है ।[1]

<u>अर्थान्तरन्यास :-</u> अर्थान्तरन्यास का लक्षण मम्मट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥

अर्थात् जहाँ पर साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा सामान्य या विशेष वस्तु का तद्भिन्न अर्थात् विशेष व सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।

उद्योतकार ने इसका सुस्पष्ट व्याख्यान प्रस्तुत किया है । तदनुसार किसी समर्थ्यमान अर्थ के उपपादन के लिए उससे भिन्न किसी दूसरे अर्थ का न्यास जहाँ पर किया जाय, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है । दृष्टान्त अलंकार में सामान्य का सामान्य से तथा विशेष का विशेष से समर्थन रहता है, यहाँ इन दोनों में भेद है ।[2] काव्यलिंग में कार्य का कारण से तथा कारण का कार्य से समर्थन रहता है । यद्यपि समर्थ्य-समर्थक भाव अर्थान्तरन्यास में भी रहता है तथापि वह सामान्य विशेष भाव रूप में होने पर अर्थान्तरन्यास तथा इतर दशा में काव्यलिंग होता है - यह भी उद्योतकार ने स्पष्ट कर दिया है । प्रभाकार के अनुसार दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा में विशेष के द्वारा विशेष का समर्थन रहता है । अत: ये दोनों अर्थान्तरन्यास से भिन्न हैं । काव्यलिंग में सामान्य विशेष भाव का अभाव ~~अभाव~~ रहता है । अत: उसका भी यहाँ से निरास हो जाता है ।[3] सार-बोधिनीकार के अनुसार प्रतिवस्तूपमा में उपमानोपमेय भाव विवक्षित रहता है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१ - यद्यपि कवि प्रतिभानिर्मितत्वस्यालंकारताबीजत्वाल्लौकिकोऽप्यकाव्यस्य नालंकारत्वम्, तथाप्येवं पदे बहूनां अन्यान्ये वैचित्र्यालंकारत्वेनोक्त: उद्योत पृष्ठ ५२४ ।

२ - उद्योत पृष्ठ ५२४

३ - प्रभा पृष्ठ ३५२

अत: उससे अर्थान्तरन्यास भिन्न है।[1] विवरणकार के अनुसार अनुपपद्यमान होने से सम्भाव्यमान सामान्य तथा विशेष के उपपादन के हेतु उन दोनों के अन्यतर रूप के उदाहरण का उपन्यास ही अर्थान्तरन्यास है। कार्यकारण भाव में परस्पर दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकभाव के अभाव में उनमें समर्थ्य-समर्थक भाव सम्भव ही नहीं है। अत: इस तत्कृत भेद स्वीकार्य नहीं है।[2]

अर्थान्तरन्यास अलंकार के चार भेद होते हैं। यहाँ प्रथम सामान्य का विशेष से तथा विशेष का सामान्य से समर्थन रूप दो भेद होते हैं। प्रत्येक समर्थन हेतु साधर्म्य तथा वैधर्म्य रूप से होने के कारण इसके सभी चार भेद होते हैं, जिनका सोदाहरण विवेचन मम्मट ने प्रस्तुत किया है।

<u>विरोध:-</u> कुछ आचार्यों ने इसी को विरोधाभास नाम से प्रयोग किया है। मम्मट विरोध तथा विरोधाभास में तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं मानते। इनका विरोध का लक्षण तथा अन्य आचार्यों का विरोधाभास के लक्षण में कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। मम्मट का लक्षण इस प्रकार है -

"विरोध: सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच: ।"

अर्थात् जहाँ वास्तविक विरोध न होते हुये भी दो वस्तुओं में आपाततः विरोध की प्रतीति हो, वहाँ उक्त अलंकार होता है। संकेतकार के अनुसार अविरोध रहने पर विरोध सम्भव ही नहीं है, इस स्थिति में जो विरोध के द्वारा कथन है, वही अनुपपद्यमान हो कर विरोधाभास में पर्यवसित होता है।[3]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- बालबोधिनी पृष्ठ ६६२

२- अनुपपद्यमानतया सम्भाव्यमानयो: सामान्यविशेषयोरुपपादनार्थं तयोरन्यतर-रूपोदाहरणोपन्यासो अर्थान्तरन्यास: । कार्यकारणयो: दृष्टान्तदार्ष्टा-न्तिकभावविरहादेव तयो: समर्थ्य-समर्थकभाव: सम्भवतीति न तत्कृतप्रभेदो-ऽभिमत: ।। - विवरण पृष्ठ -३०६

३- अविरोधे विरोधो न स्यादिति स्थितं यद्विरोधेनोक्ति: सैवानुपपद्यमाना विरोधाभासे पर्यवस्यति । संकेत पृष्ठ - २५७.

किसी वस्तु की आपाततः स्तुति या निन्दा हो किन्तु तात्पर्य इसके विपरीत अर्थात् निन्दा या स्तुति का बोध हो वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है । इसके दो भेद (१) स्तुति पर्यवसायिनी निन्दा (२) निन्दापर्यवसायिनी स्तुति । दोनों के एक एक उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया किया है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा से इसका भेद यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में जहाँ कारणादि मात्र सम्बन्ध से अप्रस्तुत का कथन होने से प्रस्तुत की प्रतीति होती है वहाँ कि निन्दा तथा स्तुति के व्याज से उनके विपरीत का प्रतिपादन करने के फलस्वरूप व्याजस्तुति में एक विशेष प्रकार की विच्छित्ति होती है ।

ज्ञातव्य है कि इस लक्षण की संयोजना में मम्मट का कुछ मौलिक योगदान है । भामह, उद्भट आदि आचार्य एकमात्र निन्दा के व्याज से स्तुति में ही व्याज स्तुति अलंकार मानने के पक्ष में हैं । उद्भट ने स्पष्ट कहा है कि शब्दों का अभिधाशक्ति से भले ही निन्दा का बोध हो, किन्तु वाक्य पर्यवसान के अनुसार, जो नहीं भासित हो वह अवश्य ही स्तुतिपरक हो ।[1] स्पष्ट है मम्मट इस सम्बन्ध में प्राचीनों का अनुसरण नहीं करते ।

सहोक्ति :- यह वह अलंकार है जिसमें कि "सह" शब्द के सामर्थ्य से एक पद अनेकार्थ वाचक हो जाता है । लक्षण इस प्रकार है -
"सा सहोक्ति सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।"

वृत्ति में इसे स्पष्ट करते हुये मम्मट का कथन है कि एकार्थाभिधायक होते हुये भी सह शब्द के सामर्थ्य से जहाँ उभयार्थ का बोध होता है, वहाँ उक्त अलंकार माना जाता है । व्याख्याकारों के अनुसार सह एक अर्थ का तो वाचक

---

१- "शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥ ---- उद्भट

यहाँ उत्तरार्द्ध में लक्ष्मी से आमोद का विनिमय तथा उत्तरार्द्ध में उस दृष्टि से स्तन वारिद-व्याधि का विनिमयापत्ति है अतः यहाँ परिवृत्ति अलंकार है ।

भाविक :- मम्मट के अनुसार भाविक अलंकार का लक्षण है - "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः" अर्थात् जहाँ पर कवि भूत तथा भविष्य के पदार्थों का भावना के द्वारा ऐसा वर्णन प्रस्तुत करे कि वे प्रत्यक्ष के समान प्रतीत हों तो वहाँ भाविक अलंकार होता है । भाविक की व्युत्पत्ति मम्मट - "भावः कवेः अभिप्रायः अत्रास्ति इति भाविकम्" रूप में प्रस्तुत करते हैं । कवि का अभिप्राय केवल भूत एवं भविष्य की वस्तुओं का भावनामय प्रत्यक्षवत् वर्णन में रहता है । इस प्रकार भूत का प्रत्यक्षवत् वर्णन तथा भविष्य का प्रत्यक्षवत् वर्णन रूप दो भेद भाविक अलंकार के होते हैं । दोनों के एक - एक उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार हैं :-

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ।।

यहाँ पूर्वार्द्ध में भूतकालिक अञ्जन का तथा उत्तरार्द्ध में भविष्यकालिक भूषण सम्भार का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने के कारण भाविक अलंकार है ।

भाविक अलंकार की मान्यता एवं स्वरूप-विवेचना का प्रथम संकेत भामह से प्राप्त होता है । उनका लक्षण इस प्रकार है -

" भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाः भूतभाविनः ।।

पूर्वभाग के स्पष्टीकरण के अनुसार वाच्यवाचक सम्बन्ध से भिन्न व्यापार ( व्यञ्जना) के व्यापार के द्वारा जहाँ प्रतिपादन होता है, वहाँ पर्याय अर्थात् भंग्यन्तर से कहने के कारण पर्यायोक्त अलंकार होता है। संक्षेप में गम्यार्थ का प्रकारान्तर अर्थात् व्यंजना वृत्ति से कथन पर्यायोक्त अलंकार है। उदाहरण इस प्रकार है।

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥

इसमें जो अर्थ अभिधा द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वही व्यंजना द्वारा भी प्रतीत होता है। किन्तु दोनों के प्रकार में भेद है। "ऐरावत और इन्द्र मद तथा अभिमान से मुक्त हो गये" यह अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्राप्त होता है। "मद तथा अभिमान ने ऐरावत के मुख तथा इन्द्र के हृदय में निवास का स्नेह छोड़ दिया।" यह अर्थ अभिधा द्वारा कहा गया है। अतएव प्रकारान्तर से कथन होने के कारण यहाँ अलंकारत्व है।

इस सन्दर्भ में मम्मट ने एक दार्शनिक पदावली के साथ कुछ विचार प्रस्तुत किया है। तदनुसार एक प्रकार से प्राप्त अर्थ का प्रकारान्तर से भी बोध होता है। इन्द्रिय और अर्थ ( वस्तु ) का सान्निध्य होने पर प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार से होता है - निर्विकल्पक, सविकल्पक। सर्वप्रथम गो, शुक्लगुण तथा चलनादि क्रिया का प्रत्यक्ष "वस्तु किञ्चिदस्ति" इस रूप में किया जाता है। इसमें गोत्व शुक्लत्वादि में परस्पर असम्बद्ध प्रतीति रहती है अर्थात् उनमें विशेष्य विशेषणभाव का बोध नहीं रहता। यह निर्विकल्पकज्ञान है। तदनु "गौः शुक्लश्चलति" इस प्रकार का विशेष रूप प्रत्यक्ष होता है। यह सविकल्पकज्ञान है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में संगृहीत वस्तुओं का भेद तथा संसर्ग विशिष्ट बना दिया जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में भेद का भान नहीं होता। जब कि सविकल्पक ज्ञान में भेद विशेषण रूप में प्रतीत होता है। सार यह है कि

जिस प्रकार गोत्व इत्यादि पदार्थों का प्रकारान्तर से अविकल्पक ज्ञान में बोध होता है, उसी प्रकार उक्त उदाहरण में वाच्यार्थ का व्यञ्जना द्वारा पुनः प्रतीति होती है, अतएव यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है ।

उदात्त :- जहाँ पर किसी वस्तु की धन, शौर्य इत्यादि से सम्भावित समृद्धि का वर्णन किया जाता है, वहाँ उदात्त अलंकार होता है । इसे मम्मट "उदात्तं वस्तुनः सम्पत्" इस रूप में प्रस्तुत करते हैं । उदात्त अलंकार दो रूप में विभक्त होता है । जहाँ पर किसी वस्तु की अलौकिक समृद्धि का कथन किया जाय वहाँ इसका प्रथम भेद होता है । इस अलंकार का प्राणभूत तत्त्व असम्बन्धातिशयोक्ति है, ऐसा उद्योतकार का कथन है ।[1] उदाहरण इस प्रकार है -

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः,
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः,
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥

यहाँ पर यद्यपि विद्वानों के भवन की समृद्धि का वर्णन है, तथापि उससे भोजनृपति की गुणसमृद्धि का दिग्दर्शन होता है । जहाँ पर वर्णनीय विषय के उपकरण के रूप में महान् पुरुषों के चरित का कथन किया जाय वहाँ उदात्त अलंकार का द्वितीय भेद होता है । महतां चोपलक्षणम् कह कर मम्मट ने इसका संकेत किया है साथ ही "तदिदमरण्यम्" इत्यादि उदाहरण भी प्रस्तुत किया है ।

संकेतकार के अनुसार यह अलंकार ऐश्वर्यातिशय वस्तु के वर्णन के द्वारा स्वभावोक्ति तथा भाविक अलंकार से भिन्न है । क्योंकि इन

---

१- "अत्रासम्बन्धेऽसम्बन्धातिशयोक्तिरनुप्राणिका" । उद्योत पृष्ठ ४३२

दोनों में किसी हेत्वर्थ का वर्णन नहीं रहता । वस्तुतः ये दोनों अलंकार अविप्रतिभोत्थापित होते हैं ।[1]

मम्मट का उदात्तविषयक लक्षण व भेद उद्भट के अनुसरण पर देखा जा सकता है । उद्भट का लक्षण इस प्रकार है -

"उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥
(काव्यालंकार सारसंग्रह पृष्ठ ५७ )

समुच्चय :- समुच्चय अलंकार का निरूपण प्राचीन भामह, दण्डी, उद्भट प्रभृति आचार्यों ने नहीं किया । रुद्रट से यह अलंकार प्रारम्भ होता है । जहाँ पर प्रस्तुत कार्य सिद्धि के हेतु एक साधक के विद्यमान होते हुये भी अन्य साधक उसी कार्य की सिद्धि के हेतु उपनिबद्ध किये जायं, तो वहाँ समुच्चय अलंकार होता है । मम्मट इसे "तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्" इस रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

सर्वस्वकार के अनुसार तुल्य कक्षा होने से हेतुसमुदाय सम्मिलित रूप में कार्य को सिद्ध करते हैं । समाधि अलंकार में एक हेतु के कार्य के प्रति पूर्ण साधक होने पर अन्य साधक काकतालीयन्याय से आते हैं, किन्तु वहाँ पर तुल्यकक्षता नहीं होती, यही इन दोनों में भेद है । समुच्चय तुल्यकक्षतावाले साधकों में ही सम्भव है ।[2]

विवेककार श्रीधर उक्त लक्षण को कुछ अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं । जहाँ एक कार्य किसी कार्य की सिद्धि के हेतु प्रारब्ध रहता है, वहीं अन्य भी स्पर्धापूर्वक उसकी सिद्धि का उपक्रम करता हो तो वहाँ समुच्चय

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१ - संकेत पृष्ठ २६५
२ - संकेत पृष्ठ २६६

अलंकार होता है ।[1]

सम्प्रदायप्रकाशिनीकार विद्याचक्रवर्ती के अनुसार प्रकृत कार्य के एक साधक के विद्यमान होते हुये भी साधकान्तरयोग समुच्चय है ।[2] साहित्यचूड़ामणिकार के अनुसार कार्यसिद्धिहेतु कोई एक साधक विद्यमान रहता है, किन्तु वहाँ दूसरे साधक स्पर्धा से सहसा यदि उसकार्य की वृद्धि करते हों तो वहाँ पर समुच्चयालंकार होता है । समाधि अलंकार से इसमें भेद यह है कि वहाँ पर एक का कार्य के प्रतिपूर्ण साधकत्व रहता है और दूसरे साधन काकतालीय न्याय से रहते हैं, वहाँ तो समाधि अलंकार होता है । वहाँ पर खलेकपोतिका युक्ति से हेतुओं का आगमन होता है, वहाँ समुच्चय अलंकार माना जाता है ।[3]

उद्योतकार ने अनेक अलंकारों से इसका भेद प्रदर्शित किया है । समाधि में एक के द्वारा कार्य के विद्यमान होने पर अन्य के द्वारा अकस्मात् आकर सौकर्यातिशय का सम्पादन होता है । समुच्चय में एक कार्य सम्पत्ति के हेतु सभी साधकों का खलेकपोत न्याय से आगमन होता है । उससे कार्य को कोई भी अतिशय नहीं होता । काव्यलिंग में भाव के सदृश हेतु-भाव की विवक्षा रहती है, न कि हेतुओं के गुणप्रधान भाव से एकत्व अथवा अनेकत्व का विचार । समुच्चय में उस कार्य की सिद्धि एक ही साधन से होती है, अन्य साधकबाधक मात्र होते हैं ।[4]

---

१ - "यत्रैक: कस्यचित् कार्यस्य सिद्धिहेतुरेवान्यस्तत्साधकोऽपि यदि स्पर्धया तत्सिद्धिं प्रकुरुते तत्र समुच्चयनामालंकार: ।" विवेक पृ०२८६

२ - प्रकृतस्य कार्यस्य एकस्मिन् साधके स्थिते साधकान्तरयोग: समुच्चय: — (सम्प्रदायप्रकाशिनी पृष्ठ ३५५)

३ - यत्रैकं कस्यचित् कार्यस्यसिद्धिहेतुत्वेन स्थितं, तदन्ये यदि स्पर्धया तद्वृद्धिं कुर्यु: समुच्चय: । -------- स चायं समाधि: । यत्र त्वेकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वमन्यत् काकतालीयन्यायेनागतिरुपकरोति स समाधि: । यत्र खलेकपोतिकायुक्त्या बहूनामवतार: स समुच्चय इति विवेक: । साहित्य - चूडामणि पृष्ठ ३५६ ।

४ - उद्योत पृष्ठ ५३३

समुच्चय के भेद :- रुद्रट ने सद्योग, असद्योग, सदसद्योग इत्यादि समुच्चय के भेद को पृथक् रूप से लक्षित किया है। मम्मट इसे पृथक् रूप से भेद मानने के पक्ष में नहीं हैं। समुच्चय के उक्त लक्षण के अन्तर्गत इनका भी स्वरूप समाविष्ट हो जाता है। सद्योग में सद् का अर्थ शोभन है। भाव यह है कि चकार द्वारा उपादेय रूप में अभिप्रेत वस्तु का शोभन है। इसी प्रकार असद् का अर्थ अशोभन है, अनुपादेय होने के कारण इसका अशोभनत्व है। सदसद् में एक ही वस्तु शोभन तथा अशोभन दोनों रूप में उपस्थित रहती है। जैसे चन्द्रमा का रात्रि में शोभनत्व तथा दिन में उसका अशोभनत्व रहता है। इन दोनों के उदाहरण दे कर मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है कि इनका पृथक् रूप से लक्षण निर्धारित व्यर्थ है। क्योंकि मम्मट: इनका पर्यवसान उक्त समुच्चय लक्षण में हो जाता है।

समुच्चय अलंकार का दूसरा भेद मम्मट वहाँ मानते हैं, जहाँ पर कि गुण तथा क्रियाओं का एक काल में वर्णन किया जाता है। इसको मम्मट "स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः" इस कारिका में तथा वृत्तिभाग में "गुणौ च क्रिये च, गुणक्रिये च गुणक्रियाः, इत्यादि रूप में स्पष्ट करते हैं। भाव यह कि जहाँ पर दो अथवा अधिक गुणों का समुच्चय होता है, जहाँ दो या उससे अधिक क्रियाओं का समुच्चय होता है तो जहाँ गुण तथा क्रिया का समुच्चय होता है। इनका एक-एक उदाहरण भी मम्मट ने प्रस्तुत किया है।

पर्याय :- जहाँ पर एक वस्तु का अनेक में क्रमशः सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ पर्याय अलंकार होता है। मम्मट का लक्षण इस प्रकार है :-

" एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः।"

अर्थात् एक वस्तु अनेक वस्तुओं में होती है अथवा की जाती है इस प्रकार के वर्णन में भी अलंकार होता है। स्पष्ट है कि इसके दो

प्रकार हो जाते हैं- प्रथम यह जिससे कि एक वस्तु का अनेक में सम्बन्ध कराने वाला प्रयोजक नहीं रहता । इसी को उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है जिसे के द्वितीय एक प्रकार है -

" बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि, पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि, लक्ष्यते ॥"

यहाँ पर राग के आश्रय ( लालिमा तथा प्रेम रूप होने से ) भेद है । तथापि श्लेष के माहात्म्य से उनमें एकता मानित होने के कारण दोनों ही अवस्था में कोई विरोध नहीं माना जा सकता ।

पर्याय का द्वितीय भेद: - प्रथम प्रकार के पर्याय से जो विपरीत होता है वह द्वितीय प्रकार का पर्याय है जिसे कि मम्मट " अन्यस्ततो यथवा " रूप में प्रस्तुत करते हैं, तात्पर्य यह है कि जहाँ पर अनेक वस्तुयें एक ही आधार वह में क्रम से होती हैं अथवा की जाती हैं वहाँ द्वितीय प्रकार का पर्याय होता है । दो उदाहरणों से मम्मट ने इसको भी पुष्ट किया है ।

टीकाकारों में उद्योतकार के अनुसार लक्षण में क्रमेण पद के प्रयोग से पर्याय अलंकार की विशेषालंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती । क्योंकि एक साथ एक वस्तु का अनेक में होना विशेषालंकार है । इस लिये यहाँ भी युगपद् इत्यादि कहा गया है ।[1]

प्रदीपकार के अनुसार स्वरूप रूप से विवक्षित वस्तु जहाँ पर क्रम से अनेक में होती है ।(भवति ) तथा की जाती है, (क्रियते ) वहाँ प्रथम पर्याय अलंकार होता है । समुच्चय की व्यावृत्ति के हेतु " क्रमेण " पद का प्रयोग किया गया है । " भवति तथा " क्रियते " का प्रयोग जो मम्मट ने किया है उसका अर्थ प्रयोजक का अनिर्देश तथा तन्निर्देश से है न कि स्वाभाविकत्व तथा अस्वाभाविकत्व से ।[2]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- उद्योत पृष्ठ -२६८

२- प्रदीप पृष्ठ [illegible]३६

परिकर :- परिकर अलंकार का लक्षण इस प्रकार है - " विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति: परिकरस्तु स: " अर्थात् अभिप्राययुक्त विशेषणों के प्रयोग होने पर परिकरनामक अलंकार होता है। साकूत विशेषणों के द्वारा जो उक्ति होगी वह परिकर है, किन्तु- उक्ति होगी तो विशेष। इसके लिये मम्मट " विशेष्यस्य उक्ति :" कहते हैं। इन सब तत्वों को संयोजना करके बालबोधिनीकार परिकर अलंकार वहाँ मानते हैं जहाँ पर कि साभिप्राय अनेक विशेषणों के द्वारा विशेष्य का वाचित्र्य प्रतीत होता है।[१]

परिकर पद का अर्थ व्याख्याकारों ने दो रूपों में समझाया है। प्रथम के अनुसार परिकर या परिकरण का अर्थ है उपकरण अर्थात् विशेषण व्यंग्यार्थ के द्वारा वाच्यार्थ के उपकरण होने के कारण अन्वर्थ संज्ञक परिकर है मत्वर्थीय अच् प्रत्यय है। भूषणाद्यर्थ के अभाव में सुहागम नहीं होता।[२]

उद्योतकार के अनुसार " विशेषण :" से विशेष्य का भी उपलक्षण हो जाता है। अतः विशेष्य के साभिप्राय होने पर भी परिकर अलंकार होता है। यथा " चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुज: में चतुर्भुज " यह विशेष्य पुरुषार्थचतुष्टय के दान सामर्थ्य के अभिप्राय से प्रयुक्त है।

ज्ञातव्य है कि अप्पयदीक्षित विशेष्य के साभिप्राय होने पर एक भिन्न परिकरांकुरालंकार मानते हैं।[३] किन्तु काव्य प्रकाश की उद्योत सुधासागर प्रभृति टीकाओं में इसका खण्डन कर इसे परिकर अलंकार के उक्त लक्षण में ही अन्तर्भूत किया गया है।

परिकर अलंकार का उदाहरण मम्मट के अनुसार यह पद्य है -

" महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृत: संयति लब्धकीर्तय: ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तय: प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभि:समीहितुम् ।।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- बालबोधिनी पृष्ठ ३६६
२- बालबोधिनी वही पृष्ठ
३-" साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकरांकुर: ।" कुवलयानन्द ।

यहाँ पर महौजस इत्यादि विशेषणों के प्रयोग का अभिप्राय है। अन्य के द्वारा कभी भी अभिभूत न हो सकना। इससे अनुक्ति: रूप विशेष्य की परिपुष्टि होती है। साथ ही प्रधान ( दुर्योधन ) का उत्कर्ष प्रतीत होता है। अतएव इसमें परिकरालंकार है।

निदर्शनाकार का मत है कि केवल परिकर तक ही मम्मट की कृति है। इसके आगे का भाग अल्लट नामक आचार्य के द्वारा पूर्ण किया गया है। बालबोधिनीकार इसका उल्लेख इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

" अत्र निदर्शनकारा:, एतत्पर्यन्तं मम्मटाचार्याणाम् कृति:। तदुक्तम् - कृत: श्री मम्मटाचार्यवर्यै: परिकरावधि:। प्रबन्ध: पूरित: शेषो विधायाल्लटसूरिणा। अत: परमल्लटाचार्यस्य कृति:।। बा० पृष्ठ ७००

किन्तु यह मत पुष्ट नहीं हो सका। क्योंकि न तो इसका कोई विशेषप्रमाण मिलता है और न अन्य टीकाकारों ने इसका संकेत ही किया है। अत: उक्तमत समीचीन नहीं प्रतीत होता।

<u>व्याजोक्ति :-</u> मम्मट व्याजोक्ति अलंकार का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

" व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।"

जहाँ पर स्पष्ट रूप से प्रकट हो चुकी हुई वस्तु का किसी व्याज से छिपा कर वर्णन किया जाय वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है। इसे और स्पष्ट करते हुये मम्मट का कथन है कि निगूढ़ वस्तु का स्वरूप भी किसी प्रकार स्पष्टतया प्रतीत हो जाने पर यदि किसी व्यपदेश से उसका अपह्नुत किया जाय तो वहाँ व्याजोक्ति अलंकार माना जाता है। प्रकृताप्रकृतोभय-निष्ठ साम्य के यहाँ पर असम्भव होने के कारण अपह्नुति अलंकार नहीं हो सकता। टीकाकार इसे और स्पष्ट करते हैं। तदनुसार अपह्नुति अलंकार में

इन चारों भेदों का एक-एक उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है । इनमें भी तृतीय व चतुर्थ की कमियों ने बड़े मनोयोग के साथ प्रस्तुत किया है । निम्नांकित चतुर्थ का उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है--

"भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥

इसमें महापुरुषों की शिवादि में भक्ति होने के वर्णन द्वारा वैभवादि के प्रति भक्ति की व्यावृत्ति का वर्णन है । यहाँ पर कथन के अप्रश्न-पूर्वक होने के कारण तथा "न विभवे" आदि के शाब्द होने से अप्रश्नपूर्विका शाब्द व्यावृत्तिका परिसंख्या अलंकार है ।

<u>कारणमाला:-</u> जहाँ पर उत्तरोत्तरवर्ती अर्थों के प्रति पूर्व-पूर्ववर्ती अर्थ कारण रूप से प्रस्तुत किये गये हों वहाँ पर कारणमालालंकार होता है । ---

"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥

इसमें जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, विनय गुण प्रकर्ष का, गुण प्रकर्ष जनानुराग, का, तथा जनानुराग सम्पदा का कारण है । इस प्रकार उत्तरोत्तरवर्ती वस्तु के प्रति पूर्व-पूर्ववर्ती वस्तु कारण होने से यहाँ कारण मालालंकार है ।

<u>हेतु अलंकार का खण्डन:-</u>

प्राचीन आलंकारिकों ने हेतु अलंकार की जो मान्यता प्रस्तुत की है उसका आचार्य मम्मट ने यहीं प्रसंग में विरोध किया है । हेतु अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया गया है - "हेतुमता सह हेतोरभिधान-मभेदतो हेतुः ।" अर्थात् कार्य (हेतुमत्) के साथ कारण (हेतु) का अभेदरूप में कथन हेतु अलंकार है यहाँ मम्मट के खण्डन का आधार यह है कि

उत्तर : - जहाँ पर (१) उत्तर के श्रवणमात्र से ही प्रश्न का उन्नयन हो जाता है अथवा (२) अनेकबार प्रश्न किये जाने पर अनेकबार असम्भावित उत्तर होता है वहाँ उत्तर अलंकार माना जाता है। स्पष्ट है कि उत्तर अलंकार के दो भेद हो जाते हैं। जहाँ पर उत्तर की प्राप्ति से ही प्रश्न की कल्पना हो जाती है, उसका उदाहरण यह पद्य है : -

वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतो स्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥

यह किसी व्याध का उत्तर वाक्य है। इससे जिस प्रश्न वाक्य का उन्नयन होता है वह इस प्रकार है - मैं हस्तिदन्त एवं व्याघ्रचर्म खरीदना चाहता हूं। इसका यथोचित मूल्य दूंगा। " इस प्रकार से किसी वणिक का प्रश्नवाक्य उक्त व्याध के उत्तर से कल्पित किया जाता है।

इसी प्रसंग में मम्मट ने अनेक अलंकारों से उत्तर अलंकार का भेद प्रदर्शित किया है। तदनुसार काव्यलिंग अलंकार उत्तर अलंकार से भिन्न है। क्योंकि काव्यलिंग में हेतु का कथन होता है। हेतु कारकरूप तथा ज्ञापकरूप दो प्रकार का होता है। कारकरूप हेतु का कथन काव्यलिंगअलंकार में होता है। उत्तर वाक्य प्रश्न का कारक हेतु हो नहीं सकता। केवल ज्ञापक हेतु सम्भव है। उत्तर अलंकार अनुमान अलंकार से भी भिन्न है, भले ही अनुमान में ज्ञापक हेतु ही आवश्यक होता है। कारण यह है कि साधनरूप में तो उत्तर का कथन होता है किन्तु साध्य रूप में प्रश्न का कथन रहता ही नहीं, जब कि अनुमान अलंकार में पक्षरूप धर्मी में साध्य और साधन दोनों का कथन होना चाहिए अतएव उत्तरअलंकार काव्यलिंग तथा अनुमान दोनों अलंकारों से भेद है।

उत्तर अलंकार का दूसरा प्रकार वहाँ होता है जहाँ पर कि प्रश्न के पश्चात् ऐसा उत्तर प्राप्त होता है जो लौकिक ज्ञान से परे होने के कारण असंभाव्य सा प्रतीत होता है। जैसे - का विषमा दैवगतिः इत्यादि पद्य में " का विषमा इत्यादि रूप में अनेक प्रश्न किये जाते हैं। दैवगतिः इत्यादि अनेक उनके उत्तर भी प्राप्त होते हैं। यहाँ पर दैवगति का विषमत्व इत्यादि कथन सर्वथा लौकिक विषय से भिन्न है। अतएव

यहाँ पर द्वितीय प्रकार का उदात्तालंकार है ।

मम्मट का उदात्तालंकार का स्वरूप विवेचन रुद्रट के विवेचन से प्रभावित प्रतीत होता है । रुद्रट का लक्षण इस प्रकार है -

उदात्तवचनश्रवणादुन्मयन यत्र पूर्वविधनाम्नाम् ।
क्रियते तदुपर स्यात् प्रत्नादप्युत्तम यत्र । काव्यालंकार-७-६३

सूक्ष्म : - सूक्ष्म अलंकार का लक्षण इस प्रकार है -
"कुतो पिकशितः सूक्ष्मो प्ययों न्यस्मै प्रकाश्यते ।।
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।।

" कुतो पि " से अभिप्राय आकार अथवा इंगित से है । सूक्ष्म का अर्थ तीक्ष्णमतिसंवेद्य अर्थात् सहृदय हृदय संवेद्य । भाव यह है कि जहाँ पर किसी ज्ञापक हेतु ( आकार, इंगित ) से प्रतीति का विषयभूत हुआ कोई सूक्ष्म पदार्थ किसी स्मारक धर्म के माध्यम से किसी अन्य व्यक्ति पर प्रकट किया जाता हो तो वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है । यह दो प्रकार का होता है - (१) आकार से लक्षित का प्रकाशन (२) इंगित लक्षित का प्रकाशन । " वक्त्रस्यन्दिस्वेद" इत्यादि प्रथम प्रकार के सूक्ष्म का उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है द्वितीय प्रकार के सूक्ष्म का उदाहरण इस प्रकार है : -

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतम् लीलापद्मं निमीलितम् ।।

यहाँ पर जिज्ञासित संकेतकाल सूक्ष्म अर्थ है । इसका ज्ञान किसी चतुर कामिनी को नेत्र संकेत से हो जाता है । साथ ही वह रात्रि समय को सूचना देने वाले कमल संकोच के माध्यम से भाव भंगिमा के साथ प्रकट भी कर दिया । अतएव यहाँ पर सूक्ष्मालंकार है ।

सूक्ष्म अलंकार का आचार्य भामह ने स्पष्ट रूप से विरोध किया है । क्योंकि इस अलंकार में भामह को किसी प्रकार की उक्ति औचित्य का आभास नहीं होता ।[१] दण्डी ने -" इंगिताकारलक्ष्यो ऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ( काव्यादर्श २-२६० ) । इस रूप में पुनः सूक्ष्म अलंकार को प्रतिष्ठापित किया ।

रुद्रट ने यद्यपि सूक्ष्म अलंकार को स्वतन्त्र रूप स्वीकार अवश्य किया तथापि उसका लक्षण उन्होंने कुछ भिन्न रूप से प्रस्तुत किया, जो इस प्रकार है : -

यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम् ।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत् संज्ञायते सूक्ष्मम् ।

यहाँ ज्ञातव्य है कि मम्मट उक्तलक्षण निर्माण में दण्डी के लक्षण से अधिक अनुप्राणित प्रतीत होते हैं ।

सार : - उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः, अर्थात् किसी का उत्कर्ष निरूपण जहाँ उत्तरोत्तर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता हुआ प्रतिपादित किया जाय वहाँ सारालंकार होता है । लक्षणगत परावधिः को स्पष्ट करते हुये मम्मट का कथन है कि किसी की उत्कृष्टता उत्तरोत्तर वर्णित होकर अन्त में अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाय और वहाँ उसकी विश्रान्ति हो तो वहाँ सार अलंकार माना जायगा । यथा : -

" राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुर सौधम् ॥
सौधे तल्पं तल्पे वरांगना अंगसर्वस्वम् ॥

इस उदाहरण में राज्य में पृथ्वी का सार बताया गया, पृथ्वी में नगर और इसी रूप से उत्तरोत्तर उत्कृष्टता वर्णित है । इसकी पराकाष्ठा" सुन्दरी" की प्राप्ति में होती है अर्थात् वर्णन की यहाँ सुन्दरी रूप सर्वोत्कृष्टता में विश्रान्ति होती है । अतएव यहाँ सारालंकार है ।

ज्ञातव्य है कि मम्मट का उक्त सार अलंकार का लक्षण रुद्रट के लक्षण से अनुप्राणित है । साथ ही मम्मट ने उदाहरण भी रुद्रट से ही ग्रहण किया है । रुद्रट का लक्षण इस प्रकार है :-

"यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमा गुणवदिति ।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम् ।। (काव्यालंकार ७-९६)

असंगति:- मम्मट का असंगति अलंकार का लक्षण इस प्रकार है :-

"भिन्नदेशतया त्यन्त कार्य-कारणभूतयो : ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्याति: सा स्यादसंगति: ।।

वृत्तिभाग में मम्मट ने सुस्पष्ट व्याख्यान प्रस्तुत किया है । तदनुसार जहां पर कारण होता है वहीं पर कार्य का भी सद्भाव देखा जाता है । यथा धूमादि-कार्य वहीं होते हैं जहां उनके कारणभूत अग्नि का सद्भाव रहता है । किन्तु जहां पर किसी वैशिष्ट्य के निरूपण के हेतु कारण और कार्य रूप होते हुये भी दोपदार्थ एक साथ ही भिन्न भिन्न स्थानों में प्रकट किये जाते हों वहां उनकी निश्चित स्वाभाविक संगति के राहित्य के कारण असंगति कही जाती है । उदाहरणार्थ -

"यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भवति तज्जनो लीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ।।

इसमें दन्तक्षत कारण तथा वेदना कार्य है । दोनों का प्रयोजन इस प्रकार है- वधू के कपोल पर परिलक्षित दन्तक्षत सपत्नियों को कष्ट दायक है । इस तरह विशेषता की प्राप्ति के हेतु उक्त असंगत अलंकार है । ज्ञातव्य है कि इस अलंकार के विवेचन में भी मम्मट रुद्रट का ही अनुसरण करते हैं ।[1]

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- काव्यालंकार ९-४८

असंगति अलंकार के विवेचन में मम्मट ने इसका विरोधाभास अलंकार से भेद प्रदर्शित कर दिया है। तदनुसार असंगति विरोध अलंकार नहीं हो सकता, अपितु विरोध का बाधक हो सकता है। वस्तुत असंगति अलंकार में भिन्न भिन्न आधार में कार्यकारणता होने से ही विरोध प्रतीत होता है। किन्तु विरोधाभास अलंकार में भिन्न भिन्न देश में वर्तमान वस्तुओं का एक आधार में विद्यमान होना दिखाया जाता है। यद्यपि विरोधाभास की यह विलक्षणता उनके उदाहरण में स्पष्ट नहीं है, वस्तुतः असंगति के स्थल का परित्याग करके ही अन्यत्र विरोध का विधान होना चाहिए।

इसके पश्चात् मम्मट ने समाधि अलंकार की व्याख्या दण्डी के पूर्ण अनुकरण पर[१] प्रस्तुत किया है। इसमें मम्मट की मौलिकता का सर्वथा अभाव है।

---

१- काव्यादर्श २-९३।

न मालत्येव पुष्पि[illegible] रक्तां [illegible] ।
[illegible] पुष्पाङ्कुराणि परिम्लायमानां निवारयति ॥

यहाँ पूर्वार्ध में छेकानुप्रासक शब्दालंकार है और उत्तरार्ध में अर्थालंकार रूपक है। दोनों परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थित हैं। अतएव यहाँ पर शब्दार्थालंकार संसृष्टि है।

उद्योतकार ने एक महत्वपूर्ण पूर्वपक्ष की उद्भावना की है। तदनुसार संसृष्टि को पृथक् अलंकार न मानना चाहिए। यथा कामिनी के शरीर पर कुण्डल, हार, केयूर, कंकणादि का तिलतण्डुलन्याय से शोभा की उत्पत्ति में विशेषतार्थ नहीं होता। क्योंकि समुदाय से समुदाय का भेदाभाव रहता है, इसी दृष्टि से काव्य में भी गुणों तथा अलंकारों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। इस पूर्वपक्ष का समाधान उद्योतकार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं- जहाँ तक कामिनी के शरीर में आभूषणों का प्रश्न है वहाँ पर सभी अपनी भावनायुक्त भिन्न-भिन्न अंगों के उत्कर्षाधायक होकर शरीर में काव्य के प्रति शोभाविशेष रखता है। काव्य में एकांग की उत्कर्षक संसृष्टि ही होती है। जैसे "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि" इत्यादि में उत्प्रेक्षा के द्वारा अन्धकार का व्याप्तत्व का प्रतिपादन करके उपमा के द्वारा असत्पुरुषसेवा का उपपादन पूर्वक संसृष्टि व्यवहार किया गया है।[1]
अतः संसृष्टि की स्वतंत्र सत्ता मान्य है।

**संकर:-**
परस्पर निरपेक्ष भाव से अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति में संसृष्टि अलंकार होता है यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसी की विपरीत अवस्था संकर अलंकार में होती है। वस्तुतः दो अथवा दो से भी अधिक अलंकारों की परस्पर सापेक्ष भाव से एकत्र स्थिति होने पर अलंकारों का संकर होता है। यह संकर तीन प्रकार से होता है :- (१) अंगांगिभाव संकर (२) सन्देह संकर (३) एकवाचकानुप्रवेश संकर। इन तीनों का क्रमशः स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है :-

---

(१) उद्योत पृष्ठ- ५०६ ।

अंगांगिभाव संकर::-

इसका लक्षण मम्मट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:-

"अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः ।"

अर्थात् जहाँ पर पूर्वनिर्दिष्ट अलंकार स्वतंत्र न रह कर अंगांगी रूप में एकत्र हों तो वहाँ संकर का उद्भव होता । इसे वृत्तिभाग में और स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है कि "इन स्थलों में अलंकारों में परस्पर अनुग्राह्य तथा अनुग्राहक भाव रहता है । इस प्रकार का संकर कहीं केवल दो अर्थालंकारों में होता है ।" "आत्ते सीमन्त रत्ने" इत्यादि जिसका उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है जिसमें कि तद्गुण अलंकार के आधार पर भ्रान्तिमान् निष्पन्न होता है । और भ्रान्तिमान् की अपेक्षा से तद्गुण का वैशिष्ट्य है । कहीं अनेक अलंकारों का अंगांगिभाव संकर होता है । जैसे—

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलंकाक्षवलयो, ।
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्य विशदः ॥
परिप्रेंखत्तारापरिकरकपालांकिततले,
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥

इसमें उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा तथा श्लेष अलंकार एक दूसरे की अपेक्षा से स्थित हैं । इसका स्पष्टीकरण स्वतः मम्मट ने भी कर दिया है । यहाँ की उक्त दोनों अंगांगिभावसंकर के उदाहरण अर्थालंकारों पर आश्रित है । शब्दालंकारों की अंगांगिभावस्थिति में भी संकर अलंकार देखा जाता है । मम्मट ने इसका "राजति तटीयमभिहत" इत्यादि पद्य उदाहरण स्वरूप देकर स्पष्ट किया है । यहाँ पादत्रय में विद्यमान यमक तथा अनुलोमप्रतिलोम चित्रात्मक अलंकार दोनों परस्पर सापेक्ष हैं ।[1]

सन्देह संकर::-

सन्देहसंकर वहाँ होता है जहाँ पर कि एकतर अलंकार को निश्चय रूप से स्वीकार कर लेने में कोई साधक या बाधक प्रमाण नहीं मिलता । मम्मट

---

(१) काव्य प्रकाश पृष्ठ- ७५५ ।

कहते इस प्रकार कहते हैं :- "एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः" वृत्ति में एक विशद व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि ऐसे स्थल काव्य में आते हैं जिनमें कि दो या दो से अधिक अलंकारों का समावेश होने पर भी विरोध होने के कारण उनका युगपद् होना निश्चित नहीं हो पाता । साथ ही एकतर के स्वीकार में साधक तथा दूसरे के त्याग में बाधक प्रमाण भी नहीं मिल पाता । फलस्वरूप उनमें से एक को स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है । अतः निश्चय के अभाव रूप होने से ऐसे सन्देह संकर कहलाते हैं । जैसे:-

यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः ।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥

इसमें समुद्र के प्रस्तुत होने पर विशेषण साम्य से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, अतः क्या यहां पर समासोक्ति अलंकारमान लिया जाय ? अथवा अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से समान गुण के कारण किसी प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है । इस दृष्टि से क्या अप्रस्तुत प्रशंसा मान लिया जाय ? इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न होता है । अतएव उक्त पद्य में सन्देह संकर है ।

सन्देह संकर को मम्मट ने एक पद्य से और स्पष्ट किया है । साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे स्थल जहां पर कि किसी एक अलंकार का साधक प्रमाण प्राप्त रहता हो उसका निश्चय भी हो जाता है और उस स्थिति में संशय के अभाव में सन्देह संकर नहीं होगा । वहां भी सन्देह संकर नहीं हो सकता जहां पर कि अन्यतर अलंकार का बाधक प्रमाण होता है । इस प्रसंग में आचार्य मम्मट ने सोदाहरण सविशद व्याख्यान प्रस्तुत किया है ।[१]

<u>एकवाचकानुप्रवेश संकर</u>::- तृतीय प्रकार का अलंकारसंकर वहां होता है जहां पर कि एक ही विषय में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों व्यवस्थित रहते हैं । मम्मट इसे इस प्रकार कहते हैं:-

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

(१) काव्यप्रकाश पृष्ठ- ७४२-४३ ।

" स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च"

भाव यह है कि जहाँ पर सुबन्त अथवा तिङन्त रूप पद या पदांशमात्र में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों सुस्पष्ट रूप से अवस्थिति को प्राप्त रहते हैं वहाँ एक पद प्रतिपाद्य संकर होता है । इसका " स्पष्टोल्लसत् " इत्यादि उदाहरण मम्मट ने प्रस्तुत किया है जिसमें कि एक पद में रूपक तथा अनुप्रासदोनों उपस्थित हैं । इस प्रकार से मम्मट ने संकर अलंकार के तीन स्वरूप को स्वीकार किया है ।

<u>परम्परा की अलंकार दोष विषयक मान्यता::-</u> आचार्य भामह से लेकर आचार्य रुद्रट तक प्रायः सभी आलंकारिकों ने अलंकारों के विवेचन के साथ अलंकारों के दोषों का भी विवेचन किया है । सामान्य दोषों की भी उद्भावना उन्हीं प्राचीन आचार्यों की ही देन है । मम्मट यहाँ पर उनका दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं । वे अलंकार-दोष को दोष-सामान्य से भिन्न, दोष-विशेष मानने के पक्ष में नहीं हैं । अलंकार दोषों को दोष जाति में ही परिगणित किया जा सकता है - ऐसी मम्मट की मान्यता है । अस्तु । उन्होंने भामह एवं रुद्रट की अलंकार-दोष-विषयक मान्यताओं की समीक्षा की है और अलंकार दोषों को उन्होंने दोष सामान्य में अन्तर्भुक्त किया है । तदनुसार क्रमशः विवेचन यहाँ द्रष्टव्य है ।

<u>अनुप्रास दोषों का पूर्वोक्त दोषों में अन्तर्भाव::-</u> प्राचीन आचार्य अनुप्रास अलंकार से सम्बद्ध तीन दोष प्रदर्शित करते हैं :- (१) प्रसिद्धि का अभाव (२) वैफल्य और (३) वृत्तिविरोध । मम्मट का कथन है कि इन तीनों दोषों को दोष सामान्य में परिगणित (१) प्रसिद्धि विरुद्ध (२) अपुष्टार्थत्व और (३) प्रतिकूलवर्णता में क्रमशः अन्तर्भूत किया जा सकता है । मम्मट ने अनुप्रास के उक्त तीनों दोषों से सम्बद्ध एक एक उदाहरण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन आचार्य दोष-विशेष जिन्हें मानते आये हैं वे वस्तुतः दोष-सामान्य ही हैं । विद्यमान प्राचीनों के वैफल्य रूप द्वितीय अनुप्रास दोष का उदाहरण इस प्रकार है :-

(१) उपमान की जाति गत न्यूनता – जैसे चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् – में चण्डाल रूप उपमान की जाति – गत न्यूनत्व के फलस्वरूप उपमेय की भिन्नता अभिव्यक्त होती है। मम्मट इस दोष का अन्तर्भाव अनुचितार्थता में करते हैं। इसी प्रकार अन्य तीन (२) उपमान की प्रमाणगत न्यूनता (३) उपमान का जाति गत आधिक्य (४) उपमान का प्रमाणगत आधिक्य-रूप प्राचीनों के अलंकार दोषों का अन्तर्भाव मम्मट अनुचितार्थता नामक दोषसामान्य में गिनाते हैं।

<u>साधारणधर्मगत न्यूनता व अधिकता</u> :- उपमान की जाति व प्रमाण गत न्यूनता व अधिकता में जहाँ प्राचीन अलंकार दोष मानते हैं वहीं साधारण धर्मगतन्यूनता अथवा साधारणधर्मगत अधिकता में भी अलंकार दोष स्वीकार मानते हैं। धर्मगत न्यूनता जैसे--

> स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
> व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥

यहाँ पर उपमेय गत मु[illegible] रूप धर्म की तुल्य के अंश उपात्त नहीं है। अतः यहाँ प्राचीनों का धर्मन्यूनत्व रूप अलंकार दोष है। आचार्य मम्मट इसका अन्तर्भाव हीनपदत्व रूप दोष सामान्य में करते हैं। इसी प्रकार उपमान की अधिक धर्मता का उदाहरण "स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो" इत्यादि पद्य प्रस्तुत कर मम्मट ने इस दोष का अन्तर्भाव अधिकपदत्व दोष में किया है।

<u>भिन्नलिंगत्व तथा भिन्नवचनत्व दोष</u> :- भिन्नलिंगत्व तथा भिन्नवचनत्व रूप उपमा के दोषद्वय का प्रतिपादन प्राचीन आलंकारिकों ने किया है। उनका अभिप्राय है है कि जिन स्थलों में उपमान तथा उपमेय दोनों भिन्न-भिन्न लिंगों में अथवा वचनों में रहते हैं वहाँ पर स्वाभाविक है कि साधारण धर्म दोनों में किसी एक का ही लिंग अथवा वचन के आधार पर अनुसरण कर सकेगा।

ऐसी दशा में उसका अन्वय केवल एक के साथ ही हो सकेगा । क्योंकि अन्वय विशेष्य-विशेषणभाव आदि शब्दों में समान लिंग वचन के आधार पर ही होता है । जब साधारण धर्म उपमेय तथा उपमान दोनों के साथ अन्वित ही न हो सकेगा । तब उपमा की ही निष्पत्ति सम्भव नहीं है । इसी दृष्टि से प्राचीनों ने उपमा के भिन्न लिंग तथा भिन्न वचन रूप दोषद्वय को माना है । किन्तु मम्मट का कथन है कि ये दोष भग्नप्रक्रम नामक दोष सामान्य से भिन्न नहीं हैं । अतः इन्हें अलंकार रूप दोष विशेष न मान कर भग्नप्रक्रमता दोष में ही अन्तर्भुक्त किया जा सकता है ।

जिन स्थलों में उपमान तथा उपमेय में लिंग या वचन भेद विद्यमान रहता है किन्तु साधारण धर्म इतना समर्थ है कि वह उपमेय तथा उपमान दोनों से अन्वित हो जाता है तो ऐसे स्थल पर भग्नप्रक्रमत्व दोष नहीं होता ।

<u>कालादिभेद का भग्नप्रक्रमता में अन्तर्भाव::-</u> लिंग और वचन भेद में जिस प्रकार दोष की उद्भावना प्राचीनों ने की है उसी प्रकार भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल प्रथमादि पुरुष तथा विध्यर्थक लिंगादि का भेद होने पर कालादि तत्तद् दोष विशेष होते हैं । क्यों कि ऐसे स्थलों में निर्बाध प्रतीति नहीं हो पाती । काल भेद का उदाहरण इस प्रकार मम्मट प्रस्तुत करते हैं :-

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमापकुमुद्वती ।
पश्चिमायामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥

यहां पर चेतना निर्मलता को प्राप्त हुआ करती है । (आप्नोति, लट् वर्तमान-काल) वह है, न कि प्राप्त किया (आप, लिट् भूतकाल)। इसी प्रकार यहां पर काल भेद दोष है । मम्मट इसे भी भग्नप्रक्रम में अन्तर्भुक्त करते हैं । इसी प्रकार "प्रत्यग्रमज्जन" इत्यादि पुरुष भेद का उदाहरण दिया गया है । जिसे कि मम्मट ने भग्नप्रक्रम में ही अन्तर्भुक्त किया है । विधि भेद का उदाहरण इस प्रकार है —

"गंगेव प्रवहतु ते सदैव कीर्तिः ।" अर्थात् गंगा के समान तुम्हारी कीर्ति सदैव प्रवाहित हो । विधि का तात्पर्य टीकाकारों ने भलीभांति स्पष्ट

कर किया है। तदनुसार अस्तुत प्रवृत्ति ही विधि है। भाव यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त न होता हो तो उसे उस कार्य में प्रवृत्त कराना विधि है। आशीर्वाद, प्रेरणा, प्रार्थना, इत्यादि इसके अनेक स्वरूप होते हैं। उक्त उदाहरण में अस्तुत कीर्ति के प्रवाह के हेतु आशीर्वाद रूप विधि है और वह यहाँ पर उपमान रूप में उपनिबद्ध गंगा में युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। क्यों कि गंगा तो शाश्वत प्रवाहिनी है। अस्तु! गंगा के साथ अन्वय उपपन्न के हेतु "यथा गंगा प्रवहति तथा कीर्तिः अपि" इस प्रकार का परिवर्तन करना आवश्यक होता है। विधि भेद का यही अभिप्राय है। इस विधि भेद दोष जिसे प्राचीन आचार्य उपमालंकार के अन्तर्गत मानते हैं उसे भी मम्मट भग्नप्रक्रम दोष में अन्तर्भुक्त करते हैं।

असादृश्य तथा असम्भव उपमादोष::- प्राचीन आलंकारिक उपमा के असादृश्य तथा असम्भव नामक दो दोष मानते हैं। मम्मट इनका अन्तर्भाव अनुचितार्थत्व में ही करते हैं। असादृश्य दोष जैसे:-

"ग्रथ्नामि काव्यशशिनम् विततार्थरश्मिम्।"

इस उदाहरण में प्राचीनों का उपमा विषयक असादृश्य दोष है। क्यों कि काव्य की चन्द्रमा के साथ तथा अर्थों की रश्मियों के साथ सादृश्य कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। मम्मट इसे अनुचितार्थदोष में अन्तर्भुक्त करते हैं। पण्डितों के अनुसार आपाततः यहाँ पर अनुचितार्थ दोष है। वस्तुतः अप्रयुक्तत्व दोष ही मानना यहाँ पर उचित है।[१]

इसी प्रकार असम्भव उपमादोष का "निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः" इत्यादि उदाहरण जिसे मम्मट ने भी अनुचितार्थत्व नामक दोष सामान्य में अन्तर्भुक्त किया है।

उत्प्रेक्षा के दोषों का अन्तर्भाव::- उत्प्रेक्षालंकार में सम्भावना को प्रकट करने

---

(१) बालबोधिनी पृष्ठ- ७८३ ।

वाले शब्द मुख, इव इत्यादि है। यथा, शब्द केवल साधर्म्य को प्रकट करने में समर्थ होता है। सादृश्य की विवक्षा उत्प्रेक्षा में नहीं रहती, अतः उत्प्रेक्षा को प्रकट करने में यथा शब्द असमर्थ है। इसे प्राचीनों ने अवाचकत्व दोष कहा है, किन्तु मम्मट इसे अवाचकत्व रूप दोष सामान्य से भिन्न नहीं मानते। जैसे— उदयो दीधिकामालम्बुदं भासोत्यतः ।

नारीविनयनाकुलं शंकासुचिकां यथा ॥

यहाँ पर सम्भावना को प्रकट करने के हेतु यथा का प्रयोग है जो स्वतः असमर्थ है। प्राचीन आलंकारिक यहाँ पर उत्प्रेक्षा का अवाचकत्व नामक दोष मानते हैं और आचार्य मम्मट इसका अन्तर्भाव अवाचकत्वदोष में करते हैं।

**समासोक्तिदोष::-** साधारण सदृश विशेषणों की सामर्थ्य से ही समासोक्ति अलंकार शब्दों द्वारा न कहा जाने पर भी (प्रस्तुत) उपमान विशेष की अभिव्यक्ति कर देता है। अतएव उस उपमान विशेष का फिर शब्द के द्वारा कथन करने में उसका कोई प्रयोजन न होने के कारण प्राचीन आचार्य अनुपादेयत्व नामक समासोक्ति का दोष मानते हैं। मम्मट इसका अन्तर्भाव अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्तत्व दोष में ही करते हैं। यथा::—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।

अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥

इसमें श्लिष्ट विशेषणों की सामर्थ्य से ही ग्रीष्मदिवस शोभा की प्रतिनायिका रूप में प्रतीति होती है। पुनः दयिते, पद के प्रयोग से अनुपादेयत्व दोष है। मम्मट इसे अपुष्टार्थत्व नामक दोष सामान्य में ही अन्तर्भूत कर देते हैं।

**अप्रस्तुत प्रशंसा के दोषों का अन्तर्भाव::-** अप्रस्तुत प्रशंसालंकार में भी साधारण विशेषणों की सामर्थ्य से उपमेय की स्वतः प्रतीति हो जाती है। अतएव शब्द के द्वारा पुनः उसका प्रयोग उक्त अपुष्टार्थत्व नामक दोष का आह्वान करना है। इसको मम्मट ने "आहूतेषु विहंगमेषु" इत्यादि उदाहरण द्वारा पुष्ट किया है। सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि रुद्रट इत्यादि द्वारा

॥ श्री ॥

## -: काव्य प्रकाश की प्रमुख टीकाएँ :-

काव्य-प्रकाश की टीकाओं के विषय में इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि गीता के पश्चात् इसी ग्रन्थ पर सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गईं। स्वयं एक टीकाकार का कथन है कि काव्य प्रकाश की टीकाएँ घर घर में विद्यमान हैं। कमलाकर भट्ट के अनुसार "काव्य प्रकाशे टिप्पण्यः सहस्त्रं सन्ति यद्यपि।" इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि यदि इनकी संख्या सहस्र नहीं तो भी इतनी अधिक थी कि इसके लिए अत्युक्ति का प्रयोग किया जा सके। इनमें बहुप्रचलित कतिपय टीकाओं एवं टीकाकारों का सामान्य परिचय यहाँ द्रष्टव्य है।

### (१) माणिक्यचन्द्र:-

काव्य प्रकाश के प्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र माने जाते हैं। उनकी संकेत नाम की टीका सुप्रसिद्ध है। इस टीका में इनसे पूर्व किसी भी टीकाकार का नाम निर्देश नहीं प्राप्त होता। विद्वानों का ऐसा मत है कि यह गुजरात के एक जैन पंडित थे। संकेत का रचना काल विक्रम सं० १२१६ (११५९-६० ई०) माना जाता है, जिसे इस पद्य में प्रस्तुत किया गया है।

रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२१६) मासि माधवे।

काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः॥

काव्य प्रकाश संकेत के प्रत्येक उल्लास के प्रारम्भ में कुछ श्लोक दिये गये हैं। इनके आधार पर संकेतकार का व्यक्तित्व एवं उनकी विद्वता जानी जा सकती है। प्रथम उल्लास के प्रारम्भ के एक पद्य के अनुसार माणिक्यचन्द्र नितान्त निरभिमानी व्यक्ति थे। तदनुसार ज्ञान गरिमा के चतुष्पथ पर मौन स्थित ज्ञान का संचय करता हुआ एक विवेक शून्य व्यक्ति चारों ओर से कतिपय ज्ञान कणिकाओं को संचित कर सका। उन्हीं के द्वारा वह अलंकार शास्त्र, शिरोरत्न, काव्यप्रकाश पर चातुर्यपूर्ण संकेत नामक व्याख्यान प्रस्तुत करना चाहता है। उसका यह साहस करना ही आश्चर्य है।[1]

---

१- नानाग्रन्थचतुष्पथेषु निभृतीभूयोच्चयं कुर्वता, प्राप्तैर्यैःकणिकैः विबुधैरपि:प्रतिबिम्बात्मना॥ सद्वालंकृतिपालभूषणमणौ काव्यप्रकाशे मया। वैदग्ध्येन विधीयते कथमहो संकेतकृत्साहसम्॥

संकेत

संकेत की रचना न तो प्राचीन ग्रन्थकारों के यश को विख्यात करने के हेतु और न पाण्डित्य प्रदर्शन के हेतु की गई है, इसी प्रकार विशेषज्ञ विद्वानों की सत्प्रीति की सम्प्राप्ति के लिये भी यह संकेत नामक उपक्रम नहीं किया गया है। यह तो केवल स्वकीय अनुस्मृति के लिये, जड़ता के विनाश के लिये एवं चित्त के मनोविनोद के लिये है।[1] इसी क्रम से द्वितीय तथा तृतीयादि उल्लास के प्रारम्भ में एक-एक श्लोक उपनिबद्ध किये गये हैं। इन सभी श्लोकों का लक्ष्य तत्-तत् उल्लास के प्रतिपाद्यविषय का संक्षिप्त संकेत प्रस्तुत करना है। इन श्लोकों में कहीं 'संकेत' तथा कहीं 'माणिक्य' रूप पदों का प्राय: प्रयोग हुआ है।

उदाहरणार्थ- द्वितीय उल्लास के आरम्भ में यह पद्य है -

सशब्दार्थशरीरस्य को अलंकार व्यवस्थिति: ।
यावत्कल्याणमाणिक्यप्रबन्धो न निरीक्ष्यते।।

द्वितीय उल्लास शब्दार्थ के स्वरूप पर विचार करता है। अतएव उक्त पद्य में शब्दार्थ शरीर तथा दूसरे वाक्य में माणिक्य का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार तृतीय उल्लास के आरम्भ का यह पद्य है -

सम्यक्कुन्दविलासकौतुकिनां न स्याद्रुचिर्यद्यपि ।
परिस्फुतान संकेताधिकां मनिनितम्बिनी ।।

काव्य प्रकाश संकेत के दसवें उल्लास के अन्त में एक पद्य है, जिसके अनुसार माणिक्यचन्द्र एक अत्यन्त विनम्र एवं शालीन व्यक्तित्व वाले आचार्य थे। ग्रन्थ की परिसमाप्ति में वे पाठकों से ग्रन्थ में आये हुए दोषों के प्रति क्षमा प्रार्थी हैं। अदृष्ट दोष, स्मृति विभ्रम के कारण मैंने जो कुछ भी अर्थहीन

---

१- न प्राग्ग्रन्थकृतां यशोख्यातये नापिज्ञतास्थापये। स्फूर्जद्बुद्धिगुणा न वापि विदुषां सत्प्रीतिनिष्पत्तये। प्रक्रान्तो यदुपक्रम: ननु मया किंतस्यार्थक्रमं, स्वात्मानुस्मृतये जडोपकृतये चेतोविनोदाय च।

यहाँ लिख दिया है। उसका विद्वद्गणों को संशोधन कर लेना चाहिये, क्योंकि जो लिखते हैं वे प्रायः मोह को प्राप्त होते हैं। इसी के साथ वे समस्त संसार एवंप्राणि जगत् के प्रति अपनी शुभ कामना अभिव्यक्त करते हुये संकेत नामक टीका समाप्त करते हैं।[1]

सरस्वतीतीर्थः- काव्य प्रकाश पर बालचित्तानुरंजिनी नामक सुन्दर टीका लिखने वाले आचार्य सरस्वतीतीर्थ हैं। इस टीका में भी पूर्ववर्ती किसी भी टीकाकार का उल्लेख नहीं है। टीका के प्रारम्भ में कतिपय पद्यों के द्वारा उन्होंने अपना जो कुछ परिचय दिया है, वह यहाँ द्रष्टव्य है।

एक पद्य के अनुसार सरस्वतीतीर्थ आन्ध्रप्रदेश के रहने वाले थे। जिसके प्रति उनका अनन्यअनुराग था। अपने प्रदेश को वे पृथ्वी का स्वर्ग मानते हैं।[2] उस प्रदेश में सुप्रसिद्ध त्रिभुवनगिरि नामक नगर है, जिसकी महिमा का वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है -

कमलमिव सुकृतीनां लीलयाश्चर्यसद्म,
विगलितमिव भूमौ नाकलोकस्य खण्डम्।
नगरमतिगरिष्ठः सर्वसंसारसारः,
त्रिभुवनगिरिनाम्ना तत्र विख्यातमास्ते॥

बालबोधिनीकार के अनुसार ऐसा सुना जाता है कि कडपा जिला में कल्पीग्राम के पास यह नगर है।[3] यह एक बहुमुखीप्रतिभा से सम्पन्न आचार्य थे। दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यादि अनेकों क्षेत्रों में इनकी गति थी। इसका संकेत इस पद्य से प्राप्त होता है -

---

१- अदृष्ट दोषात् स्मृतिविभ्रमाच्च यदर्थहीनं लिखितं मयात्र।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं प्रायेण मुह्यन्ति हि ये लिखन्ति।

२- विधातुकामः सुकृतं गरीयः भूमातले स्वर्ग इवावतीर्णः।
आलम्बनम् सर्वविचक्षणानाम् जयत्यसावन्ध्रमहीप्रदेशः।
(बालचित्तानुरञ्जिनी)

३- त्रिभुवनगिरिनामकं नगरं कल्पीग्रामप्रान्ते(कडपाजिलान्तर्गते) अस्तीति श्रूयते।
(बाल बोधिनी पृष्ठ-२२)

तर्के कर्कशकिमिना अध्वना वेदान्तविचारणे,
मीमांसागुणमांसलेन परित: सांख्येऽप्यसंख्योक्तिना।
साहित्यामृतसागरेण फणिनो व्याख्यासु विख्यापना,
काश्यां तेन महाशील किमपि कुशाप्तं पंचिते ।।

काश्यां सरस्वतीतीर्थयतिना तेन रच्यते ।
टीका काव्यप्रकाशस्य बालचित्तानुरञ्जिनी ।।

सरस्वतीतीर्थ के समय का परिचय इस पद्य से प्राप्त होता है ।

'वसुग्रहहरनेन कुशाणां समलंकृते ।
काले नरहरेर्जन्म कस्य नासीन्मनोरमम् ।।'

स्पष्ट है कि वि०सं०१२९८ में सरस्वतीतीर्थ का जन्म हुआ । काव्य प्रकाश पर टीका लिखने का उनका आशय इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :-

साहित्यकुमुदकाननविद्राविद्राणयामिनीनाथा:।
काव्यप्रकाशटीकां व्यरीचस्ते सरस्वतीतीर्था: ।।
एवं सरस्वतीतीर्थयतिना तेन निर्मिता ।
टीका काव्य प्रकाशस्य मुदस्यादिदुषां चिरम् ।।

श्रीधर:- काव्य प्रकाश की विवेक नामक टीका के लेखक महासान्धिविग्रहिक श्रीधर हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि काव्य-प्रकाश पर यह तृतीय टीका है।[१] चण्डीदास, विश्वनाथ तथा विद्याचक्रवर्तिन् प्रभृति कतिपय व्याख्याकारों ने इनके मत का खण्डन अथवा मण्डन के हेतु अनेकों स्थलों पर ग्रहण किया है । ये टीकाकार इनके नाम से पूर्व सान्धिविग्रहिक विशेषण लगाते हैं । वस्तुत: प्रत्येक उल्लास की समाप्ति के समय- इति महासान्धिविग्रहिक श्री श्रीधरविरचिते काव्यप्रकाशविवेके---उल्लास:" इस प्रकार की लिखी हुई पंक्ति प्राप्त होती है । इससे वे स्वत: अपने को सान्धिविग्रहिक कहते हैं । किन्तु दशम् उल्लास के अन्त में- इतितकोचार्यश्री श्रीधरविरचिते------" इत्यादि रूप प्राप्त होता है ।" सान्धिविग्रहिक इन्हें क्यों कहा जाता है, इस सन्दर्भ में विद्वानों का मत है कि श्रीधर अपने आश्रयदाता राजा के यहां युद्ध एवं शान्ति के मुख्यमंत्री थे । अतएव उनके नाम के पूर्व उनका पद अथवा

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- शिव प्रसाद भट्टाचार्य (काव्य प्रकाश विवेक पृष्ट-४)

उपाधिरूप लिखा हुआ प्राप्त होता है ।

श्रीधर के समय और स्थान के विषय में भी मतभेद है । क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने विषय में कोई परिचयात्मक संकेत नहीं प्रस्तुत किया है । शिव प्रसाद भट्टाचार्य अनेकों तर्क से उनका स्थान मिथिला बताते हैं । उनके आश्रयदाता मिथिला के शासक नान्यदेव के पौत्र राजा नरसिंहदेव थे, जिनका समय ११८७-१२२५ई० है । अतएव १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध श्रीधर का समय माना गया है ।

जयन्तभट्ट:- जयन्तभट्ट विरचित टीका काव्यप्रकाशदीपिका नाम से प्रसिद्ध है । इसमें यत्र-तत्र केवल मुकुल भट्ट का नाम लिया गया है । पूर्ववर्ती किसी भी टीकाकार का कोई संकेत नहीं है । टीका के अवसान के साथ इन्होंने अपना परिचय दिया है । तदनुसार इनका समय सम्वत् १३५० है । ये सारंगदेव के राज्य में महामात्यपुरोहित श्रीमद्भारद्वाज के पुत्र थे । भारद्वाज के प्रति जो इन्होंने अभिव्यक्त किया है, वह इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है-

श्रीमद्भारद्वाजपदाम्बुजद्वयप्रसादतो ग्रन्थारम्भमेतत् ।
विज्ञाय किंचित् कृतवान् जयन्तस्तत्र प्रमाणं सुधियां वितर्कः ।।

सोमेश्वर:- सोमेश्वरकृत काव्यादर्श टीका है । इसमें भी पूर्ववर्ती किसी भी टीकाकार का उल्लेख नहीं है । किन्तु अलंकारशास्त्र के कुछ आचार्य जैसे भट्टनायक, भामह, रुद्रट, इत्यादि का नाम लिया गया है । अपने समय के विषय में कोई संकेत इन्होंने प्रस्तुत नहीं किया । केवल टीका की समाप्ति में इतना बताकर ही मौन हो जाते हैं कि वे भट्टदेवक के पुत्र थे ।

भारद्वाजकुलोत्तंसभट्टदेवकसूनुना ।
सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा ।।

सप्तमोल्लासान्तर्गत 'देशकालव्यवहारादिकम्' इस प्रतीक में सोमेश्वर ने कान्यकुब्ज का निर्देश किया है । पंक्तियां इस प्रकार हैं- देशकालव्यवहारादीनि देशादिभिः प्रत्येकं संबंध्यते तेन देशीयकालव्यवहाराकारवचनानामौचित्यानिबन्धः कार्य इत्यर्थः यथा कान्यकुब्ज देशे उक्तौविकोदारुणो व्यवहारो भयंकर आकारः

पदन्यासम् वचनमनुचितम् ... तदेवोचितम् ।'

इन पंक्तियों के आधार पर बालबोधिनीकार इन्हें कान्यकुब्ज देशवासी बताते हैं। तर्क यह है कि अधिकांश आचार्यों ने उदाहरणरूप में अपने ही नगर या स्थान का वर्णन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से सम्भव है कि सोमेश्वर का निवास स्थान कान्यकुब्ज रहा हो।

तर्क समीचीन तब होता जब कि उक्त पंक्तियां स्थान विशेष के प्रति प्रशंसापरक होतीं अथवा कम से कम निन्दापरक न होतीं। यह भी सम्भव है कि अध्ययनार्थ सोमेश्वर को कान्यकुब्ज कुछ दिन रह कर वहां के वातावरण का कटु अनुभव हुआ हो और वे उसे अवसर पाकर अभिव्यक्त करते हों। अस्तु जब तक कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिल जाता तबतक सोमेश्वर का स्थान सन्दिग्ध ही है।

विश्वनाथ:- विश्वनाथ कृत काव्य-प्रकाश दर्पण टीका है। इसमें पूर्ववर्ती चण्डीदास वाचस्पतिमिश्र, श्रीधर इत्यादि टीकाकारों का नाम लिया गया है। काव्यप्रकाश-दर्पणकार विश्वनाथ तथा साहित्यदर्पण कार विश्वनाथ दो भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। क्योंकि अपनी टीका के द्वितीय उल्लास में लक्षणानिरूपण के प्रसंग में- 'एवं च षोडशानां लक्षणाभेदानामिह [illegible]ान्युदाहरणानि मम साहित्यदर्पणेऽवगन्तव्यानि।' इस प्रकार लिखा है। ये चण्डीदास के सम्बन्धी थे तथा पं०राजजगन्नाथ की अपेक्षा प्राचीन हैं।

टीका के प्रारम्भ में इन्होंने कुछ पद्य प्रस्तुत किये हैं जिनके आधार पर मधुवाणी का अनन्य उपासक इन्हें कहा जा सकता है :-

> प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रपंचप्रसूतिं प्रभिद्यन्ति यां योगिवर्याः।
> गिरां देवतां दैवतं देवतानां प्रणौमि प्रख्यापयिष्यन्मत्प्रबन्धे ॥

काव्य-प्रकाश की सुस्पष्ट टीका लिखने का श्रेय विश्वनाथ को है जिसका संकेत इन पंक्तियों में है :-

> टीकाकाव्यप्रकाशस्य दुर्बोधानुप्रबोधिनी।
> क्रियते कविराजेन विश्वनाथेन धीमता।

इनका समय १३वीं, १४वीं शताब्दी माना गया है।

परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य:- इनकी टीका का नाम विस्तारिका है। इसमें सुबुद्धिमिश्र, जयन्तभट्ट, विश्वनाथादि पूर्ववर्ती टीकाकारों का नाम लिया गया है। यह बंगदेशीय थे। इनका नाम परमानन्द चक्रवर्ती था। नाम के पश्चात् भट्टाचार्य लिखने के कारण पर कुछ विद्वानों ने विचार किया है।[1] तदनुसार बंग जनपद में पण्डितों में जो भट्टाचार्य रूप में सुप्रसिद्ध हुए वे सब बंगदेशीय ही हैं। ऐसी किंवदन्ती है कि नाथाशान्ति नामक राजधानी में पण्डितसमाज में जिसने भलीभांति न्यायशास्त्र की शिक्षा ले ली हो और काव्यप्रकाश पर टीका लिखी हो, वह भट्टाचार्यपदाभिषिक्त होता है। यह चक्रवर्ती नैयायिक थे। क्योंकि इनकी शैली तथा व्याख्यान नैयायिकों की परम्परा से अनुप्राणित है। यह महानैयायिक गंगेशोपाध्याय के न्यायप्रकरण "चिन्तामणि" के प्रशंसक थे। इस प्रसंग में इनकी काव्यप्रकाश टीका के सप्तम उल्लास के प्रारम्भ में यह उक्ति द्रष्टव्य है :-

अन्यादीनामन्यकारीषु केचन न स्युर्विपश्चितः।
नाहं तु हरिस्मृतिकृतो कृतचिन्तामणिः सदा॥

इनका कार्य काल १४ वीं शताब्दी के लगभग माना गया है।

आनन्दकवि(सारसमुच्चय):- इनकी टीका सारसमुच्चय अथवा निदर्शन नाम से प्रसिद्ध है। दशम उल्लास के मालाव्यतिरेक के प्रसंग में इन्होंने काव्य-प्रकाश के विस्तारिकाकार (विस्तारिकाकृताविवृतम्) का केवल संकेत किया है। अतएव इनके पश्चाद्वर्ती होने के कारण इनका समय १५ वीं शताब्दी माना जाता है। इनके ग्रन्थ के स्वारस्य से वामनाचार्य झलकीकर इन्हें काश्मीरदेशवासी शैव रूप में सम्भावना करते हैं। क्योंकि ग्रन्थ के आरम्भ में इन्होंने इस प्रकार प्रतिज्ञा की है :-

प्रणम्य शारदां काव्यप्रकाशे बोधसिद्धये।
पदार्थविवृतिद्वारा स्वशिष्येभ्यः प्रदर्श्यते॥

कुछ पंक्तियों में काश्मीरी शैव दर्शन की झलक भी मिलती है-

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1- बालबोधिनी पृ-२७(प्रस्तावना)

'---------- इति शिवागम प्रसिद्ध्या षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षा-ज्ञापितमण्डल: प्रकटितसत्त्ववशिकवदानन्दघन: ----- दर्शयितुमारम्भे इति। इत्यादि शिव का 36 तत्त्व रूप पदार्थों का वर्णन कर काव्य प्रकाश का व्याख्यान किया है। इनका कार्यकाल 15वीं शताब्दी के निकट माना गया है।

श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य:- इनकी सारबोधिनी टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। पंडित राज जगन्नाथ ने भी इनके मत को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। काव्यकौस्तुभकार ने अनेकों स्थलों पर इनकी टीका उद्धृत की है। यह एक अत्यन्त मौलिक चिंतक व्याख्याकार थे। परवर्ती टीकाकारों को इनसे अधिक प्रकाश प्राप्त हुआ है।

इन्होंने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों में केवल सुबुद्धिमिश्र, विद्यासागर, भास्कर, जयराम तथा विश्वनाथ इन पांच टीकाकारों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त 'इतिकेचित्' 'इत्यन्ये' इत्यादि रूप में अन्य मत की ओर भी संकेत किया है। यह भी नैयायिक थे। इनका कार्यकाल 15वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।

गोविन्द ठक्कुर:- इनकी 'काव्य प्रदीप' नाम की टीका अत्यंत प्रचलित है। यह मिथिला के निवासी थे काव्यप्रकाश का अध्ययन प्रदीप के प्रकाश में सुबोध हो जाता है। टीका की समाप्ति में आये हुए एक श्लोक के अनुसार सज्जनवृन्द धैर्यपूर्वक इस अद्भुत प्रदीप का परिशीलन करेंगे। यह प्रदीप काव्यप्रकाश को भी प्रकाशित करता है।[1] काव्य प्रकाश की ग्रन्थियों को जितना अधिक प्रदीप स्पष्ट कर सका है उतना अन्य कोई टीकाकार नहीं। इसी पर वैद्यनाथ ने 'प्रभा' नामक टीका तथा नागोजी भट्ट ने उद्योत टीका लिखी है। इनका आगे विवेचन किया जायेगा।

---

1- परिशीलयन्तु सन्तो मनसा सन्तोषशालिन। इममद्भुतं प्रदीपं प्रकाशमपि य: प्रकाशयति।। (प्रदीप पृ-601)

वामनाचार्य झलकीकर ने गोविन्द ठक्कुर के वंश परम्परा एवं कुटुम्ब का एक खाका प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने विवेचन को काव्यमाला का सुधाप्रकाश से ग्रहण किया है। किन्तु जितना गोविन्द ठक्कुर के विषय में मुख्य रूप से ज्ञात है, उसके अनुसार इनके पिता केशव ठक्कुर पितामह बुद्धि का ठक्कुर तथा प्रपितामह रविकर ठक्कुर थे। इनके सौतेले बड़ेभाई रुचिकर कवि तथा छोटे सगे भाई श्री हर्षनामक कवि थे। इन दोनों पर गोविन्द ठक्कुर को गर्व था। श्रीहर्ष के विषय में इनकी पंक्तियां द्रष्टव्य है :-

ज्येष्ठे सर्वगुणैः कनीयसि वयोमात्रेण पात्रीकृतां,
गात्रेण स्मरगर्वखर्वणपरे निष्कामप्रतिष्ठाश्रये।
दत्ताशुद्धमतौ महत्सुविधिना माराक्ष्यमारोपितः॥
( प्रदीप पृ-६१)

इसी प्रकार इन्होंने अन्य कई स्थलों पर इनका नाम लिया है। इनकी माता का नाम सोना देवी था। टीका के आरम्भ में इन्होंने परिचय इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है :-

सोनादेव्याः प्रथमतनयः केशवस्यात्मजन्मा,
श्री गोविन्दो रुचिकर कवेः स्नेहपात्रं कनीयान्॥
श्री मन्नारायण चरणयोः सम्यगाधाय चित्तं,
नत्वा सारस्वतमपि महः काव्यतत्त्वं व्यनक्ति॥

इन्होंने उदाहरणदीपिका नामक एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उद्धृत श्लोकों का समुचित व्याख्यान है। इसका परिचय इन पंक्तियों से प्राप्त होता है -

दीपिकाद्वितयं कृत्वा प्रदीपाख्यं कृती।
स्वयती सम्यगुत्थाय गोविन्दः शर्म विन्दति॥
इनका कार्यकाल १६वीं-१७वीं शताब्दी माना जाता है।

महेश्वर भट्टाचार्य:-(आदर्श)- ये भी बंग देशीय न्याय के पंडित थे। व्याकरण का सम्भवत: इन्हें अत्यल्प ज्ञान था, क्योंकि, "इवेन नित्यसमास:" इस कात्यायनकृत वार्तिक को "इदं पाणिनिसूत्रम्" इस रूप में कहा है। अपनी टीका की समाप्ति में इन्होंने ऐसा कोई संकेत नहीं प्रस्तुत किया, जिससे कि इनका सम्यक् परिचय प्राप्त हो सके। तथापि यहां पर आये हुए एक श्लोक के अनुसार काव्यप्रकाश को टीकायें घर घर में फैली थीं।

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गम: ।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीर: स एतां निपुणं विलोकताम्।।

आदर्श नामक टीका का रचनाकाल विद्वानों ने लगभग १७ वीं शताब्दी में निर्धारित किया है।

कमलाकर भट्ट:- इनकी काव्यप्रकाश टीका में चण्डीदास, मधुमतीकार, सरस्वतीतीर्थ, सोमेश्वर, परमानन्द चक्रवर्ती, श्रीवत्सलाञ्छन, प्रदीपकार इत्यादि अनेकों प्रसिद्ध टीकाकारों का नाम लिया गया है। इनके अतिरिक्त भोज, अप्पय दीक्षित इत्यादि कुछ मूल लेखकों का भी नाम आया है। इनके रचनाकाल के प्रसंग में इन्हीं का एक श्लोक प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है -

वसुऋतुऋतुभूमिते(१६६८)गतवर्षे नरपतिविक्रमतोऽथ याति रौद्रे ।
तपसि शितितिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहार्पितश्च।।

कमलाकर भट्ट वाराणसी के निवासी थे। यह एक महाराष्ट्रीय महामीमांसक ब्राह्मण थे। काव्यप्रकाश की टीका की समाप्ति के समय में उन्होंने अपना परिचय इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है -

गुणिनोऽनन्यकृत्य विनोदाय सतां मुदे ।
कमलाकर संज्ञेन मम एवा विनिर्मितः ।

श्री मन्नारायणाख्यात् समजनि विबुधो रामकृष्णाभिधान-
स्तत्सूनुः सर्वविद्याम्बुधिनिजचुलुकीकारतः कुम्भजन्मा ।
टीकाकाव्यप्रकाशे कमलपद परस्त्वाकरोऽरीरचय:
श्रीपित्रो:पादपद्मे रघुपतिपदयो: सर्वं मर्म पायर्यच्च ।

नरसिंह ठक्कुर:- इनकी टीका का नाम नरसिंह मनीषा है । समीक्षकों
का ऐसा मत है कि सम्भवत: गोविन्द ठक्कुर की ही वंश परम्परा में अंकित
हैं । पश्चाद्वर्ती टीकाकारों ने इनका नाम लेते हुये इन्हें प्रौढ़ नैयायिक
बताया है । अपने पाण्डित्य पर इन्हें भी महान् गर्व था । क्योंकि स्वत:
इन्होंने सप्तम उल्लास के आरम्भ में लिखा है -

दोषप्रदानपटवो बहवोऽपि सुर्ता,
मूका भवन्ति कठिने सरले प्रगल्भा: ।
मातर्भवानि करवाणि ततोऽत्र काकुं,
मा कुण्ठितोऽस्तु मयि ते करुणाकटाक्ष: ।।

बालबोधिनीकार ने स्पष्ट किया है कि नरसिंह मनीषा टीका
केवल सप्तमोल्लास पर्यन्त प्राप्त होती है ।

वैद्यनाथ:- इनकी टीका का नाम उदाहरण चन्द्रिका है । इसमें गोविन्द
ठक्कुर की उदाहरण दीपिका को अनेक स्थलों पर खण्डन अथवा मण्डन के
हेतु उद्धृत किया गया है । इन्होंने काव्यप्रदीप पर प्रभा नामक टीका भी
लिखा है । प्रभा और उदाहरण चन्द्रिका के अतिरिक्त इन्होंने कुवलयानन्द
पर चन्द्रिका नामक टीका भी लिखी है । यह भी नैयायिक आचार्य थे ।
क्योंकि व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां यत्र-तत्र इनके व्याख्यान में प्राप्त होती
है । अपने रचनाकाल के विषय में इन्होंने इन पंक्तियों में लिखा है ?-

वियेदवसुनिदमाभिर्मित (१७४०) अब्दे कार्तिक सिते ।
कुचाष्टम्याम् इमं ग्रन्थ वैद्यनाथोऽभ्यपूरयत् ।।

भीमसेन दीक्षित:- इनकी टीका सुधासागर नाम से प्रसिद्ध है । यह टीका
प्रत्येक विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करती है । प्रदीप, उद्योतप्रभृति
अनेक आचार्यों का मत अविकल ग्रहण करने में ये सकोच नहीं करते । साथ ही खण्डन
मण्डन के हेतु भी ये अनेक मतों को उद्धृत करते हैं । इन्होंने अपनी टीका के
प्रारम्भ तथा अन्त में ऐसे अनेक पद्य प्रस्तुत किया है, जिसके आधार पर इनके वंश
कालादि का सत्यज्ञान हो जाता है । तदनुसार- शाण्डिल्यवंश में लब्धप्रतिष्ठ
कान्यकुब्जाग्रगण्य गंगादास दीक्षित हुये । उनके भाग्यशाली विद्वान् वीरेश्वर

नामक पुत्र हुये। बीरेश्वर से मुरलीधर हुये। मुरलीधर के दो पुत्रों त्रिलोचन शिवानन्द में से शिवानन्द से भीमसेनदीक्षित का जन्म हुआ।[1] सुधासागर टीका का उद्देश्य स्पष्ट करते हुये इनका कथन यहां दृष्टव्य है -

'शक्य: पण्डितमानिनां नविजय: साहात्म्यकर्थीविलुरा
वार्थिणापि पुन: सतामनुकित: प्रीढ़ा व वाग्देवता।
इत्यालोच्य विवादबुद्धिविधुरो गर्विष्ठताव पिहान्न्य
ग्रन्थविलसमन्त्संभवपदं कुर्वे सुधासागरम्।

अपनी टीका की समाप्ति के निम्नलिखित पद्य में इनके समय का स्पष्ट ज्ञान भी जाता है -

संवद्गृहाश्वमुनिभूजाने(१७७६) मासि मधौसुधि।
त्रयोदश्यां सोमवारे समाप्तोऽयं सुधोदधि:।।

<u>नागोजी भट्ट:-</u> इनकी काव्य-प्रदीप पर लिखी हुई उद्योत नाम की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। नागोजी भट्ट एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे। इन्हीं को नागेश भट्ट भी कहा जाता है। अपनी टीका के विषय में उनकी उक्ति इस प्रकार है -

नागेशभट्ट कुरुते प्रणम्य शिवया शिवम्।
काव्यप्रदीपकोद्योतमतिगूढार्थसंविदे।।

नागेश शृंगवेरपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी था। सिंहवेरपुराधीश राम सिंह की प्रेरणा से इन्होंने काव्य प्रदीप पर अपनी उद्योत टीका लिखी है। टीका के प्रारम्भ में ही इन्होंने इसका संकेत किया।[2]

---

१- तस्मात् श्री मुरलीधरो ऽभि कवितापाण्डित्यपुरायावधि: जात तस्य सुतौ त्रिलोचनशिवानन्दो गुणस्तत्समौ। तैः वा पथि वैष्णवे समरस: श्रीमच्छिवान-न्दत:, सञ्जात: किल भीमसेन इति सद्धिया विनोदी कवि:।।
(सुधासागरम्-१)

२- याचकानाम् कल्पतरोररिकक्ष हुताशनात्। शृंगवेरपुराधीशाद्रामतो लब्धजीविक:।।
उद्योत्

पण्डितमूर्धन्य नागेश ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है । लघुमंजूषा, परमलघुमंजूषा, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर इत्यादि इन्हीं की कृतियां हैं ।

महेश चन्द्र:- इनकी टीका तात्पर्य विवरण नाम से, प्रसिद्ध है । इनका समय १८८२ है । इस टीका में निदर्शनकार, जयराम, चन्द्रिकाकार, उद्योतकार इत्यादि का नाम लिया गया है । सरल एवं संक्षिप्त व्याख्यान की दृष्टि से यह टीका भी प्रशंसनीय है ।

वामनाचार्यझलकीकर:- इनकी काव्य प्रकाश की टीका बालबोधिनी नाम से प्रसिद्ध है । विद्यार्थियों की दृष्टि से यह टीका अत्यधिक उपादेय है । क्योंकि इसमें पूर्ववर्ती अनेकों प्रसिद्ध टीकाकारों के मत को उद्धृत किया गया है । इन्होंने स्वत: कह दिया है कि इनकी टीका में १९ टीकाओं का सार प्रस्तुत किया गया है ।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त बालबोधिनीकार इत्यादि टीकाकारों ने कुछ और टीकाओं का नाम लिया है जो निम्नलिखित है -

(१) विद्याचक्रवर्तीकृत सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका (२) भट्टगोपाल कृत साहित्यचूडामणि टीका (३) देवनाथ कृत टीका (४) भास्करकृत साहित्यदीपिका टीका (५) सुबुद्धिमिश्रकृत टीका (६) पद्मनाभकृत टीका (७) अच्युतकृत टीका (८) रत्नपाणिकृत काव्यदर्पणटीका (९) रवि पण्डित कृत मधुमती (१०) तत्वबोधिनी टीका (११) कौमुदी टीका (१२) आलोक टीका (१३) जयरामकृत प्रकाशतिलक टीका (१४) यशोधरकृत टीका (१५) पक्षधर कृत टीका (१६) रामनाथ कृत रहस्य प्रकाश टीका (१७) जगदीशकृत रहस्य प्रकाश टीका (१८) गदाधर कृत टीका (१९) राघवरचित अवचूरि टीका । इत्यादि ।

-- इति --

## -:: प्रबन्धोपयुक्त ग्रन्थावली ::-

१- काव्य-प्रकाश की टीकायें :-

(क) संकेत ।

(ख) बालचित्तानुरञ्जनी ।

(ग) विवेक ।

(घ) सम्प्रदाय प्रकाशिनी ।

(ङ) साहित्य चूडामणि ।

(च) प्रदीप ।

(छ) उद्योत ।

(झ) प्रभा ।

(ट) आदर्श ।

(ठ) सुधासागर ।

(ड) तात्पर्यविवरण ।

(ढ) दीपिका ।

(ण) बाल-बोधिनी इत्यादि ।

२- भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र ।

३- भामहकृत काव्यालंकार ।

४- दण्डीकृत काव्यादर्श ।

५- उद्भटकृत अलंकार सार संग्रह ।

६- वामन कृत काव्यालंकार सूत्र ।

७- रुद्रटकृत काव्यालंकार ।

८- ध्वन्यालोक ।

९- राजशेखर कृत काव्य मीमांसा ।

१०- मुकुलभट्ट कृत अभिधावृत्तिमातृका ।

११- कुन्तक कृत वक्रोक्तिजीवित ।

१२- अभिनवगुप्त का ध्वन्यालोकलोचन ।

१३- महिमभट्ट कृत व्यक्तिविवेक ।

१४- भोज रचित सरस्वती कण्ठाभरण ।

१५- रुय्यक प्रणीत अलंकार सर्वस्व ।

१६- हेमचन्द्र रचित काव्यानुशासन ।

१७- जयदेव कृत चन्द्रालोक ।

१८- विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण ।

१९- अप्पयदीक्षित कृत वृत्तिवार्तिक चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द ।

२०- पं० राज जगन्नाथ कृत रसगंगाधर । इत्यादि ।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र पर लिखने वाले आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों से भी यथावसर परामर्श ग्रहण किया गया है ।

-:: इति -::